

सांख्याभिमत सृष्टि-प्रक्रिया : एक समीक्षात्मक अध्ययन

भारतीय दर्शन में पी-एच.डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

2022

शोधार्थी

मोहन सिंह भदौरिया

पंजीयन क्रमांक – EN17-00011

शोध-निर्देशक

डॉ. नवीन दीक्षित

विभागाध्यक्ष एवं सहायक प्राध्यापक



भारतीय दर्शन विभाग

सनातन धर्म एवं भारतीय ज्ञान अध्ययनशाला

साँची बौद्ध-भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय

साँची, रायसेन (म.प्र.) – 464551

शोधार्थी का घोषणा-पत्र

मैं, एतद् द्वारा घोषणा करता हूँ कि प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध जिसका शीर्षक 'सांख्याभिमत सृष्टि-प्रक्रिया : एक समीक्षात्मक अध्ययन' है; मेरा व्यक्तिगत शोध-कार्य है, जो कि मैंने डॉ. नवीन दीक्षित, सहायक प्राध्यापक, भारतीय दर्शन विभाग, सनातन धर्म एवं भारतीय ज्ञान अध्ययनशाला, साँची बौद्ध-भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय, साँची, रायसेन (म.प्र.) के निर्देशन में शोधरत रहते हुए सम्पन्न किया है।

मैं यह भी घोषणा करता हूँ कि मेरी जानकारी के अनुसार इस शोध-प्रबन्ध में इस विश्वविद्यालय या किसी अन्य विश्वविद्यालय के समक्ष किसी भी उपाधि हेतु प्रस्तुत किसी शोध-कार्य का कोई भी भाग प्रयुक्त नहीं किया गया है।

साथ ही मैं यह भी घोषणा करता हूँ कि —

1. मैंने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम 2018 के मापदण्डों के अनुसार एक सत्र का कोर्स वर्क सफलता पूर्वक पूर्ण कर लिया है।
2. मैंने शोध-प्रबन्ध अन्तिम रूप से जमा करने के पूर्व विभागीय शोध-समिति के समक्ष पूर्व-प्रस्तुति भी दी है और दिये गये निर्देशों/सुझावों के आधार पर संशोधनों को सफलता पूर्वक शामिल किया है।
3. मैंने शोध-प्रबन्ध से सम्बन्धित दो शोध-पत्र ISSN/रेफर्ड जर्नल में प्रकाशित कराये हैं, जिनकी छायाप्रति शोध-प्रबन्ध के अन्त में संलग्न हैं। मैंने शोध-विषय से सम्बन्धित राष्ट्रीय संगोष्ठी में शोध-पत्र भी प्रस्तुत किया है।
4. मेरे द्वारा प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में कोई भी सामग्री, किसी अन्य शोध या किसी प्रकाशित सामग्री का हिस्सा नहीं है। यदि साहित्यिक चोरी के अन्तर्गत कोई भी सामग्री पायी जाती है, तो उसके लिए मैं स्वयं उत्तरदायी रहूँगा।

दिनांक —

शोधार्थी

स्थान — साँ.बौ.भा.ज्ञा.अ.वि.वि., साँची, रायसेन

मोहन सिंह भदौरिया

शोध-निर्देशक का प्रमाण-पत्र

यह प्रमाणित किया जाता है कि शोध-प्रबन्ध, जिसका शीर्षक 'सांख्याभिमत सृष्टि-प्रक्रिया : एक समीक्षात्मक अध्ययन' है; श्री मोहन सिंह भदौरिया द्वारा किया गया शोध-कार्य है, जिसे सनातन धर्म एवं भारतीय ज्ञान अध्ययनशाला के अन्तर्गत भारतीय दर्शन विभाग, साँची बौद्ध-भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय, साँची, रायसेन (म. प्र.) में पी-एच.डी. उपाधि हेतु मेरे निर्देशन में पूर्ण किया गया है।

मेरे पूर्ण ज्ञान और विश्वास में यह शोध-प्रबन्ध —

1. शोधार्थी का व्यक्तिगत शोध-कार्य है।
2. यह शोध-कार्य विधिवत् पूर्ण है।
3. यह शोध-कार्य विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के मापदण्डों/निर्देशों को पूरा करता है।
4. यह शोध-प्रबन्ध विश्वविद्यालय की पी-एच.डी. उपाधि की नियमावली की आवश्यकताओं को पूर्ण करता है।

दिनांक —

शोधार्थी

स्थान — साँ.बौ.भा.ज्ञा.अ.वि.वि., साँची, रायसेन

मोहन सिंह भदौरिया

अग्रसरित

विभागाध्यक्ष

भारतीय दर्शन विभाग

साँची बौद्ध-भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय

सर्वाधिकार

मैं, मोहन सिंह भदौरिया, एतद् द्वारा घोषणा करता हूँ कि साँची बौद्ध-भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय, साँची, रायसेन, (म.प्र.) द्वारा इस शोध-प्रबन्ध 'सांख्याभिमत सृष्टि-प्रक्रिया : एक समीक्षात्मक अध्ययन' को शैक्षणिक/अनुसंधान कार्य के लिए संरक्षण एवं प्रसारण हेतु इलेक्ट्रानिक या प्रिंट प्रारूप में उपयोग करने का अधिकार होगा।

नोट – शोधार्थी अथवा अन्य द्वारा शोध-प्रबन्ध के आँकड़ों/निष्कर्षों का प्रयोग व्यक्तिगत रूप से किया जा सकेगा; बशर्ते कि यथा स्थान विश्वविद्यालय के सर्वाधिकार का उल्लेख किया जाये।

दिनांक –

शोधार्थी

स्थान – साँ.बौ.भा.ज्ञा.अ.वि.वि., साँची, रायसेन

मोहन सिंह भदौरिया

साहित्यिक प्रतिबद्धता/नकल का प्रमाण-पत्र

यह प्रमाणित किया जाता है कि प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध 'सांख्याभिमत सृष्टि-प्रक्रिया : एक समीक्षात्मक अध्ययन' की साहित्यिक प्रतिबद्धता की जाँच निम्नलिखित उपकरण द्वारा की गई है। मैं यह घोषणा करता हूँ कि –

1. शोध-प्रबन्ध ज्ञान के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण कार्य है। यह शोध-प्रबन्ध इस विषय में अब तक किए गए प्रकाशित कार्य/प्रकाशित होने वाले कार्यों से भिन्न है। किसी भी प्रकार का वाक्य, चित्र, आरेख, अनुच्छेद कहीं से भी नकल नहीं है तथा जहाँ भी किसी पूर्व के कार्यों का उल्लेख शोध-प्रबन्ध में किया गया है, उसे उद्धरण चिह्न के अन्तर्गत रखा गया है।
2. यह शोधार्थी का मौलिक कार्य है। (किसी भी कार्य की नकल नहीं है) शोधार्थी द्वारा किसी अन्य के कार्यों, संकल्पना, प्रक्रिया, परिणाम को अपने शोध-कार्य होने का दावा नहीं किया गया है।
3. शोध-कार्य के परिणाम एवं विश्लेषण में किसी भी प्रकार की मिथ्या का सहारा नहीं लिया गया है।
4. शोध-कार्य में किसी भी अनुसंधान सामग्री, उपकरण या प्रक्रियाओं या परिणामों की अदला-बदली के माध्यम से गलत परिणाम आते हैं, शोध-कार्य में ऐसा कोई भी प्रयास नहीं है।
5. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (उच्चतर शिक्षा संस्थानों में अकादमिक सत्यनिष्ठा एवं साहित्यिक चोरी की रोकथाम को प्रोत्साहन) विनियम, 2018 के दिशा-निर्देश के अनुसार शोध-प्रबन्ध की जाँच **URKUND** के द्वारा की गई है।

दिनांक –

शोधार्थी

स्थान – साँ.बौ.भा.ज्ञा.अ.वि.वि., साँची, रायसेन

मोहन सिंह भदौरिया

Document Information

Analyzed document	Ph.D. Thesis (Mohan).docx (D142431591)
Submitted	2022-07-26 13:41:00
Submitted by	Prabhakar Pandey
Submitter email	coordinator.inflibnet@subis.edu.in
Similarity	2%
Analysis address	coordinator.inflibnet.subis@analysis.arkund.com

Sources included in the report

SA	University of Lucknow, Lucknow, UP / SHASHI.pdf Document SHASHI.pdf (D109883836) Submitted by: jyotimisra@yahoo.com Receiver: jyotimisra.uniluck@analysis.arkund.com	 6
SA	Sanchi University Of Buddhist-Indic Studies / Ph.D. thesis Vinay Kumar Tiwari.docx Document Ph.D. thesis Vinay Kumar Tiwari.docx (D121705834) Submitted by: coordinator.inflibnet@subis.edu.in Receiver: coordinator.inflibnet.subis@analysis.arkund.com	 2
SA	Kurukshetra University / Malinivijayottaratantra Men Srsti Prakriya by Sundra Devi.pdf Document Malinivijayottaratantra Men Srsti Prakriya by Sundra Devi.pdf (D141057994) Submitted by: chetansharma@kuk.ac.in Receiver: chetansharma.kuk@analysis.arkund.com	 10
SA	University of Lucknow, Lucknow, UP / Ramnaresh.docx Document Ramnaresh.docx (D123770223) Submitted by: jyotimisra@yahoo.com Receiver: jyotimisra.uniluck@analysis.arkund.com	 3
SA	University of Allahabad / Thesis-Rekha Devi Ojha-.doc Document Thesis-Rekha Devi Ojha-.doc (D136173230) Submitted by: bksingh5@gmail.com Receiver: bksingh5.alld@analysis.arkund.com	 1
SA	Jagan Nath University / RAJNI FIRST CHAPTER.pdf Document RAJNI FIRST CHAPTER.pdf (D140990270) Submitted by: vivek.sharma@jagannathuniversity.org Receiver: vivek.sharma.akshay@analysis.arkund.com	 2

SA	University of Delhi, New Delhi / ALL IN ONE THESIS FINAL (1).pdf Document ALL IN ONE THESIS FINAL (1).pdf (D108938587) Submitted by: saburisahni@yahoo.co.in Receiver: saburisahni.du@analysis.arkund.com	 17
SA	Himalayan Garhwal University / final thesis of PARVINDER updated (1).docx Document final thesis of PARVINDER updated (1).docx (D111274977) Submitted by: drharshkumar2@gmail.com Receiver: drharshkumar2.hgu@analysis.arkund.com	 4
SA	Himalayan Garhwal University / K R R PARASHAR भारतीय वा . मये में प्राण ✨ ✨र उसका वैज्ञानिक विवेचन HIMALAYAN GHARWAL U NIVERSITY.pdf Document K R R PARASHAR भारतीय वा . मये में प्राण ✨ ✨र उसका वैज्ञानिक विवेचन HIMALAYAN GHARWAL U NIVERSITY.pdf (D116252897) Submitted by: drharshkumar2@gmail.com Receiver: drharshkumar2.hgu@analysis.arkund.com	 26
SA	OPJS University, Churu / Pavitra_Devi_final_thesis.docx Document Pavitra_Devi_final_thesis.docx (D126963203) Submitted by: hodartopjsuniversity@gmail.com Receiver: hodartopjsuniversity.opjs@analysis.arkund.com	 1
SA	University of Lucknow, Lucknow, UP / FARHA KHAN.pdf Document FARHA KHAN.pdf (D123770942) Submitted by: jyotimisra@yahoo.com Receiver: jyotimisra.uniluck@analysis.arkund.com	 3

प्राक्कथन

सांख्य दर्शन प्राचीन भारतीय दर्शन परम्परा के 'आस्तिक' दर्शनों में से एक है। यह सभी दर्शनों में अत्यधिक प्राचीन माना जाता है। इसके प्रणेता 'महर्षि कपिल' हैं। इसमें पच्चीस तत्त्वों का वर्णन किया गया है। जिनमें 'पुरुष' तथा 'प्रकृति' दो मूल तत्त्व हैं एवं इनके संयोग द्वारा मूल प्रकृति से अन्य तेईस तत्त्व जैसे – महत् (बुद्धि), अहंकार, एकादश इन्द्रियाँ (पंचज्ञानेन्द्रियाँ – श्रोत, त्वक्, चक्षु, रसन्, घ्राण, तथा पंचकर्मेन्द्रियाँ – वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ एवं एक उभयेन्द्रिय – मन), पंचतन्मात्रायें (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध) तथा पंचमहाभूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी) आविर्भूत होते हैं। इसे 'सृष्टि-प्रक्रिया' या 'सृष्टि-क्रम' कहा जाता है। इनमें से 'मूल प्रकृति' अविकृति है, महदादि सात तत्त्व (महत्, अहंकार तथा पंचतन्मात्रायें) प्रकृति और विकृति दोनों ही हैं, सोलह तत्त्व (एकादश इन्द्रियाँ तथा पंचमहाभूत) केवल विकृति हैं एवं 'पुरुष' न प्रकृति है और न विकृति।

उपर्युक्त पच्चीस तत्त्वों में से तेईस को 'व्यक्त', मूल प्रकृति या प्रधान को 'अव्यक्त' तथा पुरुष को 'ज्ञ' की संज्ञा दी गई है। सांख्य दर्शन का मुख्य उद्देश्य 'त्रिविध-दुःख' से छूट कर 'कैवल्य' प्राप्त करना है। आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक या दैहिक, ये तीन प्रकार के दुःख हैं और इन्हीं से मुक्त होना कैवल्य कहलाता है। उपर्युक्त 'व्यक्त', 'अव्यक्त' और 'ज्ञ' का विज्ञान अर्थात् इनका ज्ञान प्राप्त कर लेना ही कैवल्य प्राप्ति का 'एक-मात्र' उपाय बताया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का शीर्षक 'सांख्याभिमत सृष्टि-प्रक्रिया : एक समीक्षात्मक अध्ययन' है। इस शोध-कार्य का प्रमुख उद्देश्य, सांख्य दर्शन की सृष्टि-प्रक्रिया को प्राचीन भारतीय साहित्य एवं सांख्येतर भारतीय दर्शनों के आधार पर समीक्षात्मक रूप से प्रस्तुत करना है। शोध-प्रबन्ध प्रस्तावना एवं उपसंहार के अतिरिक्त छः पृथक्-पृथक् अध्यायों में विभक्त है।

सांख्य दर्शन की सृष्टि-प्रक्रिया, परिणामवाद या विकासवाद को स्वीकार करती है, जिसके अनुसार अव्यक्त मूल प्रकृति से पंचमहाभूत पर्यन्त भौतिक विकास; प्रकृति का त्रिगुणात्मक विकास है। यह विकास सूक्ष्म से स्थूल एवं स्थूलतम तक होता है। विकास के विपरीत संकुचन है, जो इसकी विपरीत दिशा में होता है। इस प्रकार सांख्य दर्शन की यह

सृष्टि—प्रक्रिया विकास की एक चक्रीय प्रक्रिया है, जिसमें क्रम से सृष्टि एवं प्रलय चक्रीय रूप से घटित होते हैं। सांख्य दर्शन के इस विकासवाद के विपरीत न्याय—वैशेषिक दर्शन की आरम्भवादी सृष्टि—प्रक्रिया है, जो नवीन सृष्टि की उत्पत्ति के सिद्धान्त को स्वीकार करती है तथा अद्वैत—वेदान्त की सृष्टि—प्रक्रिया अभासवादी है, जो अविद्या के कारण जगत् को आभास मात्र मानती है। प्रस्तुत शोध—कार्य में मुख्य रूप से इन्हीं तीन सृष्टिशास्त्रीय सिद्धान्तों पर यथा स्थान विमर्श किया गया है। सृष्टिशास्त्रीय विमर्श के इस क्रम में सृष्टि से सम्बद्ध सभी तत्त्वों एवं तथ्यों पर भी विमर्श गया है, जैसे — सांख्य दर्शन के ऐतिहासिक तथ्य, प्राचीन एवं अर्वाचीन आचार्य, प्राचीन एवं अर्वाचीन साहित्य, कार्य—कारणवाद, प्रकृति, पुरुष, सृष्टि—प्रक्रिया एवं क्रम—विकास तथा बन्धन एवं कैवल्य।

प्रस्तुत शोध—प्रबन्ध में सांख्य दर्शन से सम्बद्ध सभी तत्त्वों एवं सिद्धान्तों तथा सृष्टि—प्रक्रिया का अन्य भारतीय साहित्य के आधार पर समीक्षात्मक विमर्श प्रस्तुत किया गया है। आशा है कि भविष्य में इस विषय पर शोध करने वाले अध्येता एवं जन सामान्य इस शोध—कार्य से लाभान्वित होंगे।

शोधार्थी

मोहन सिंह भदौरिया

आभार

सर्वप्रथम मैं, परमपिता परमेश्वर एवं परमाराध्य सद्गुरु देव की व्यक्ताव्यक्त उपस्थिति को बारम्बार प्रणाम करता हूँ, जिनकी आन्तरिक प्रेरणा से प्रेरित होकर ही मैं इस शोध-कार्य में संलग्न हो सका । तत्पश्चात् साँची विश्वविद्यालय परिवार के सभी सदस्यों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ, जिनके आशीर्वाद, प्रेरणा, प्रोत्साहन एवं स्नेह से मेरा यह शोध-कार्य सम्पन्न हो सका । आभार के इस क्रम में सर्वप्रथम मैं, माननीया कुलपति महोदया प्रो. डॉ. नीरजा अरुण गुप्ता एवं आदरणीय कुलसचिव महोदय प्रो. डॉ. अल्केश चतुर्वेदी के प्रति विशेष रूप से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिनकी स्नेहिल क्षत्र-छाया में यह शोध-कार्य पूर्णता को प्राप्त हुआ है ।

यह मेरा परम सौभाग्य है कि मुझे यह शोध-कार्य डॉ. नवीन दीक्षित, अध्यक्ष एवं सहायक प्राध्यापक, भारतीय दर्शन विभाग के कुशल निर्देशन में सम्पन्न करने का अवसर प्राप्त हुआ । आपने अपना अमूल्य समय एवं उचित निर्देशन प्रदान कर, इस शोध-कार्य को पूर्ण करने में मुझे अतुलनीय सहयोग प्रदान किया है, जिसके लिये मैं सदैव आपका आभारी रहूँगा ।

मैं, विश्वविद्यालय के सह प्राध्यापक डॉ. नवीन कुमार मेहता तथा सभी सहायक प्राध्यापकों, डॉ. विश्वबन्धु, डॉ. प्रभाकर पाण्डेय, डॉ. देवेन्द्र सिंह, डॉ. राहुल सिद्धार्थ, डॉ. उपेन्द्र बाबू खत्री, डॉ. श्याम गणपत तिखे, डॉ. सन्तोष प्रियदर्शी, डॉ. रमेश रोहित, डॉ. सुष्मिता नन्दी एवं डॉ. प्राची अग्रवाल के प्रति भी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ, जिनसे समय-समय पर प्राप्त उचित मार्गदर्शन के द्वारा शोध-कार्य करने में मुझे विशेष सहायता प्राप्त हुई ।

मैं, विश्वविद्यालय के परीक्षा नियन्त्रक श्री हरीश चन्द्रवंशी, अकादमिक समन्वयक श्री विजय दुबे, पुस्तकालय प्रभारी डॉ. अमित ताम्रकर एवं श्री हरीश असाठी का उनके द्वारा प्राप्त सहयोग एवं मार्गदर्शन के लिये आभार व्यक्त करता हूँ तथा भारतीय दर्शन विभाग के कार्यालय सहायक श्री धम्मदीप सहारे एवं विश्वविद्यालय परिवार के उन सभी सम्माननीय सदस्यों के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने आवश्यकता पड़ने पर मुझे उचित सहयोग प्रदान किया ।

मुझे इस शोध-कार्य को करने के लिए 'साँची बौद्ध-भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय' द्वारा अध्येतावृत्ति प्रदान की गई है। अतः मैं 'साँची बौद्ध-भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय' का विशेष आभारी हूँ। मैं 'अखिल भारतीय दर्शन परिषद्', भोपाल; 'दर्शन परिषद्' (मध्य प्रदेश एवं छत्तीसगढ़) एवं 'भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्'; नई दिल्ली' का भी आभारी हूँ। जिनके द्वारा समय-समय पर आयोजित सेमीनार, कान्फ्रेंस, एवं कार्यशाला में भागीदारी करने से मुझे नवीन दिशा प्राप्त हुई।

मुझे इस शोध-कार्य को करने में डॉ. आमिर खान अहमद, डॉ. पुष्पलता एवं डॉ. विनय कुमार तिवारी का विशेष सहयोग प्राप्त हुआ है, अतः मैं इन सभी के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ।

मैं, अपने सभी मित्र बन्धुओं का भी आभारी हूँ, जिनका प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहयोग, शोध-कार्य को पूर्ण करने में यथा समय मिलता रहा। साथ ही मैं, उन सभी ग्रन्थकारों का भी आभारी हूँ, जिनकी कृतियों द्वारा इस शोध-कार्य को पूर्ण करने में सहायता प्राप्त हुई है।

अन्त में अपने माता-पिता के प्रति मैं विशेषरूप से आभार व्यक्त करता हूँ, जिनकी स्नेह एवं आशीर्वाद युक्त प्रेरणा शोध-कार्य के दौरान सदैव मेरा मार्ग प्रशस्त करती रही।

शोधार्थी

मोहन सिंह भदौरिया

अनुक्रमणिका

प्राक्कथन	I–II
आभार	III–IV
प्रस्तावना	1–7
प्रथम अध्याय – सांख्य दर्शन का ऐतिहासिक सर्वेक्षण	8–37
1.1 सांख्य दर्शन का उद्भव एवं विकास	
1.2 सांख्य दर्शन के प्राचीन एवं अर्वाचीन आचार्य	
1.3 सांख्य दर्शन का प्राचीन एवं अर्वाचीन साहित्य	
द्वितीय अध्याय – कार्य–कारणवाद की अवधारणा	38–51
2.1 सांख्येतर भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में कार्य–कारणवाद की अवधारणा	
2.2 सांख्य दर्शन में कार्य–कारणवाद की अवधारणा	
तृतीय अध्याय – सृष्टि–प्रक्रिया के मूल कारण 'प्रकृति' की अवधारणा	52–74
3.1 प्राचीन भारतीय साहित्य में प्रकृति की अवधारणा	
3.2 सांख्येतर भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में प्रकृति की अवधारण	
3.3 सांख्य दर्शन में प्रकृति की अवधारणा	
चतुर्थ अध्याय – सृष्टि–प्रक्रिया के साक्षी 'पुरुष' की अवधारणा	75–99
4.1 प्राचीन भारतीय साहित्य में पुरुष की अवधारणा	

4.2	सांख्येतर भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में पुरुष की अवधारणा	
4.3	सांख्य दर्शन में पुरुष की अवधारणा	
पंचम अध्याय – सृष्टि—प्रक्रिया एवं क्रम—विकास		100—158
5.1	प्राचीन भारतीय साहित्य में सृष्टि—प्रक्रिया एवं क्रम—विकास	
5.2	सांख्येतर भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में सृष्टि—प्रक्रिया एवं क्रम—विकास	
5.3	सांख्य दर्शन में सृष्टि—प्रक्रिया एवं क्रम—विकास	
5.4	सांख्याभिमत सृष्टि—प्रक्रिया की समीक्षा	
षष्ठ अध्याय – बन्धन एवं कैवल्य		159—175
6.1	सांख्येतर भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में बन्धन एवं कैवल्य	
6.2	सांख्य दर्शन में बन्धन एवं कैवल्य	
उपसंहार		176—199
सन्दर्भ—ग्रन्थ सूची		200—204
परिशिष्ट		

प्रस्तावना

‘दर्शनशास्त्र’ एक अतीव गम्भीर चिन्तन युक्त विधा है। जिसके अन्तर्गत मानव जीवन से सम्बन्धित विविध पहलुओं पर चिन्तन—मनन एवं विचार—विमर्श किया जाता है। ‘दर्शनशास्त्र’ को भलिभांति समझने के लिये प्रथमतः ‘दर्शन’ शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ पर विचार करना अत्यावश्यक है। ‘दर्शन’ शब्द प्रेक्षणार्थक ‘दृश्’ धातु से करण अर्थ में ‘ल्युट्’ प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ होता है ‘दृष्टि या देखना’। दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है कि — ‘दृश्यते अनेन इति दर्शनम्’ अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाये, वह दर्शन है। दर्शन शब्द का यह अर्थ ‘शाब्दिक अर्थ’ मात्र है। केवल ‘देखना’ मात्र ही दर्शन का वास्तविक अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि देखने की क्रिया तो लोक में सर्व साधारण के द्वारा भी होती है और जिस दर्शन की चर्चा यहाँ पर हो रही है, वह तो ‘पारमार्थिक’ है न कि ‘लौकिक’। अतः पारमार्थिक दृष्टि से ‘दर्शन’ की व्युत्पत्ति इस प्रकार हो सकती है कि ‘दृश्यते ज्ञायते तत्त्वं अनेन इति दर्शनम्’ अर्थात् जिसके द्वारा तत्त्वों को ज्ञान पूर्वक देखा जाये, वह दर्शन है।

सामान्यतः वर्तमान में ‘दर्शनशास्त्र’ की दो परम्परायें प्रचलित हैं — पहली ‘भारतीय दर्शन’ परम्परा और दूसरी ‘पाश्चात्य दर्शन’ परम्परा। इनके भी दो—दो विभाजन हैं — पहला ‘प्राचीन’ और दूसरा ‘समकालीन’। जैसे — प्राचीन भारतीय दर्शन एवं समकालीन भारतीय दर्शन। यहाँ पर ‘प्राचीन भारतीय दर्शन’ परम्परा के सम्बन्ध में वर्णन प्रस्तुत है। प्राचीन भारतीय दर्शनों की संख्या मुख्यतः नौ है। जो पुनः ‘आस्तिक’ और ‘नास्तिक’ के भेद से दो भागों में विभाजित हो जाते हैं। इनमें से, जो दर्शन वेदों को प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं, वे आस्तिक कहलाते हैं और जो दर्शन वेदों को प्रमाण नहीं मानते, वह नास्तिक की श्रेणी में रखे गये हैं। उक्तानुसार आस्तिक दर्शन छः हैं, जिनमें सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व—मीमांसा और उत्तर—मीमांसा (वेदान्त) दर्शन शामिल हैं। नास्तिक दर्शन तीन हैं — चार्वाक, जैन और बौद्ध।

उपर्युक्त वर्णन के अनुसार यह ज्ञात होता है कि ‘सांख्य दर्शन’ प्राचीन भारतीय दर्शन परम्परा के ‘आस्तिक’ दर्शनों में से एक है। यह सभी दर्शनों में अत्यधिक प्राचीन माना जाता

है। इसके प्रणेता 'महर्षि कपिल' हैं। यहाँ पर 'सांख्य' शब्द के अर्थ पर विचार करना भी समीचीन होगा; क्योंकि किसी भी शास्त्र का नामकरण एक विशेष अर्थ एवं प्रयोजन की दृष्टि से ही किया जाता है। 'सांख्य' शब्द का प्रादुर्भाव 'संख्या' शब्द से हुआ है। 'संख्या' शब्द 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'ख्या' धातु से 'अण्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ होता है – 'सम्यक् ख्याति' या 'सम्यक् ज्ञान'। जिस ज्ञान से समस्त तत्त्वों का भेद पूर्वक स्वतन्त्र अनुभव प्राप्त किया जा सके, उसे 'सम्यक् ज्ञान' कहते हैं।

'सांख्य' शब्द का उपर्युक्त अर्थ होने के कारण ही महाभारत के शान्तिपर्व में 'वशिष्ठ—करालजनक संवाद' के अन्तर्गत महर्षि वशिष्ठ द्वारा करालजनक के प्रति सांख्य दर्शन के तत्त्वों के उपदेश के पश्चात् इस दर्शन का महत्त्व बतलाते हुये, इसको सम्यक् दर्शन कहकर सम्बोधित किया गया है। इस सन्दर्भ में महाभारत के निम्न श्लोक द्रष्टव्य हैं –

“सम्यग्दर्शनमेतावाद् भाषितं तव तत्त्वतः ।

एवमेतद् विजानन्तः साम्यतां प्रति यान्त्युत ॥

सम्यङ्निर्दर्शनं नाम प्रत्यक्षं प्रकृतेस्तथा ।

गुणतत्त्वान्यथैतानि निर्गुणोऽन्यस्तथा भवेत् ॥” (महाभारत – 12/306/45,46)

अर्थात् – वशिष्ठ जी कहते हैं कि हे जनक! इस प्रकार मैंने तुमको यह सम्यग्दर्शन विधिवत् रूप से बतलाया । जो इसको इस प्रकार जानते हैं, वे साम्यता या शांति को प्राप्त करते हैं। प्रकृति—पुरुष का प्रत्यक्ष करना ही सम्यग्दर्शन कहलाता है। त्रिगुणों से युक्त प्रकृति सहित इन तत्त्वों से भिन्न पुरुष निर्गुण होता है।

इस सम्यग्दर्शन की महत्ता को स्मृतिकार मनु ने भी अपने चिर प्रतिष्ठित ग्रन्थ 'मनुस्मृति' में निम्न श्लोक द्वारा व्यक्त किया है –

“सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते ।

दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥” (मनुस्मृति – 6/74)

अर्थात् – जो मनुष्य सम्यक् दर्शन से युक्त होता है, वह कर्मों द्वारा बन्धन में नहीं जकड़ा जाता है और जो इस दर्शन से विहीन होते हैं, वह तो संसार को ही प्राप्त करते हैं।

सामान्यतः 'संख्या' शब्द का प्रयोग 'गणना' अर्थ में किया जाता है। वस्तुतः 'संख्यान' या 'संख्या' का मूल अर्थ 'विवेक' या 'विवेकात्मक ज्ञान' है और विवेक या विवेकात्मक ज्ञान का स्वरूप है; वस्तुओं का परस्पर पृथक् रूप में ज्ञान या स्वरूप ज्ञान। 'गणना' के अर्थ में भी जो 'संख्या' शब्द व्यवहार में है, वह भी उक्त मूल अर्थ विवेक या विवेकात्मक ज्ञान के आधार पर ही प्रचलित है, क्योंकि 'संख्या' या 'गणना' के रूप में भी वस्तुओं का विवेकात्मक ज्ञान अर्थात् परस्पर पृथक् रूप में ज्ञान किया जाता है और परिणामतः इन्हें अलग-अलग एक, दो आदि कहा जाता है।

यही कारण है कि महाभारत में सांख्य के दोनों अर्थों विवेक ज्ञान और गणना, को स्वीकार किया गया है। इस सन्दर्भ शांतिपर्व के निम्न श्लोक द्रष्टव्य हैं —

“सांख्य दर्शनमेतावत् परिसंख्यानुदर्शनम् ।

सांख्याः प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते ॥

तत्त्वानि च चतुर्विंशत् परिसंख्याय तत्त्वतः ।

सांख्याः सह प्रकृत्या तु निस्तत्त्वः पंचविंशकः ॥” (महाभारत —12 / 306 / 42,43)

अर्थात् — सांख्य दर्शन के विद्वान् प्रकृति सहित चौबीस तत्त्वों की परिगणना करके, प्रकृति को ही जगत् का कारण बताते हैं तथा पुरुष को जड़ तत्त्वों से भिन्न पच्चीसवाँ तत्त्व निश्चित करते हैं, इसीलिये इस दर्शन का नाम सांख्य दर्शन है।

श्लोकानुसार तत्त्वों का निश्चय करना ज्ञानार्थक है तथा परिसंख्यान या संख्या करना गणनार्थक है। अतः यहाँ पर सांख्य शब्द विवेक ज्ञान एवं गणना दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार यहाँ पर एक शंका उपस्थित होती है कि यदि तत्त्वों के संख्यान के आधार पर ही सांख्य दर्शन का नामकरण हुआ है, तो फिर न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनों का नाम सांख्य क्यों नहीं पड़ा ? तत्त्वों का 'संख्यान' तो न्याय एवं वैशेषिक आदि दर्शनों ने भी किया है। इस शंका का समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनों के द्वारा तत्त्व-संख्यान करने के पूर्व ही सांख्य ने तत्त्व-संख्यान कर दिया होगा और उसके आधार पर उसको 'सांख्य' नाम दिया जा चुका होगा, परिणाम स्वरूप उसके बाद अस्तित्व में आने वाले अन्य दर्शनों को तत्त्व-संख्यान करने पर भी 'सांख्य' नाम नहीं दिया जा सकता था अथवा यह कारण हो सकता है कि जहाँ सांख्य की प्रमुख विशेषता

तत्त्व—संख्यान थी, वहाँ अन्य दर्शनों की प्रमुख विशेषता तत्त्व—संख्यान न होकर, अन्य विभिन्न रूपों में थी और परिणामतः उनकी विशेषताओं के आधार पर ही उनके विभिन्न नाम प्रचलित हुये।

चूँकि सांख्य दर्शन ने संसार के तत्त्वों का इस रूप में 'संख्यान' या विवेकात्मक ज्ञान प्राप्त किया कि इस जगत् में प्रकृति और पुरुष के रूप में दो मूल तत्त्व हैं, जिनमें एक 'प्रकृति' तत्त्व अचित् और परिणामी या विकारशील है और दूसरा 'पुरुष' तत्त्व चित् और अपरिणामी या निर्विकार है। पुनः परिणामशील प्रकृति से जो महत् आदि तेईस विकृतियों का आविर्भाव हुआ, उनका भी इस दर्शन ने संख्यान या विवेकात्मक ज्ञान प्राप्त किया। इस प्रकार इस दर्शन का प्रमुख कार्य या वैशिष्ट्य 'संख्यान' ही रहा है। अतः यह दर्शन 'सांख्य' नाम से प्रसिद्ध हुआ। ज्ञान या विवेकात्मक ज्ञान को सांख्य की प्रमुख विशेषता माने जाने के कारण ही भारतीय परम्परा ने सांख्य के विषय में "नास्ति सांख्यसमं ज्ञानम्" आदि के रूप में विभिन्न उद्गार प्रकट किये हैं। "ज्ञानयोगेन सांख्यानाम्" आदि उक्तियों में 'सांख्य' शब्द का अर्थ चाहे 'सांख्य मत का अनुयायी' माना जाये और चाहे 'ज्ञानी', दोनों ही रूपों में 'सांख्य' और 'ज्ञान' का घनिष्ठ सम्बन्ध प्रकट होता है, क्योंकि जहाँ 'सांख्यमत का अनुयायी' ऐसा अर्थ मानने पर यह प्रकट होता है कि सांख्यमत में ज्ञानयोग की प्रधानता है, वहीं 'ज्ञानी' अर्थ मानने पर तो 'सांख्य' और 'ज्ञान' शब्द परस्पर पर्यायवाची हो जाते हैं। इसी विशेषता के कारण ही यह दर्शन 'सांख्य' नाम से जाना जाता है।

सांख्य दर्शन में जिन पच्चीस तत्त्वों का संख्यान किया गया है, वह इस प्रकार हैं — 'पुरुष' तथा 'प्रकृति' दो मूल तत्त्व हैं एवं इनके संयोग द्वारा मूल प्रकृति से अन्य तेईस तत्त्व जैसे — महत् (बुद्धि), अहंकार, एकादश इन्द्रियाँ (पंचज्ञानेन्द्रियाँ — श्रोत, त्वक्, चक्षु, रसन्, घ्राण, तथा पंचकर्मेन्द्रियाँ — वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ एवं एक उभयेंद्रिय — मन), पंचतन्मात्रायें (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध) तथा पंचमहाभूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी) आविर्भूत होते हैं। इसे 'सृष्टि—प्रक्रिया' या 'सृष्टि—क्रम' कहा जाता है। इनमें से 'मूल प्रकृति' अविकृति है, महदादि सात तत्त्व (महत्, अहंकार तथा पंचतन्मात्रायें), प्रकृति और विकृति दोनों ही हैं, सोलह तत्त्व (एकादश इन्द्रियाँ तथा पंचमहाभूत), केवल विकृति हैं एवं 'पुरुष' न प्रकृति है और न ही विकृति है।

सांख्य दर्शन में उपर्युक्त पच्चीस तत्त्वों में से तेईस को 'व्यक्त', मूल प्रकृति या प्रधान को 'अव्यक्त' तथा पुरुष को 'ज्ञ' की संज्ञा दी गई है। इस दर्शन का मुख्य उद्देश्य 'त्रिविध-दुःख' से छूट कर 'कैवल्य' प्राप्त करना है। आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक या दैहिक, ये ही तीन दुःख हैं और इन्हीं से मुक्त होना 'कैवल्य' कहलाता है। उपर्युक्त 'व्यक्त', 'अव्यक्त' और 'ज्ञ' का विज्ञान अर्थात् इनका ज्ञान प्राप्त कर लेना ही कैवल्य प्राप्ति का 'एक-मात्र' उपाय सांख्य दर्शन में बताया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का शीर्षक 'सांख्याभिमत सृष्टि-प्रक्रिया : एक समीक्षात्मक अध्ययन' है। इस शोध-कार्य का प्रमुख उद्देश्य, सांख्य दर्शन की सृष्टि-प्रक्रिया को प्राचीन भारतीय साहित्य एवं सांख्येतर भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में प्रचलित सृष्टि-प्रक्रिया के आधार पर समीक्षात्मक रूप में प्रस्तुत करना है। इस हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में, वैदिक साहित्य, महाभारत, पुराण, आयुर्वेदशास्त्र एवं सांख्य दर्शन सहित अन्य भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के प्रमुख प्राथमिक एवं द्वितीयक ग्रन्थों को आधार बनाकर, मुख्यतः 'समीक्षात्मक' शोध-प्रविधि का प्रयोग किया जाना प्रस्तावित है।

सांख्य दर्शन की सृष्टि-प्रक्रिया, परिणामवाद या विकासवाद को स्वीकार करती है। जिसके अनुसार अव्यक्त सूक्ष्म प्रकृति से पंचमहाभूत पर्यन्त भौतिक विकास प्रकृति का त्रिगुणात्मक विकास है। यह विकास सूक्ष्म से स्थूल एवं स्थूलतर तक होता है। विकास का विपरीत संकुचन है, जो क्रमशः इसकी विपरीत दिशा में होता है। इस प्रकार सांख्य दर्शन की यह सृष्टि-प्रक्रिया विकास की एक चक्रीय प्रक्रिया है। क्रम से सृष्टि एवं प्रलय चक्रीय रूप से घटित होते हैं। सांख्य दर्शन के इस विकासवाद के विपरीत न्याय-वैशेषिक दर्शन की आरम्भवादी सृष्टि-प्रक्रिया है, जो नवीन सृष्टि की उत्पत्ति के सिद्धान्त को स्वीकार करती है तथा अद्वैत-वेदान्त की सृष्टि-प्रक्रिया अभासवादी है, जो अविद्या के कारण जगत् को आभास मात्र मानती है। प्रस्तुत शोध-कार्य में मुख्य रूप से इन्हीं तीन सृष्टिशास्त्रीय सिद्धान्तों पर यथा स्थान विमर्श किया जाना है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध, प्रस्तावना एवं उपसंहार के अतिरिक्त छः अध्यायों में विभक्त है। जिनका संक्षिप्त परिचय क्रमशः इस प्रकार है —

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के प्रथम अध्याय का शीर्षक 'सांख्य दर्शन का ऐतिहासिक सर्वेक्षण' है। इस अध्याय में सांख्य दर्शन के ऐतिहासिक पक्ष को प्रस्तुत किया जाना प्रस्तावित है। जिसके अन्तर्गत सांख्य दर्शन का उद्भव एवं विकास, सांख्य दर्शन के प्राचीन एवं अर्वाचीन आचार्यों तथा सांख्य दर्शन के प्राचीन एवं अर्वाचीन साहित्य का वर्णन किया जाना है।

द्वितीय अध्याय का शीर्षक 'कार्य-कारणवाद की अवधारणा' है। इस अध्याय में सांख्य दर्शन के कार्य-कारणवाद के सिद्धान्त 'सत्कार्यवाद' को भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में प्रचलित कार्य-कारणवाद के प्रमुख सिद्धान्तों के आधार पर समीक्षात्मक रूप से प्रस्तुत किया जाना है।

तृतीय अध्याय का शीर्षक 'सृष्टि-प्रक्रिया के मूल कारण 'प्रकृति' की अवधारणा' है। इस अध्याय में प्रकृति के स्वरूप को प्राचीन भारतीय साहित्य, सांख्येतर भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों एवं सांख्य दर्शन के आधार पर स्पष्ट करना प्रस्तावित है।

चतुर्थ अध्याय का शीर्षक 'सृष्टि-प्रक्रिया के साक्षी 'पुरुष' की अवधारणा' है। इस अध्याय के अन्तर्गत 'पुरुष' अर्थात् 'आत्मा' के स्वरूप को प्राचीन भारतीय साहित्य, सांख्येतर भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों तथा सांख्य दर्शन के अनुसार प्रस्तुत किया जाना है। साथ ही सांख्य दर्शन के अनुसार विविध तर्कों के माध्यम से पुरुष की सिद्धि एवं पुरुष बहुत्व को भी प्रस्तुत किये जाने का प्रस्ताव है।

पंचम अध्याय का शीर्षक 'सृष्टि-प्रक्रिया एवं क्रम-विकास' है। इस अध्याय में प्राचीन भारतीय साहित्य यथा – वैदिक साहित्य, महाभारत, गीता, पुराण, आयुर्वेदशास्त्र तथा सांख्येतर विविध भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में वर्णित सृष्टि-प्रक्रिया एवं क्रम-विकास को प्रस्तुत किया जाना प्रस्तावित है, इसके साथ ही सांख्याभिमत सृष्टि-प्रक्रिया एवं क्रम-विकास की समीक्षा भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के आधार पर प्रस्तुत किये जाने का भी प्रस्ताव है।

षष्ठ अध्याय का शीर्षक 'बन्धन एवं कैवल्य' है। इस अध्याय में सांख्येतर भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में प्रचलित बन्धन और मोक्ष की अवधारणा को स्पष्ट किया जाना है एवं सांख्यदर्शन के अनुसार बन्धन का स्वरूप, बन्धन का कारण, कैवल्य का स्वरूप तथा कैवल्य प्राप्ति का उपाय के सम्बन्ध में विमर्श प्रस्तुत करना प्रस्तावित है।

इस प्रकार प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में सांख्य दर्शन की सृष्टि-प्रक्रिया एवं सृष्टि-प्रक्रिया से सम्बद्ध सभी तत्त्वों तथा प्रमुख सिद्धान्तों का समीक्षात्मक वर्णन, प्राचीन भारतीय साहित्य एवं साख्येतर भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के आधार पर किया जाना प्रस्तावित है जो कि भविष्य में इस विषय पर शोध करने वाले शोध-अध्येताओं के लिये लाभकारी सिद्ध हो सकता है।

.....

प्रथम अध्याय

सांख्य दर्शन का ऐतिहासिक सर्वेक्षण

‘ऐतिहासिक सर्वेक्षण’ में मुख्यतः दो शब्द सम्मिलित हैं — पहला शब्द ‘इतिहास’ है एवं दूसरा शब्द ‘सर्वेक्षण’ है। सांख्य दर्शन का ऐतिहासिक सर्वेक्षण प्रस्तुत करने के पूर्व, इन दोनों ही शब्दों के अर्थ को स्पष्ट रूप से समझना आवश्यक है।

वर्तमान समय में ‘इतिहास’ शब्द अंग्रेजी भाषा के ‘हिस्ट्री’ शब्द के पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। ‘हिस्ट्री’ शब्द की उत्पत्ति यूनानी भाषा के ‘हिस्टोरिया’ शब्द से हुई है, जिसका अर्थ अन्वेषण, शोध, खोज या जानकारी होता है। भारतीय साहित्य के सन्दर्भ में ‘इतिहास’ शब्द का प्रयोग वेदों से आरम्भ होकर मध्यकालीन साहित्य पर्यन्त दृष्टिगोचर होता है, परन्तु यहाँ पर ‘इतिहास’ शब्द का अर्थ एवं स्वरूप वैसा नहीं है, जैसा कि ‘हिस्ट्री’ शब्द से लिया जाता है।

भारतीय परम्परा के अनुसार ‘इतिहास’ शब्द की व्युत्पत्ति ‘इति—ह—आस’ के रूप में की जाती है, जिसका अर्थ ‘निश्चित रूप से ऐसा हुआ’ इस रूप में ग्रहण किया जाता है। इस सन्दर्भ में निरुक्त भाष्य वृत्तिकार दुर्गाचार्य की उक्ति द्रष्टव्य है — “निदानभूतः ‘इति ह एवमासीत्’ इति य उच्यते स इतिहासः।”¹ अर्थात् ‘यह निश्चित रूप से इस प्रकार हुआ था’ इस प्रकार बतलाता है, वह ‘इतिहास’ कहलाता है।

‘सर्वेक्षण’ शब्द अंग्रेजी भाषा के ‘सर्वे’ शब्द का हिन्दी रूपान्तरण है। ‘सर्वे’ शब्द भी दो शब्दों से मिलकर बना है। पहला फ्रेंच भाषा का शब्द ‘सर’ है, जिसका अर्थ होता है ‘ऊपर’ तथा दूसरा लेटिन भाषा का शब्द ‘वीयर’ है, जिसका अर्थ ‘देखना’ होता है। इस प्रकार सर्वेक्षण का शाब्दिक अर्थ किसी घटना को ऊपर से देखना या उसका अवलोकन करना है।

अतः उपरोक्त वर्णन के अनुसार ‘ऐतिहासिक सर्वेक्षण’ का अर्थ ‘निश्चित रूप से घटित किसी घटना विशेष का अवलोकन करना’ है। इस प्रकार ‘सांख्य दर्शन का ऐतिहासिक

सर्वेक्षण' का आशय, निश्चित रूप से घटित उन सभी घटनाओं एवं तथ्यों का अवलोकन करने से है, जो कि सांख्य दर्शन से सम्बद्ध हैं।

1.1 सांख्य दर्शन का उद्भव एवं विकास –

भारतीय दर्शन परम्परा में सांख्य दर्शन अत्यन्त प्राचीन है, इसीलिये इसका महत्व भी अत्यधिक है। सांख्य दर्शन का उद्भव वैदिक काल में ही हो गया था, इसके प्रमाण प्राचीन वैदिक साहित्य, संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषदों में दृष्टिगोचर होते हैं। वैदिक काल में उद्भूत यह दर्शन, पुनः काल क्रमानुसार विकास करता चला गया। इसके विकास के प्रमाण वैदिकेतर प्राचीन साहित्य में मौजूद हैं। जिन वैदिकेतर प्राचीन ग्रन्थों में इसके विकास के तथ्य उपलब्ध हैं, उनमें महाभारत, गीता, पुराण एवं आयुर्वेदशास्त्र के ग्रन्थ प्रमुखतया सम्मिलित हैं।

1.1.1 वैदिक साहित्य में सांख्य दर्शन के तत्त्व –

वैदिक संहिताओं में 'सांख्य' शब्द का प्रयोग सीधे तौर पर नहीं मिलता, अपितु सांख्य-सिद्धान्तों की झलक दृष्टि गोचर होती है। जिसे विभिन्न विद्वानों ने अपने स्वविवेकानुसार तर्कों के द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया है। सभी विद्वान् काल क्रमानुसार 'ऋग्वेद' को प्राचीनतम ग्रन्थ के रूप में स्वीकार करते हैं। इसी 'ऋग्वेद' में सांख्य दर्शन के उद्भव के प्रमाण उपलब्ध हैं। सर्वप्रथम ऋग्वेद का निम्न मन्त्र द्रष्टव्य है –

“दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते राजाना मित्रावरुणा विवाससि।

अतूर्तपन्थाः पुरुरथो अर्यमा सप्त होता विषुरूपेषु जन्मसु।।”²

अर्थात् – हे अदिति ! पुरुष के व्यवस्था अनुकूल जन्म में, दीप्तियुक्त मित्र और वरुण की, तुम परिचर्या करती हो। जो व्यवस्थित मार्ग वाला है, अनेक भोगों से युक्त है, विरोधों को सहन करने वाला है, वह पुरुष होता है। इन विविध रूप जन्मों में सात होताओं से युक्त, वह पुरुष है।

प्रस्तुत ऋचा के पदों में 'अदिति', 'दक्ष' एवं 'सप्त होता' का अभिप्राय क्रमशः 'प्रकृति', 'पुरुष' एवं 'सात विकृति' बताते हुये, डॉ. गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर ने सांख्यतत्त्वकौमुदी

पर अपनी व्याख्या 'तत्त्वप्रकाशिका' की भूमिका में सांख्य-सिद्धान्तों की वेदमूलकता पर जोर दिया है।³

इसी क्रम में ऋग्वेद का ही एक अन्य मन्त्र इस प्रकार है — "तम आसीत् तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्"⁴ अर्थात् तम ने ही आगे चलकर 'अव्यक्त' का रूप धारण किया। यह मन्त्र सांख्य दर्शन के सिद्धान्त कार्य-कारणवाद 'सत्कार्यवाद' की ओर संकेत करता है। इसकी पुष्टि करते हुये गजानन शास्त्री ने कहा है कि "भूत-भौतिक जगत् का अपने कारणभूत तम में लय बताने वाली यह श्रुति सत्कार्यवाद का निरूपण कर रही है।"⁵ आद्याप्रसाद मिश्र भी स्वीकार करते हैं कि ऋग्वेद के इस मन्त्र में सांख्य के भावी 'अव्यक्त' का संकेत मिलता है।⁶

प्राचीनता की दृष्टि से ऋग्वेद के पश्चात् यजुर्वेद का स्थान आता है। यजुर्वेदीय काठक-संहिता के एक पद में पंचविंश शब्द का प्रयोग हुआ है, जो कि सांख्य के 'पुरुष' का सूचक प्रतीत होता है; क्योंकि उसी के साथ-साथ चौबीस अन्य तत्त्वों का वर्णन भी है। वस्तुतः वह चौबीस तत्त्व सांख्यानुसार नहीं हैं, परन्तु पच्चीसवें तत्त्व पुरुष के साथ उन चौबीस का वर्णन सांख्य-सिद्धान्तों का संकेत प्रदान करता है। वह चर्चित पद्यांश इस प्रकार है — "ते पंचविंशं स्तोममुपयन्ति पुरुषस्तोमं दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पद्या द्वौ बाहू द्वे सक्थ्या आत्मा पंचविंशो"⁷ अर्थात् वे (ऋत्त्विक) पंचविंश स्तोम का अनुष्ठान करते हैं, जो पुरुषस्तोम कहलाता है। दस अंगुलियाँ हाथ की, दस पैर की, दो भुजायें और दो टाँग; ये चौबीस हैं तथा पच्चीसवाँ आत्मा है।

आचार्य उदयवीर शास्त्री ने अपनी पुस्तक 'सांख्य-सिद्धान्त' में इसकी पुष्टि करते हुये पंचविंश शब्द को सांख्य के पुरुष का सूचक बताने का प्रयास, बड़े ही तार्किक रूप में किया है, जो यहाँ पर उन्हीं के शब्दों में निम्नवत् है —

"यहाँ पर 'पंचविंशस्तोम' को 'पुरुषस्तोम' कहने से यह स्पष्ट होता है कि संहिताकार 'पंचविंश' पद को 'पुरुष' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ समझता है। वस्तुतः संहिताकार के इस कथन का सामंजस्य सांख्यसिद्धान्त के आधार पर किया जा सकता है। वहाँ प्रकृति और प्राकृत तत्त्वों की संख्या चौबीस बताकर पुरुष को पच्चीसवाँ (पंचविंश) कहा गया है, जो अप्रकृति तथा अप्राकृत तत्त्व हैं।

प्रतीत होता है, संहिताकार के पूर्व, सांख्यसिद्धान्त के अनुसार 'पंचविंश' कहा जाना व्यवस्थित हो चुका था; परन्तु उन प्राकृत विभागों का जिनके आधार पर सांख्यमतानुसार पुरुष को 'पंचविंश' कहा गया है — संहिता के प्रस्तुत प्रसंग में आपाततः कोई उपयोग ना दिखने के कारण, संहिताकार ने पुरुष के 'पंचविंश' नाम को व्यवस्थित रखते हुये, उसके अन्य आधार का उद्भावन किया है।⁸

आरण्यक में सांख्य के तथ्यों को देखने के क्रम में तैत्तिरीय आरण्यक का एक मन्त्र है, जिसमें प्रकृति को त्रिगुणों; यथा शुक्लवर्णी सत्त्व गुण, रक्तवर्णी रजो गुण और कृष्णवर्णी तमो गुण स युक्त बताया गया है। वह मन्त्र निम्नवत् है —

“अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां वह्नीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम् ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगमजोऽन्यः ॥”⁹

अर्थात् — लोहित (रजस्), शुक्ल (सत्त्व), कृष्ण (तमस्) रूप एक 'प्रकृति' है, जो स्वयं कभी उत्पन्न नहीं होती; परन्तु उसके द्वारा, उसी के समान त्रिगुणात्मक अनेक प्रजाओं को उत्पन्न किया जाता है। एक 'अज' (संसारी जीव) भोगों को भोगता हुआ, उसमें फंसा रहता है; परन्तु दूसरा 'अज' (प्रकृति-पुरुष को जानने वाला जीव) इसको छोड़ देता है, मुक्त हो जाता है।

अब वैदिक साहित्य के अन्तिम चरण उपनिषद् का परिचय तथा उसमें सांख्य दर्शन के तत्त्वों की झलक प्रस्तुत है। उपनिषद् दो शब्दों से मिलकर बना है, 'उप' और 'निषद्' = उपनिषद्। इसमें 'उप' शब्द 'समीप' के अर्थ में तथा 'निषद्' शब्द 'बैठने' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार उपनिषद् का शाब्दिक अर्थ 'समीप बैठना' हुआ। अब प्रश्न है कि किसके समीप बैठना ? इसका उत्तर है — ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप बैठकर उपदेश ग्रहण करना। वेदों का अंतिम भाग होने के कारण उपनिषद् वेदान्त भी कहे जाते हैं। उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय अध्यात्म है, जिसमें आत्मा, परमात्मा आदि का वर्णन मिलता है; साथ ही इनमें, मानव जीवन के परम पुरुषार्थ 'मोक्ष' का प्रतिपादन भी विधिवत् किया गया है। भारतीय दर्शन परम्परा में सभी दर्शनों के सिद्धान्तों में आन्तरिक भेद होते हुए भी न्याय, वैशेषिक आदि सभी

दर्शनों का लक्ष्य भी 'मोक्ष' ही है। इस कारण लगभग सभी भारतीय दर्शनों के मूल में उपनिषदों को स्वीकार किया जाता है।

सांख्य दर्शन के सिद्धान्त और तथ्य प्रायः सभी उपनिषदों में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं और यही कारण है कि उपनिषदों में सांख्य के तथ्य अधिक स्पष्टता के साथ दिखाई देते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् में तो स्पष्ट रूप से 'सांख्य'¹⁰, 'कपिल'¹¹, 'व्यक्ताव्यक्त'¹² और 'ज्ञ'¹³ का प्रयोग हुआ है। इसके एक मन्त्र में सांख्य के तत्त्वों की गणना के संकेत मिलते हैं। जिसमें 'त्रिवृत्त' तीन गुणों का सूचक है, 'षोडशान्त' पद सोलह विकारों का संकेत देता है तथा 'शतार्धार' शब्द पचास प्रत्यय सर्ग को सूचित करता है।¹⁴ लेकिन यह मत कीथ को स्वीकार्य नहीं है।¹⁵ इसी उपनिषद् में माया को प्रकृति बताते हुए निम्न मन्त्र है – "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।"¹⁶ इस श्वेताश्वतरोपनिषद् में सांख्य का सर्वाधिक और स्पष्ट वर्णन मिलने के कारण ही इसको सांख्योपनिषद् भी कहा जाता है।¹⁷ छान्दोग्योपनिषद् में भी सांख्य के एक मुख्य सिद्धान्त 'सत्कार्यवाद' को द्योतित करता हुआ एक मन्त्र मिलता है।¹⁸ कठोपनिषद् में भी एक प्रसंग में इन्द्रियों से सूक्ष्म विषय, विषयों से सूक्ष्म मन, मन से सूक्ष्म महत् और महत् से भी सूक्ष्म पुरुष को बताया गया है।¹⁹

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णन से यह ज्ञात होता है कि वैदिक काल में ही सांख्य दर्शन का उद्भव हो गया था और उपनिषदों तक आते-आते यह दर्शन कुछ अंश में विकास की ओर अग्रसर हो चला था।

1.1.2 महाभारत में सांख्य दर्शन के तत्त्व –

महाभारत से प्रायः सभी भली भाँति परिचित हैं। यह भारतीय साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है; क्योंकि इसमें धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष सभी का वर्णन समाहित है। यह ज्ञान विज्ञान का विशिष्ट केंद्र है। महाभारतकार ने तो यहाँ तक कहा है कि जो यहाँ है, वह सभी जगह है और जो यहाँ नहीं है, वह कहीं नहीं है।²⁰ इसकी महत्ता को स्पष्ट करते हुए आचार्य बलदेव उपाध्याय ने इसे 'पंचम वेद' की संज्ञा प्रदान करते हुये स्वरचित 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' में इस प्रकार लिखा है कि –

“भारतीय साहित्य का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ ‘भगवद्गीता’ इसी महाभारत का ही एक अंश है। इसके अतिरिक्त विष्णुसहस्रनाम, अनुगीता, भीष्मस्तवराज, गजेन्द्रमोक्ष जैसे आध्यात्मिक और भक्तिपूर्ण ग्रन्थ इसी के अंश हैं। इन्हीं पांच ग्रन्थों को ‘पंचरत्न’ नाम से पुकारा जाता है। इन्हीं गुणों के कारण महाभारत ‘पंचमवेद’ के नाम से विख्यात है।”²¹

महाभारत में सांख्य दर्शन का बहुत व्यापक वर्णन मिलता है। वैसे तो सभी पर्वों में इसकी झलक मिलती है; जैसे – वन पर्व में कपिल का उल्लेख करते हुये, उन्हें ‘परमर्षि’ कहकर सम्बोधित किया गया है तथा अग्नि का अवतार एवं सांख्य-योग का प्रवर्तक बताया गया है।²² परन्तु शान्ति पर्व में विशेष रूप से इसकी चर्चा है। इसमें सांख्य के आचार्यों के बीच परस्पर संवादों का वर्णन किया गया है। इन संवादों से प्रतीत होता है कि, ये संवाद सांख्य के किसी व्यवस्थित ग्रन्थ के आधार पर वर्णित हों। संवादों के इस क्रम में ‘युधिष्ठिर-भीष्म संवाद’ के अन्तर्गत भीष्म द्वारा युधिष्ठिर के प्रति सांख्य के सम्बन्ध में उपदेश के आरम्भ में ही सांख्य के ज्ञान की सूक्ष्मता बताते हुये, महर्षि कपिल आदि आचार्यों को ईश्वर की कोटि में रखते हुये कहा गया है कि –

“शृणु मे त्वमिदं सूक्ष्मं सांख्यानां विदितात्मनाम्।

विहितं यतिभिः सर्वैः कपिलादिभिरीश्वरैः॥”²³

अर्थात् – हे युधिष्ठिर ! आत्मतत्त्व को जानने वाले सांख्यशास्त्र के विद्वानों का यह सूक्ष्म ज्ञान तुम मुझसे सुनो। इसे ईश्वर कोटि के कपिल आदि सभी यतियों ने प्रकाशित किया है।

आगे इसी संवाद में सांख्य के उद्देश की समाप्ति की ओर अग्रसर होते हुये, इस दर्शन की महत्ता को प्रकट किया गया है। इस सन्दर्भ में निम्न श्लोक द्रष्टव्य है –

“यच्चेतिहासेषु महत्सु दृष्टं यच्चार्थशास्त्रे नृप शिष्टजुष्टे।

ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किञ्चित् सांख्यागतं तच्च महन्महात्मन्॥”²⁴

अर्थात् – यहाँ पर युधिष्ठिर से भीष्म कहते हैं कि हे महात्मन् ! बड़े-बड़े इतिहासों में, सत्पुरुषों द्वारा सेवित अर्थशास्त्रों में तथा इस संसार में जो कुछ भी महान् ज्ञान है, वह सांख्य से प्राप्त है।

अन्त में यहाँ पर यह भी स्पष्ट रूप से समझना आवश्यक है कि महाभारत में वर्णित जो सांख्य है, वह सेश्वर सांख्य है जिसमें ईश्वर को छब्बीसवाँ तत्त्व बताया गया है।²⁵ यह ईश्वरकृष्ण के सांख्य से भिन्न है; क्योंकि उन्होंने पच्चीस तत्त्वों का ही वर्णन किया है तथा प्रकृति और पुरुष को ही; दो मूल एवं स्वतन्त्र तत्त्व स्वीकार किये हैं, जबकि महाभारत में प्रधान और पुरुष से परे, ईश्वर को भी माना गया है। जो सम्पूर्ण भूतों का स्वामी, समस्त जगत् का कल्याण करने वाला और संसार के कारण का भी कारण है।²⁶ ज्ञानी पुरुष इसी के द्वारा मुक्ति पाते हैं, इसी को मोक्ष प्राप्ति कहा जाता है।²⁷ यह ईश्वर पुरुष द्वारा जाना जा सकता है।²⁸ इसे नारायण बताते हुए कहा गया है कि यह परात्पर है और इसके परे कोई और तत्त्व नहीं है।²⁹

उपर्युक्त वर्णन से यह ज्ञात होता है कि महाभारत काल तक पहुँचने से पहले ही सांख्य दर्शन अत्यधिक व्यवस्थित रूप ले चुका था। ऐसा इसलिए भी हुआ होगा, क्योंकि महर्षि कपिल अपने ग्रन्थों का प्रणयन इससे पूर्व ही कर चुके होंगे। यही कारण है कि महाभारत में महर्षि कपिल एवं उनके दर्शन का प्रचुरता से वर्णन किया गया है। ऐसा अधिकतर परवर्ती साहित्यों में देखने को मिलता ही है।

1.1.3 श्रीमद्भगवद्गीता में सांख्य दर्शन के तत्त्व –

यह तो सर्वविदित ही है कि 'श्रीमद्भगवद्गीता', 'महाभारत' का ही एक भाग है एवं यह भीष्म पर्व में वर्णित है; परन्तु एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में भी इसकी अपनी विशिष्ट पहचान है। यही कारण है कि भारतीय प्राचीन साहित्य परम्परा में गीता का स्थान अन्यतम है। यह विविध विषयों के ज्ञान का भण्डार है। अगर इसको निरपेक्ष दृष्टि से देखें, तो यह स्पष्ट करना कठिन होगा कि इसमें ज्ञान की किस परम्परा का निर्वहन किया गया है। चूँकि इसमें भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन के लिए उपदेशों का वर्णन है, परन्तु यह पूर्ण रूपेण स्पष्ट नहीं हो पाता कि अर्जुन को उपदेश देने के लिये भगवान् श्री कृष्ण ने कौन से दर्शन के सिद्धान्तों को मुख्य आधार बनाया है³⁰; परन्तु इतना तो अवश्य ही स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता

है कि गीता सांख्य दर्शन के प्रभाव से अछूता नहीं है। 'सांख्य' शब्द गीता में कई स्थलों पर प्रयोग में आया है।³¹ लेकिन गीता के कई व्याख्याकार यह मानते हैं कि यह एक पारिभाषिक शब्द है। यह एक विशेष प्रकार के ज्ञान का द्योतक है, न कि 'कपिल प्रणीत सांख्य सिद्धान्तों' का; परन्तु वह इस धारणा पर अन्त तक स्थिर न रह सके। अट्टारहवें अध्याय के तेरहवें श्लोक³² में व्याख्याकारों ने सांख्य पद को कपिल प्रणीत सांख्य के रूप में स्वीकार किया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गीता के पूर्व कापिल सांख्य का अस्तित्व था।³³ श्री कृष्ण द्वारा स्वयं को सिद्धों में कपिल मुनि कहा गया "सिद्धानां कपिलो मुनिः।"³⁴ इससे और स्पष्ट हो जाता है कि गीता में जो सांख्य है, वह कपिल प्रणीत सांख्य ही है।

सांख्य दर्शन के अनेक सिद्धान्त गीता में प्रयुक्त हुये हैं। जैसे कि सत्कार्यवाद, जो सांख्य दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों में से एक है। इसकी झलक गीता के एक श्लोक³⁵ में मिलती है। इसमें कहा गया है कि जो असत् है, उसकी सत्ता नहीं है और जो सत् है, उसका अभाव नहीं हो सकता है। यह स्पष्टतः सांख्य दर्शन के सत्कार्यवाद को द्योतित करता है। यही कारण है कि यह श्लोक दर्शन जगत् के मूर्धन्य विद्वान्, 'सर्वतन्त्र स्वतन्त्र' आचार्य वाचस्पति मिश्र द्वारा, सत्कार्यवाद के प्रकरण के अन्तर्गत 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' में उद्धरण के रूप में प्रयुक्त हुआ है।³⁶

इसमें सांख्य के प्रमुख तत्त्व त्रिगुणों के आधार पर कई सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है। गीता में त्रिगुण शरीर में आत्मा के समान है। जिस तरह शरीर से आत्मा को निकाल देने पर, वह निर्जीव हो जाता है, ठीक उसी तरह गीता के वर्णन से त्रिगुणों को निकलने पर उसका विवेचन निर्जीव सा ही प्रतीत होगा।³⁷

1.1.4 पुराणों में सांख्य दर्शन के तत्त्व —

'पुराण' भारतीय सांस्कृतिक इतिहास के प्राण हैं। पुराण शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार इसका अर्थ होता है — "पुराभवतं इति पुराणम्" अर्थात् जो पुराना है, वह पुराण कहलाता है। पुराणों की प्रमाणिक संख्या अट्टारह है। पुराण के पाँच लक्षण होते हैं, जिनमें सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, वंशानुचरित और मन्वन्तर शामिल हैं।³⁸ पुराणों के लक्षण की दृष्टि से देखें तो, सांख्य का प्रभाव पुराणों पर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है; क्योंकि सर्ग और प्रतिसर्ग निर्विवाद रूप से सांख्य के मुख्य विषयों में शामिल हैं। लक्षणों के अनुरूप सभी पुराणों में सृष्टि-प्रक्रिया

का वर्णन किया गया है। त्रिगुणात्मक प्रकृति से महदादि कार्यों का आविर्भाव और उनके क्रम का वर्णन, इनमें सांख्य के अनुरूप ही प्राप्त होता है।³⁹

1.1.5 आयुर्वेदशास्त्र में सांख्य दर्शन के तत्त्व —

आयुर्वेद शास्त्र के तीन अतीव महत्त्वपूर्ण एवं प्राचीन ग्रन्थ हैं; जिनमें — महर्षि चरक प्रणीत 'चरकसंहिता', महर्षि सुश्रुत कृत 'सुश्रुतसंहिता' एवं महर्षि वाग्भट्ट रचित 'अष्टांगहृदयम्' सम्मिलित हैं। ये तीनों ग्रन्थ आयुर्वेदशास्त्र की बृहत् त्रयी के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। इनमें चरकसंहिता प्राचीनतम एवं प्रधान है। यह आठ भागों में विभाजित है, उन भागों को 'स्थान' के नाम से जाना जाता है। उन आठों स्थानों के नाम अग्रलिखित हैं — सूत्रस्थान, निदानस्थान, विमानस्थान, शारीरस्थान, इन्द्रियस्थान, चिकित्सास्थान, कल्पस्थान एवं सिद्धिस्थान। प्रत्येक स्थान में अध्यायों की संख्या पृथक्-पृथक् है, कुल अध्यायों की संख्या एक सौ बीस है।

चरकसंहिता चिकित्सा-प्रधान ग्रन्थ है; लेकिन इसमें प्रसंगानुसार दार्शनिक विचारों का भी समावेश किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि महर्षि चरक केवल आयुर्वेद के ही नहीं, बल्कि दर्शन के भी विद्वान् थे। उन्होंने प्रकृति, पुरुष, बुद्धि, अहंकार, मन, इन्द्रियों, गुणत्रय आदि का उल्लेख इस संहिता में किया है, जो कि सांख्य दर्शन से सम्बन्धित विषय हैं। इसके अतिरिक्त शारीरस्थान के एक श्लोक में सांख्य एवं योग के नाम का उल्लेख भी मिलता है। चरकसंहिता की प्रसिद्ध टीका 'आयुर्वेददीपिका' के रचयिता चक्रपाणिदत्त ने अपनी टीका में 'योग' का अर्थ इस प्रकार किया है — "विषयव्यावृत्तस्य मनस आत्मन्येव परं योगम् ।"⁴⁰ अर्थात् विषयों से रहित मन को आत्मा में लगाना । इसी प्रकार 'सांख्य' का अर्थ करते हुए उन्होंने लिखा है — "संख्यातत्त्वज्ञानम्, तथा वर्तत इति सांख्यः ।"⁴¹ अर्थात् तत्त्व ज्ञान से युक्त शास्त्र 'सांख्य' है।

अगर चरकसंहिता में वर्णित तत्त्वमीमांसा की बात करें, तो यह ज्ञात होता है कि चरक ने चौबीस तत्त्वों का वर्णन किया है, जिनमें अष्ट प्रकृति एवं षोडश विकारों की गणना की गई है —

“खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहङ्कारस्तथाष्टमः ।

भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकाराश्चैव षोडश ॥

बुद्धीन्द्रियाणि पंचैव पंच कर्मेन्द्रियाणि च ।

समनस्काश्च पंचार्था विकारा इति संज्ञिताः ।।⁴²

अर्थात् — ‘ख’ आदि पंचमहाभूत⁴³ (आकाश, वायु, तेज, जल, एवं पृथ्वी), बुद्धि (महत्), अव्यक्त और अहंकार, ये आठ प्रकृति हैं तथा पंचज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन एवं घ्राण), पंचकर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, पायु एवं उपस्थ), मन एवं पंच इन्द्रियार्थ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध), ये सोलह विकार हैं ।

वर्तमान में प्रचलित सांख्य भी अष्ट प्रकृति एवं षोडश विकार रूप विभाजन को ही स्वीकार करता है, परन्तु यह चरक से किञ्चित् भिन्न रूप में है।⁴⁴ यहाँ अष्ट प्रकृति के अन्तर्गत, अव्यक्त, महत् (बुद्धि), अहंकार एवं पंचतन्मात्राओं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध) को शामिल किया जाता है, जबकि चरक में तन्मात्राओं के स्थान पर महाभूतों को रखा गया है। यहाँ षोडश विकारों के अन्तर्गत एकादशेन्द्रियों एवं पंचमहाभूतों की गणना की जाती है, जबकि चरक में पंचमहाभूतों के स्थान पर पंच इन्द्रियार्थों को स्थान दिया गया है। वर्तमान सांख्य में पंच इन्द्रियार्थों का नामोल्लेख नहीं है तथा चरक में पंचतन्मात्राओं का; जबकि सामान्यतः शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध को ही पंच इन्द्रियार्थ एवं पंचतन्मात्रायें कहा जाता है।

एक विशेष बात यह कि चरक के उपर्युक्त तत्त्व विभाजन में ‘पुरुष’ की चर्चा नहीं की गई है, जबकि वर्तमान सांख्य के विभाजन में पुरुष को ‘न प्रकृति न विकृति’ अनुभय रूप में प्रदर्शित पच्चीसवां तत्त्व स्वीकार किया गया है।⁴⁵ इसका कारण यह है कि चरक ‘पुरुष’ एवं ‘मूल प्रकृति’ दोनों को ही ‘अव्यक्त’ पद के अन्तर्गत रखते हैं।⁴⁶ अतः उपर्युक्त तत्त्व विभाजन में पृथक् से पुरुष का नामोल्लेख नहीं किया गया होगा।

तत्त्वमीमांसा के बाद, अब चरक में वर्णित सृष्टि-क्रम की चर्चा प्रस्तुत है। चूंकि तत्त्व विभाजन वर्तमान सांख्य से किञ्चित् भिन्न है, तो निश्चित ही सृष्टि क्रम भी भिन्न ही होगा। चरक सम्मत सृष्टि-क्रम में अव्यक्त से बुद्धि, बुद्धि से अहंकार, अहंकार से पंचमहाभूत यथा क्रम में उत्पन्न होते हैं और उनसे सम्पूर्ण सर्वांग की उत्पत्ति होती है।⁴⁷ यहाँ पर तत्त्व विभाजन में वर्णित षोडश विकारों का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है। जबकि ईश्वरकृष्ण ने तत्त्व विभाजन के अनुसार ही सृष्टि क्रम का उल्लेख किया है।⁴⁸ इतना ही नहीं उपर्युक्त चरक

सम्मत सृष्टि क्रम में पंचमहाभूतों से सम्पूर्ण सर्वांगों की उत्पत्ति बताई है, जबकि वर्तमान सांख्य में पंचमहाभूत स्वयं पंचतन्मात्राओं से उत्पन्न होते हैं।

डॉ. एस. एन. दासगुप्त ने चरक संहिता में वर्णित प्रमुख सांख्य सिद्धान्तों का उल्लेख संक्षेप एवं सारांश रूप में किया है, जो उन्हीं के शब्दों में निम्नवत् प्रस्तुत है –

“चरक में सांख्य दर्शन के कुछ प्रमुख सिद्धान्त बताये गए हैं – (1) पुरुष अव्यक्त दशा है। (2) इस अव्यक्त के साथ इसके उद्भवों के संयोग से जो राशि बनती है वह जीव को जन्म देती है। (3) तन्मात्र नहीं बताये गए हैं। (4) राज और तम मन की कुत्सित दशा के गुण हैं, जबकि सत्त्व उत्तम है। (5) मुक्ति की चरम दशा या तो आत्यन्तिक समाप्ति या प्रलय दशा है अथवा निर्लक्षण ब्रह्मत्व दशा है, उस दशा में कोई संज्ञा या चेतना नहीं रहती, क्योंकि चेतना आत्मा के साथ उसके बुद्धि अहंकार आदि उद्भवों के संयोग से पैदा होती है। (6) इन्द्रिय भौतिक हैं।”⁴⁹

चरकसंहिता में वर्णित यह सिद्धान्त वर्तमान सांख्य से तो मेल नहीं खाते, परन्तु दासगुप्त के अनुसार यह सिद्धान्त पंचशिख से अवश्य ही मेल खाते हैं।⁵⁰ पंचशिख सांख्य दर्शन के प्रसिद्ध आचार्यों में एक हैं।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवरण के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि चरक के समय सांख्य दर्शन की विचारधारा दार्शनिक विचारों के रूप में प्रधानतया प्रचलित थी। अब यहाँ एक जिज्ञासा का उदय होता है कि यदि चरक के समय सांख्य दर्शन की विचारधारा प्रचलित थी, तो उसका आधार क्या था ? इस जिज्ञासा के समाधान में हम यही कह सकते हैं कि चरक में वर्णित सांख्य का आधार ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका तो बिल्कुल भी नहीं हो सकती; क्योंकि सांख्यकारिका का समय लगभग 200 ई. स्वीकृत है और चरक का समय 78 ई. माना जाता है⁵¹ तथा चरक द्वारा ईश्वरकृष्ण के सिद्धान्तों का उल्लेख भी नहीं किया गया है। इससे यह पूर्णतः सिद्ध हो जाता है कि ईश्वरकृष्ण का सांख्य, जो सांख्यकारिका के रूप में वर्तमान में प्रचलित है, चरक से परवर्ती है।⁵² अतः इसका आशय यह हुआ कि चरकसंहिता सम्मत सांख्य के विचार सांख्यकारिका की किसी पूर्ववर्ती प्रणाली पर आधारित हैं। यदि उस प्रणाली को ‘षष्टितन्त्र’ के रूप में स्वीकृत किया जाता है और षष्टितन्त्र को कपिल की रचना मान लिया जाये; जैसा कि कुछ विद्वानों ने किया है⁵³, तो यह अवश्य ही

चरक से बहुत पूर्ववर्ती सिद्ध होती है; क्योंकि षष्टितन्त्र का वर्णन अहिर्बुध्न्य संहिता में भी किया गया है, जो चरकसंहिता से बहुत प्राचीन है।⁵⁴

अब यहाँ एक और शंका उपस्थित होती है कि यदि चरक का आधार ग्रन्थ 'षष्टितन्त्र' है और ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका का आधार ग्रन्थ भी षष्टितन्त्र ही है, जिसकी पुष्टि स्वयं ईश्वरकृष्ण ने अपनी सांख्यकारिका की बहत्तरवीं कारिका में की है — "सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य।"⁵⁵, तो फिर चरकसंहिता एवं सांख्यकारिका के सिद्धान्तों में भिन्नता क्यों है ? इस शंका के समाधान में यही कहा जा सकता है कि सांख्य का यह ज्ञान कपिल ने आसुरि को दिया, आसुरि ने अपने शिष्य पंचशिख को और इस प्रकार शिष्य परम्परा से आगत यह ज्ञान ईश्वरकृष्ण को प्राप्त हुआ।⁵⁶ ज्ञान प्राप्ति के इस क्रम में सदियों का अन्तराल है और इसी कालांतर के दौरान मूल षष्टितन्त्र के ज्ञान में स्वाभाविक परिवर्तन हो गया। यही कारण है कि चरक एवं ईश्वरकृष्ण के सिद्धान्त एक ही आधार के होने पर भी भिन्न-भिन्न हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णन के अनुसार यह ज्ञात होता है कि सांख्य दर्शन का उद्भव वैदिक काल में ही हो गया था और यह वैदिक साहित्य से चलकर महाभारत, गीता, पुराण तथा चरकसंहिता तक आते-आते अपने वर्तमान स्वरूप में पूर्णरूप से विकसित एवं परिष्कृत हो चुका था।

1.2 सांख्य दर्शन के प्राचीन एवं अर्वाचीन आचार्य —

सभी शास्त्रों के सिद्धान्त बीज रूप में कहीं न कहीं पूर्व से ही पाये जाते हैं और बाद में उन सिद्धान्तों को व्यवस्थित रूप देने वाले आचार्य को उन सिद्धान्तों का जनक स्वीकार कर लिया जाता है। इसी क्रम में सांख्य दर्शन भी है; जिसके बीज वैदिक साहित्य में ही दृष्टि गोचर हो जाते हैं और बाद में महर्षि कपिल द्वारा इसे सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप दिया गया। महर्षि कपिल के सभी परवर्ती सांख्य के आचार्यों ने इसी व्यवस्थित ज्ञान को अपना आधार मानकर आगे इस दर्शन का प्रचार-प्रसार एवं ग्रन्थ प्रणयन किया। यहाँ पर सांख्य के प्रमुख आचार्यों का परिचय प्रस्तुत है।

1.2.1 महर्षि कपिल –

जैसा कि पूर्व में वर्णन किया जा चुका है कि सांख्य दर्शन का उद्भव वैदिक काल में ही हो चुका था, लेकिन महर्षि कपिल द्वारा सर्वप्रथम सांख्य सिद्धान्तों को व्यवस्थित रूप प्रदान किये जाने के कारण उनको सांख्य दर्शन का आदि आचार्य माना जाता है। सर्वप्रथम श्वेताश्वतरोपनिषद् में कपिल का नामोल्लेख पूर्वक मन्त्र उद्धृत हुआ है – “ऋषि प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानञ्च पश्येत्।”⁵⁷ महर्षि कपिल ही सांख्य के आदि आचार्य हैं, इस सम्बन्ध में आचार्य पंचशिख का कथन सर्वाधिक प्रमाणित प्रतीत होता है। जिसमें उन्होंने महर्षि कपिल को आदि विद्वान्, भगवान् एवं परमर्षि आदि के द्वारा सम्बोधित किया है, साथ ही महर्षि द्वारा आसुरि को सांख्य तन्त्र का ज्ञान देने की बात भी कही है – “आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच”⁵⁸ इसी प्रकार सांख्यकारिका में श्रीमदीश्वरकृष्ण ने सांख्य दर्शन की आचार्य परम्परा को दर्शाते हुये महर्षि कपिल द्वारा सांख्य के ज्ञान को आसुरि तथा आसुरि द्वारा पंचशिख को प्रदान किये जाने का वर्णन किया गया है –

“एतत् पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ।

आसुरिरपि पंचशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम्॥”⁵⁹

श्रीमद्भागवत में भी महर्षि कपिल द्वारा काल-विलुप्त सांख्य का ज्ञान आसुरि को देने के सम्बन्ध में वर्णन मिलता है।⁶⁰ श्रीमद्भागवतगीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा स्वयं को सिद्धों में ‘कपिलमुनि’ बताया गया है।⁶¹ श्रीमद्भागवत पुराण में कपिल को महर्षि कर्दम और देवहूति का पुत्र बताया गया है, जो भगवान् विष्णु के अवतार माने जाते हैं।⁶² श्रीमद्भागवत के अनुसार भगवान् विष्णु के अवतारों की परम्परा में महर्षि कपिल, बुद्ध से बहुत पूर्ववर्ती माने गये हैं। श्रीमद्भागवत एवं महाभारत इत्यादि में कपिल के कई रूप देखने को मिलते हैं। महाभारत शान्तिपर्व में कपिल को ब्रह्मा पुत्र तथा अग्नि का अवतार माना गया है, वहीं श्रीमद्भागवत में इन्हें भगवान् विष्णु का पंचम अवतार माना गया है। इस प्रकार के विरुद्ध वर्णन के कारण बहुत से विद्वान् कपिल के ऐतिहासिक व्यक्ति होने में भी संदेह करते हैं। यह कहना भी कठिन हो जाता है कि सांख्य के प्रवर्तक कपिल इनमें से कौन हैं। कपिल की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में संदेह करने वालों में कीथ, जेकोबी, गोपीनाथ कविराज आदि

नाम शामिल हैं।⁶³ महर्षि कपिल के ऐतिहासिक व्यक्ति होने का सबसे बड़ा कारण प्राचीन परम्परा है, जिसका वर्णन पूर्व में हो चुका है। आचार्य उदयवीर शास्त्री ने भी अपनी पुस्तक 'सांख्य दर्शन का इतिहास' में कपिल की ऐतिहासिकता सिद्ध करने का अतीव तार्किक एवं सुसंगत प्रयास किया है।⁶⁴ उन्होंने यह भी सिद्ध करने का प्रयास किया है कि ब्रह्मसुत कपिल, विष्णु अवतार कपिल और अग्नि अवतार कपिल, ये तीनों पृथक्-पृथक् नहीं, अपितु एक ही व्यक्ति है।⁶⁵ अतः महर्षि कपिल कोई काल्पनिक व्यक्ति नहीं, अपितु सांख्य के आदि प्रवर्तक हैं और यह महर्षि कर्दम तथा देवहूति के पुत्र हैं।⁶⁶ यही अधिक युक्ति संगत लगता है। वैसे भी अनेक विरुद्ध वर्णन के बाद भी लगभग सभी विद्वानों की यह सम्मति अवश्य है कि सांख्य का प्रवर्तक कपिल नाम का ही कोई व्यक्ति है।

महर्षि कपिल ने अपने सांख्यसिद्धान्त 'षष्टितन्त्र' एवं 'तत्त्व-समास' नामक दो ग्रन्थों में प्रतिपादित किये थे। 'तत्त्वसमास' में केवल बाईस सूत्र ही हैं, इसलिये इसको 'द्वाविंशतिसूत्री' भी कहते हैं। यह बाईस सूत्र ही समस्त सांख्य दर्शन का मूल माने जाते हैं, क्योंकि यही बाईस सूत्र ही सम्पूर्ण सांख्य सिद्धान्तों का संकेत प्रदान करते हैं। इन्हीं के आधार पर बाद में 'षष्टितन्त्र' की रचना हुई। 'षष्टितन्त्र' को ही 'सांख्यषडाध्यायी' या 'सांख्य-सूत्र' भी कहा जाता है; लेकिन वर्तमान में जो 'सांख्यसूत्र' नामक ग्रन्थ उपलब्ध है उसको विद्वानों द्वारा कपिल की रचना नहीं माना जाता, इसका कारण यह है कि सोलहवीं शताब्दी में इस पर विज्ञानभिक्षु द्वारा भाष्य किया गया है और उसके पहले के ग्रन्थों में इसके उद्धरण भी नहीं मिलते। इसलिये इसको कपिल के बाद की रचना माना जाता है। उदयवीर शास्त्री यह मानते हैं कि वर्तमान सांख्यसूत्र महर्षि कपिल की ही रचना है, परन्तु उसमें कुछ प्रक्षिप्त अंश अवश्य शामिल प्रतीत होते हैं और कुछ अंशों के प्रक्षिप्त होने से सम्पूर्ण ग्रन्थ को हम, यह नहीं कह सकते कि वह कपिल की रचना है ही नहीं। उन्होंने 'सांख्यसूत्र' को कपिल की ही रचना स्वीकार किया है।⁶⁷

1.2.2 आचार्य आसुरि –

आचार्य आसुरि, महर्षि कपिल के शिष्य हैं, यह बात तो उपर्युक्त वर्णन से सिद्ध हो जाती है। शतपथ ब्राह्मण की एक कथा के अनुसार यह एक कर्मकाण्डी मीमांसक थे। बाद में कर्म से विरक्ति के कारण इन्होंने जिज्ञासु भाव से महर्षि कपिल का शिष्यत्व ग्रहण कर

सांख्य दर्शन का ज्ञान प्राप्त किया। महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ कविराज, गार्बे और कीथ महोदय ने आसुरि को ऐतिहासिक व्यक्ति स्वीकार किया है; लेकिन गार्बे एवं कीथ इनको शतपथ ब्राह्मण में वर्णित आसुरि से भिन्न मानते हैं। इस आधार पर आसुरि को निःसंकोच ऐतिहासिक व्यक्ति स्वीकार किया जा सकता है। आसुरि का समय बृहदारण्यक एवं छान्दोग्य उपनिषद् से पूर्व ब्राह्मण काल मानना उचित होगा तथा शतपथ ब्राह्मण की कथा को भी ऐतिहासिक स्वीकार किया जाना चाहिए।

आसुरि के सिद्धान्त को प्रतिपादित करता हुआ कोई ग्रन्थ वर्तमान में उपलब्ध नहीं है; लेकिन उनके नाम से अनेक ग्रन्थों में एक उक्ति “विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते, प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छो यथा चन्द्रमसोऽम्भसि” मिलती है। इस आधार पर यह तो कहा ही जा सकता है कि इन्होंने किसी ग्रन्थ की रचना अवश्य की होगी, लेकिन वह आज उपलब्ध नहीं है।

1.2.3 आचार्य पंचशिख –

आचार्य पंचशिख सांख्य दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य हैं। यह महर्षि कपिल के प्रशिष्य और आसुरि के शिष्य थे। महाभारत की एक कथा के अनुसार कपिला नामक एक ब्राह्मणी का दुग्धपान करने के कारण इन्हें ‘कपिलेय’ भी कहा जाता है।⁶⁸ महर्षि कपिल की परम्परा का निर्वहन करने के कारण भी इनका यह नाम युक्ति संगत लगता है और इसी बालक ने आगे जाकर पंचशिख नाम से प्रसिद्धि प्राप्त की।⁶⁹ महाभारत के ही एक अन्य स्थल पर इन्हें पराशर-सगोत्र एवं भिक्षु भी कहा गया है –

“पराशरसगोत्रस्य वृद्धस्य सुमहात्मनः।

भिक्षोः पंचशिखस्याहं शिष्यः परम सम्मतः।।”⁷⁰

पंचशिख नाम की व्युत्पत्ति करते हुए महाभारत में वर्णन मिलता है कि इनकी शिक्षा पंचनद प्रदेश में हुई, ये ‘पाञ्चरात्र’ सिद्धान्त में निष्णात थे, पंच विद्याओं में निपुण थे, पांच गुणों से युक्त ये पंच यज्ञादि करते थे, इसलिये इनका नाम पंचशिख पड़ा।⁷¹ भिक्षा वृत्ति से जीवन यापन करने के कारण इन्हें ‘भिक्षु’ भी कहा गया।

अनेक विद्वानों के अनुसार पंचशिखाचार्य की रचना 'षष्टितन्त्र' को माना जाता है। इसी में उनके सिद्धान्त प्रतिपादित हुये। परन्तु इनकी रचना भी अप्राप्त ही है। सांख्य एवं योग के ग्रन्थों में इसके उद्धरण अवश्य ही प्राप्त होते हैं। योगसूत्र के व्यासभाष्य में अनेक सूत्रों की व्याख्या में यह देखने को मिलता है।⁷² बाईसवीं सांख्यकारिका के गौडपाद भाष्य एवं भामती टीका में अग्रलिखित श्लोक प्राप्त होता है, जिसे विद्वान् पंचशिख द्वारा रचित मानते हैं —

“पंचविंशति तत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे रतः।

जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्रसंशयः।।”⁷³

अर्थात् — सांख्य के पच्चीस तत्त्वों को जानने वाला अवश्य ही मुक्त हो जाता है, इसमें कोई संशय का स्थान नहीं है। चाहे वह किसी भी आश्रम का हो, जैसे वह जटा रखने वाला हो, मुण्डन रखने वाला हो और चाहे वह शिखा रखता हो।

सत्रहवीं सांख्यकारिका के गौडपाद भाष्य में एक युक्ति का प्रयोग हुआ है, “पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते” इसको षष्टितन्त्र के नाम से बताया जाता है।

1.2.4 आचार्य विन्ध्यवासी —

आचार्य विन्ध्यवासी सांख्य के प्रसिद्ध आचार्य थे। इनका वास्तविक नाम रुद्रिल था। विन्ध्य पर्वत के वनों में रहने के कारण इनका नाम विन्ध्यवासी पड़ा। इनको विन्ध्यवास भी कहा गया है। कुछ विद्वान् विन्ध्यवासी एवं ईश्वरकृष्ण को एक ही व्यक्ति माना है; परन्तु ऐसा मानने के लिए कोई ठोस प्रमाण नहीं प्रस्तुत करते हैं। कुछ विद्वानों के मत में इनका समय ईसा की चौथी शताब्दी के अन्त से पांचवीं शताब्दी का मध्य है।

इनका कोई भी स्वतन्त्र ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता, जिसमें इनके सिद्धान्त वर्णित हों; लेकिन अनेक ग्रन्थ जैसे — श्लोकवार्तिक, तत्त्वसंग्रहपंजिका, योगसूत्र, भोजवृत्ति एवं सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका टीका इत्यादि में इनके सिद्धान्त मिलते हैं। इस आधार पर यह अनुमान लगता है कि इन्होंने कोई ग्रन्थ अवश्य ही रचा होगा। गोपीनाथ कविराज ने इनका ग्रन्थ सांख्यकारिका की 'हिरण्यसप्तति' नामक टीका को माना है। उनके मतानुसार इसे लिखने के उपलक्ष्य में विन्ध्यवासी को तीन लाख सोने की मोहरें मिली थीं।

1.2.5 आचार्य जैगीषव्य –

आचार्य जैगीषव्य भी सांख्य शास्त्र के प्रमुख आचार्य थे। यह विलक्षण प्रतिभा के धनी थे। ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार इनके पिता का नाम शतशलाक था।⁷⁴ अश्वघोष ने बुद्धचरित में इनकी गणना सांख्य के प्रमुख आचार्यों में की है।⁷⁵ वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी में इनको अनेक जन्मों की घटनाओं का स्मरण रखने वाला स्वीकार किया है।⁷⁶ इनका शिष्य असित देवल था। शान्ति पर्व में इनका असित देवल से ब्रह्म प्राप्ति विषयक संवाद अतिप्रसिद्ध है।⁷⁷ विभिन्न पुराणों में वर्णन मिलता है कि इनकी तीन पत्नियाँ थीं, जिनके नाम क्रमशः पर्णा, एकपाटला एवं योगवती था। योगसूत्र पर व्यासभाष्य में इनको जितेन्द्रिय कहकर संबोधित किया गया है।⁷⁸

इनके सिद्धान्त विषयक कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, फिर भी इनके सिद्धान्त महाभारत आदि ग्रन्थों में उल्लिखित हैं। इसी आधार पर इनका समय भी निर्धारित किया जा सकता है और इन्हें महाभारत काल से पूर्व कालिक माना जा सकता है। कुछ विद्वानों ने इन्हें पंचशिख के कुछ समय बाद का माना है। कूर्म पुराण में इन्हें पंचशिख का शिष्य स्वीकार किया गया है। इस विचार से इन्हें समकालीन मानना उचित प्रतीत होता है।

1.2.6 आचार्य वार्षगण्य –

आचार्य वार्षगण्य सांख्य परम्परा के प्रतिष्ठित आचार्यों में से एक हैं। महाभारत में वर्णित सांख्याचार्यों की सूची में इनका स्थान ईश्वरकृष्ण से पूर्व तथा विन्ध्यवासी के बाद रखा गया है। ईसा की प्रथम शताब्दी में प्रचलित बौद्ध दार्शनिक अश्वघोष ने इनकी 'पंचपर्वाऽविद्या' युक्ति का उल्लेख किया है।⁷⁹ वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी में इसी कथन को वार्षगण्य नाम से उद्धृत किया है।⁸⁰ इस आधार पर यह सिद्ध होता है कि प्रथम शताब्दी तक आचार्य वार्षगण्य सांख्य के एक प्रतिष्ठित आचार्य के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुके थे। अतः इनका काल प्रथम शताब्दी से पर्याप्त पूर्व का स्वीकार किया जाना अधिक उत्तम प्रतीत होता है।

इनके सिद्धान्त का प्रतिपादक भी कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ प्राप्त नहीं है फिर भी अन्य आचार्यों की भांति ही इनके सिद्धान्त भी अनेक ग्रन्थों में उद्धृत हैं। इस आधार पर यह तो कहा ही जा सकता है कि इनका कोई समृद्ध ग्रन्थ अवश्य रहा होगा। इनके अनुयायियों की

दीर्घ परम्परा होने के कारण उनका उल्लेख 'वार्षगणाः' के रूप में अनेक स्थलों पर किया गया है, जिनमें व्यासभाष्य⁸¹, युक्तिदीपिका इत्यादि शामिल हैं। सांख्य सिद्धान्तों के सम्बन्ध में वार्षगण्य की विशिष्ट मान्यतायें थीं, जो अन्य आचार्यों से अनेक स्थलों पर कुछ भिन्नता भी रखती हैं।

1.2.7 आचार्य वोढु –

आचार्य वोढु उनके नाम मात्र से ही प्रचलित हैं। इनके सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं। न तो इनका कोई ग्रन्थ है और न ही कहीं कोई उद्धरण ही मिलता। तर्पण विधि में ऋषि तर्पण में सांख्याचार्यों के नामों के पठन क्रम में इनका नाम आसुरि तथा पंचशिख के बाद आता है। "कपिलस्तृप्यताम्, आसुरिस्तृप्यताम्, पंचशिखस्तृप्यताम्, वोढुस्तृप्यताम्।"⁸² वामन पुराण में इनके नाम का उल्लेख कपिल के तथा आसुरि से पूर्व किया गया है "सांख्यवेत्तारमपरं कपिलं वोढुमासुरिम्।" इनका उल्लेख कूर्म पुराण में पंचशिख से पूर्व तथा आसुरि के बाद किया गया है "सारस्वतस्तथा मोघो धनवाहः सुवाहनः। कपिलश्चासुरिश्चैव वोढुः पंचशिखो मुनिः।।"⁸³ पुराणों में इन्हें सिद्धि प्राप्त योगी के रूप में स्मरण किया जाता है। विद्वानों ने इनका समय आसुरि और पंचशिख के मध्य ईसा पूर्व 500 के लगभग स्वीकार किया है।

1.2.8 आचार्य देवल –

देवल आचार्य सांख्य के प्राचीन आचार्यों में से एक हैं। यह बड़े ही सदाचारी व्यक्ति थे। इनका नाम भागवत पुराण में शुकदेव जी के स्वागत करने वाले ऋषियों में शामिल है।⁸⁴ श्रीमद्भगवद्गीता में भी सांख्य के आचार्यों में इनका नाम शामिल है।⁸⁵

महाभारत में देवल का नारद के साथ संवाद उपलब्ध है, जिसमें आठ भूत (भाव, अभाव, काल, पृथिवी, जल, वायु, आकाश तथा तेज) भाव से प्रेरित हुए काल को समस्त भूत और पृथिवी आदि पंचमहाभूतों का सृष्टा बताया गया है। इन्द्रियों के स्वयं के ज्ञान का निषेध किया गया है, किन्तु क्षेत्रज्ञ के ज्ञान की जनकता बताई गई है। इन्द्रियों से अलग चित्त है, उसके परे मन, उसके परे बुद्धि और उसके परे क्षेत्रज्ञ है। श्रोत, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण, चित्त, मन और बुद्धि, ये आठ ज्ञानेन्द्रियाँ बताई गई हैं। पुण्य और पाप के क्षयार्थ सांख्य का ज्ञान है। पाप और पुण्य के क्षीण होने पर ब्रह्म भाव बताया गया है।⁸⁶

उक्त संवाद में सांख्य की आचार संहिता विस्तृत रूपेण वर्णित है। माठरवृत्ति में उल्लिखित सांख्याचार्यों में इनके नाम का उल्लेख अन्त में ईश्वरकृष्ण के पूर्व हुआ है — “कपिलादासुरिणा प्राप्तमिदं ज्ञानाम्। ततः पंचशिखेन, तस्मात् भार्गवोलूकवाल्मीकिहारीतदेवलप्रभृतीनागतम्। ततस्तेभ्य ईश्वरकृष्णेन प्राप्तम्।”⁸⁷ इस वर्णन से यह पता चलता है कि ईश्वरकृष्ण देवल के शिष्य थे; लेकिन यदि देवल को ईश्वरकृष्ण का गुरु मान लिया जाये तो महाभारत और गीता में उल्लिखित देवल को अलग-अलग मानना होगा; क्योंकि इन दोनों के काल में अनेक शताब्दियों का अन्तर हो जाता है। इन सभी दृष्टियों से इनका समय 650 ईसा पूर्व मानना युक्तिसंगत लगता है।

1.2.9 सनकादि आचार्य —

यहाँ सनकादि आचार्य का अर्थ, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार एवं सनातन इत्यादि है। सांख्य की आचार्य परम्परा के सम्बन्ध में जहाँ भी चर्चा हुई, लगभग सभी स्थलों पर कुछ न कुछ भिन्नता अवश्य प्रतीत होती है। सांख्यकारिका पर गौडपाद भाष्य में प्रथम कारिका का भाष्य करते हुए गौडपादचार्य ने सांख्य की आचार्य परम्परा का उल्लेख करते हुये एक उद्धरण प्रस्तुत किया है, जिसमें सनक, सनन्दन, सनातन, आसुरि, कपिल, वोढु एवं पंचशिख इन सात आचार्यों को ब्रह्मा का पुत्र बताया है —

“सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः ।

आसुरिः कपिलश्चैव वोढुः पंचशिखस्तथा ॥

इत्येते ब्रह्मणः पुत्राः सप्त प्रोक्ता महर्षयः ॥”⁸⁸

महाभारत के शान्तिपर्व में भी सांख्य की आचार्य परम्परा का वर्णन मिलता है और यहाँ पर भी सांख्य के सात ही आचार्य बतलाये गए हैं; लेकिन यहाँ गौणपादाचार्य की सांख्य परम्परा से कुछ भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। यहाँ पर वर्णित सात आचार्यों में सन, सनत्सुजात, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, कपिल और सनातन को शामिल किया गया है —

“सनः सनत्सुजातश्च सनकः ससनन्दनः ।

सनत्कुमारः कपिलः सप्तमश्च सनातनः ॥

सप्तैते मानसाः प्रोक्ताः ऋषयो ब्रह्मणः सुताः ।

स्वयमागतविज्ञाना निवृत्तिं धर्ममाश्रिताः ।।

एते योगविदो मुख्याः सांख्यज्ञानविशारदाः ।

आचार्यो धर्मशास्त्रेषु मोक्षधर्मप्रवर्तकाः ।।⁸⁹

इन सनकादि आचार्यों में से केवल सनन्दन का वर्णन सांख्यसूत्र में सांख्याचार्य के रूप में हुआ है।⁹⁰ अन्यो के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं होता; परन्तु इनका नाम इस परम्परा में होने से इतना तो कहा ही जा सकता है कि इन आचार्यों ने अवश्य ही सांख्य पर कोई व्याख्यान दिया होगा या कोई रचना भी की होगी।

1.2.10 आचार्य ईश्वरकृष्ण —

ईश्वरकृष्ण सांख्य के मूल प्रवर्तक कपिल द्वारा प्रचारित विचार धारा के अनुयायी थे। कपिल की विचार धारा का संवर्धन आसुरि और पंचशिख आदि आचार्यों द्वारा किया गया है। इसी धारा के वाहक के रूप में ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका की रचना की थी, जो कि सांख्य का एक प्रकरण ग्रन्थ है और वर्तमान में उपलब्ध सांख्य दर्शन के मूल ग्रन्थों में सर्वाधिक प्रमाणित भी है। इनके सांख्यकारिका के रचनाकार होने के सम्बन्ध में तो इन्होंने स्वयं ही लिखा है।⁹¹ इनके समय, माता—पिता, जन्म—स्थान आदि के सम्बन्ध में कोई जानकारी प्रकाश में नहीं है। फिर भी इनके समय के सम्बन्ध में अनेक आचार्यों ने अपने अलग—अलग विचार प्रस्तुत किये हैं। उन सभी के विचारों में मतभेद की स्थिति स्पष्ट देखने को मिलती है। लेकिन अधिकतर विद्वानों द्वारा इनका समय लगभग 200 ई. स्वीकार किया गया है।⁹²

1.2.11 आचार्य विज्ञानभिक्षु —

विज्ञानभिक्षु सांख्य के अति प्रतिष्ठित अर्वाचीन आचार्य थे। इनका समय सोलहवीं शताब्दी एवं स्थान काशी माना जाता है। ईश्वरकृष्ण के बाद सांख्य परम्परा में व्याख्याकारों का ही युग रहा, जिनकी व्याख्याओं में सांख्यकारिका एवं सांख्यसूत्र की टीकायें शामिल हैं। इसी क्रम में विज्ञानभिक्षु ने सांख्यसूत्रों की व्याख्या 'सांख्यप्रवचनभाष्य' के रूप में की थी, जो आज सांख्य सूत्रों की सबसे प्रमाणिक व्याख्या मानी जाती है। इनके भाष्य पर आज अनेक विद्वानों द्वारा की गई व्याख्यायें उपलब्ध हैं। इन्होंने 'सांख्यप्रवचनभाष्य' के अतिरिक्त योगसूत्र के 'व्यासभाष्य' पर 'योगवार्तिक' तथा ब्रह्मसूत्र पर 'विज्ञानामृतभाष्य' भी लिखा। इस तरह

इनके तीन व्याख्या ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इनके दो प्रकरण ग्रन्थ भी हैं, जिनमें – ‘सांख्यसार’ एवं ‘योगसार’ शामिल हैं। इन ग्रन्थों में क्रमशः सांख्य एवं योग के सिद्धान्तों को संक्षेप में समझाया गया है। इनके सिद्धान्त की बात करें, तो यह पता चलता है कि इन्होंने सांख्य एवं वेदान्त का समन्वय कर पुनः सेश्वरसांख्य की स्थापना करने का प्रयास किया है। सांख्य की आचार्य परम्परा विज्ञानभिक्षु एवं उनके शिष्यों के बाद प्रायः समाप्त सी हो जाती है।

1.3 सांख्य दर्शन का प्राचीन एवं अर्वाचीन साहित्य –

सभी विचारधाराओं या पद्धतियों का अपने सिद्धान्त के अनुकूल एक समृद्ध साहित्य अवश्य ही होता है, जिसमें उस पद्धति या विचारधारा के सिद्धान्त एवं उसका इतिहास वर्णित होता है। किसी भी विचारधारा का साहित्य ही उसकी प्राचीनता, समृद्धता एवं प्रसिद्धि का सूचक होता है। भारतीय साहित्य अपनी विविधताओं के लिए प्रसिद्ध है। भारत वर्ष में ऐसी अनेक विचारधाराओं का प्रकटीकरण हुआ है, जो अतिप्राचीन होते हुये, आज भी अपने सिद्धान्तों एवं समृद्ध साहित्य भण्डार के कारण अपनी अनूठी पहचान बनाये रखने में सफल हैं। भारतीय दर्शन परम्परा की विचारधाराओं की भूमिका इसमें अग्रणी है। भारतीय दर्शन परम्परा की विचारधारा के इसी क्रम में, यहाँ पर सांख्य दर्शन की विचारधारा के समृद्ध साहित्य का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसमें सांख्य दर्शन के प्राचीन मौलिक ग्रन्थों में ‘तत्त्वसमाससूत्र’, ‘षष्टितन्त्र’, ‘सांख्यसूत्र’ एवं ‘सांख्यकारिका’ तथा अर्वाचीन मौलिक ग्रन्थ के रूप में विज्ञानभिक्षु कृत ‘सांख्यसार’ सम्मिलित हैं।

1.3.1 तत्त्वसमाससूत्र –

यह सांख्य दर्शन की अति महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमें केवल बाईस सूत्र ही हैं, जो अति संक्षिप्त एवं सरल हैं। ये सूत्र अग्रलिखित हैं – 1. अष्टौप्रकृतयः । 2. षोडशविकाराः । 3. पुरुषः । 4. त्रैगुण्यम् । 5. संचरः । 6. प्रतिसंचरः । 7. अध्यात्ममधिभूतमधिवतम् । 8. पंचाभिबुद्धयः । 9. पंचकर्मयोनयः । 10. पंचवायवः । 11. पंचकर्मात्मानः । 12. पंचपर्वाविद्या । 13. अष्टाविंशतिधाऽशक्तिः । 14. नवधा तुष्टिः । 15. अष्टधा सिद्धिः । 16. दशमूलिकार्थाः । 17. अनुग्रहः सर्गः । 18. चतुर्दशविधो भूतसर्गः । 19. त्रिविधो बन्धः । 20. त्रिविधो मोक्षः । 21. त्रिविधं प्रमाणम् । 22. त्रिविधं दुःखम् । लेकिन बाईस सूत्रों वाली इस रचना के कर्ता के

सम्बन्ध में वर्तमान समय में बहुत विवाद है। कुछ विद्वान् इसको कपिल की रचना मानते हैं और कुछ पंचशिख की; लेकिन कुछ विद्वान् इसका रचना काल चौदहवीं शताब्दी स्वीकार करते हुये, इसको किसी अज्ञात लेखक की कृति मानते हैं।

1.3.2 षष्टितन्त्र –

यह सांख्य दर्शन का अतीव महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है; क्योंकि सांख्यकारिका के रचयिता ईश्वरकृष्ण ने भी अपने ग्रन्थ का मूलाधार ग्रन्थ षष्टितन्त्र को ही बताया है।⁹³ इसका नाम 'षष्टितन्त्र' इसलिये पड़ा क्योंकि इसमें साठ पदार्थों का वर्णन है, जिनमें पाँच विपर्यय, नौ तुष्टियाँ, आठ सिद्धियाँ, अट्ठाईस अशक्तियाँ तथा दस मौलिक अर्थ शामिल हैं; परन्तु इसके रचयिता के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान् इसे कपिल की रचना मानते हैं, तो कुछ पंचशिख की। एक ओर जहाँ सांख्यकारिका पर जयमंगला टीका के कर्ता आचार्य शंकर ने इसको पंचशिख की रचना स्वीकार करते हुये अपनी टीका में लिखा है – "पंचशिखेन मुनिना बहुधा कृतं तन्त्रम्। षष्टितन्त्राणां षष्टिखण्डं कृतमिति। तत्रैव हि षष्टिरर्था व्याख्याताः।"⁹⁴ वहीं दूसरी ओर व्यास कृत ब्रह्मसूत्र भाष्यकार आदिशंकर ने इसको कपिल की रचना स्वीकार करते हुये अपने शारीरक भाष्य में लिखा है – "कपिलमहर्षिप्रणीत षष्टितन्त्राख्य स्मृतेः।"⁹⁵

1.3.3 सांख्यसूत्र –

सभी भारतीय दर्शनों के प्रवर्तक ग्रन्थ प्रायः सूत्रात्मक हैं। इसी आधार पर विद्वानों ने यह अनुमान किया कि सांख्य दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कपिल ने भी निश्चय ही सूत्र रूप में ग्रन्थ प्रतिपादित किया होगा, जो सांख्य के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता रहा होगा। इसके उद्धरण सांख्यकारिका आदि ग्रन्थों में होते चले आये हैं, परन्तु कुछ विद्वानों की मानें तो, वह शायद लिपिबद्ध ही नहीं हुआ। श्रुत परम्परा से वह पीढ़ी दर पीढ़ी जीवन्त बना है और आज जो सांख्यसूत्र उपलब्ध है, वह सम्भवतः आदि कपिल की रचना है ही नहीं। इन सबके बाद भी यह सांख्य सिद्धान्तों का अतीव महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें छः अध्याय हैं। इस पर तीन महत्त्वपूर्ण टीकाएँ उपलब्ध हैं, जो निम्नलिखित हैं –

(क) अनिरुद्धवृत्ति –

अनिरुद्ध द्वारा रचित यह ग्रन्थ सभी टीकाओं में प्राचीन है। इसका समय पंद्रहवीं शताब्दी माना जाता है। इसके पूर्व 'सांख्यसूत्र' की कोई भी टीका उपलब्ध नहीं होती, यहाँ तक कि सांख्य सूत्रों का किसी ने उद्धरण भी नहीं दिया।

(ख) सांख्यप्रवचनभाष्य –

यह भाष्य आचार्य विज्ञानभिक्षु की कृति है। यह सभी टीकाओं में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका समय सत्रहवीं शताब्दी माना जाता है।

(ग) वृत्तिसार –

यह अनिरुद्धवृत्ति पर लिखी गई उपटीका है। इसके रचयिता महादेव वेदान्ती हैं। इनका समय सत्रहवीं शताब्दी माना जाता है। यह विज्ञानभिक्षु से परवर्ती आचार्य हैं।

1.3.4 सांख्यकारिका –

श्रीमदीश्वरकृष्ण विरचित सांख्यकारिका वर्तमान समय में उपलब्ध सांख्य साहित्य में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण, प्रमाणिक एवं प्राचीन ग्रन्थ है। इसका रचना काल प्रायः 200 ई. स्वीकार किया जाता है। यह कुछ अन्य नामों द्वारा भी प्रचलित है, जिनमें सांख्यसप्तति, सुवर्णसप्तति, कणगसत्तरि आदि नाम शामिल हैं। यह सांख्य दर्शन के उपलब्ध ग्रन्थों में सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है, क्योंकि उपलब्ध सभी ग्रन्थों में यह सर्वप्राचीन है और यही कारण है कि यह वर्तमान में प्रचलित सांख्य दर्शन का मूल है। इसमें कुल 72 कारिकाएँ हैं। इन कारिकाओं की संख्या को लेकर भी विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वानों का मानना है कि इसमें 70 कारिकाएँ ही मूल हैं और अन्त की 2 कारिकाएँ प्रक्षिप्त हैं, जो बाद में जोड़ी हुई प्रतीत होती हैं। इसका कारण आचार्य गौडपाद द्वारा केवल 69 कारिकाओं पर ही भाष्य करना बताया जाता है; परन्तु यह मत अधिक तर्क पूर्ण प्रतीत नहीं होता है। कारण यह है कि 69 वीं कारिका तक ही सिद्धान्त पक्ष होने के कारण सम्भवतः आचार्य गौडपाद ने केवल उन्हीं 69 कारिकाओं पर भाष्य करना आवश्यक समझा होगा; क्योंकि 70 वीं कारिका जहाँ सांख्य की आचार्य परम्परा को दर्शाती है, वहीं 71 वीं कारिका सांख्य शास्त्र के ज्ञान का शिष्य परम्परा से होते हुये

ईश्वरकृष्ण तक पहुँचने का निर्देश करती है तथा 72 वीं कारिका महर्षि कपिल उपदिष्ट ज्ञान को ही इस ग्रन्थ का आधार बताती है। जो स्वतः ही स्पष्ट है और यही कारण है कि गौडपाद ने इन कारिकाओं पर भाष्य करना अधिक आवश्यक नहीं समझा होगा। अतः कारिकाओं की संख्या 72 ही उपयुक्त प्रतीत होती है।

सांख्यकारिका पर अनेक टीकायें उपलब्ध हैं, जिनमें प्रमुख हैं — आचार्य माठर विरचित 'माठरवृत्ति', अज्ञातकर्तृक 'युक्तिदीपिका', आचार्य गौडपाद प्रणीत 'गौडपादभाष्य', आचार्य शंकरकृत 'जयमंगला' एवं वाचस्पति मिश्र विरचित 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' ।

(क) माठरवृत्ति —

आचार्य माठरकृत सांख्यकारिका की यह टीका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं सबसे प्राचीन है। इसका रचना काल प्रायः छठवीं शताब्दी माना जाता है। इसमें सांख्यकारिका को सांख्यसप्तति के नाम से सम्बोधित किया गया है। इसमें एक अतिरिक्त 73 वीं कारिका की व्याख्या की गई है, जो सम्भवतः आचार्य माठर द्वारा स्वयं ही रची गई है। वह सांख्यकारिका की मूल कारिका नहीं; क्योंकि इसका उल्लेख अन्य आचार्यों द्वारा नहीं किया गया है, यदि यह मूल कारिका होती तो अन्य टीकाकारों में से कोई तो इसका उल्लेख अवश्य ही करता। अतः यह अतिरिक्त कारिका माठर की स्वयं की ही है। इस माठरवृत्ति की भाषा—शैली अत्यन्त सरल एवं सुबोध है। इसकी सर्वाधिक प्राचीनता के कारण परवर्ती टीकाकारों द्वारा इसको अपनी टीका का आधार बनाया गया है। माठरवृत्ति की उपलब्ध उपटीकाओं में, पण्डित थानेशचन्द्र उप्रेति कृत 'प्रबोधिनी' हिंदी व्याख्या अतीव महत्त्वपूर्ण है।

(ख) युक्तिदीपिका —

यह भी सांख्यकारिका की बहुत महत्त्वपूर्ण टीका है। इसके रचयिता के सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं है। कुछ विद्वान् इसको ईश्वरकृष्ण की रचना स्वीकार करते हैं; परन्तु अधिकतर विद्वान् इसको किसी अज्ञात कर्ता की रचना मानते हैं। वर्तमान समय में उपलब्ध युक्तिदीपिका सभी 72 कारिकाओं पर उपलब्ध नहीं होती है। यह सांख्यकारिका पर उपलब्ध सभी टीकाओं में सबसे विस्तृत व्याख्या वाली टीका है। युक्तिदीपिका की उपटीकाओं में सर्वप्रथम पुलिनबिहारी चक्रवर्ती द्वारा 1938 में प्रकाशित की गयी थी। उसके बाद आर. सी. पाण्डेय ने 1967 में

इसका प्रकाशन किया। वर्तमान में प्रचलित श्री केदारनाथ त्रिपाठी द्वारा 1996 में हिंदी टीका एवं रमेश के. शर्मा की अंग्रेजी टीका अत्यन्त उपयोगी टीकायें हैं।

(ग) गौडपादभाष्य –

आचार्य गौडपाद द्वारा विरचित होने के कारण इस टीका का नाम आचार्य के नाम पर ही प्रसिद्ध है। इसके रचयिता गौडपाद आदि शंकराचार्य के गुरु गौडपाद से अलग हैं। इसमें आचार्य द्वारा केवल 69 कारिकाओं पर ही व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इसका समय छठवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है। यह माठरवृत्ति से अधिक साम्य रखती है, इस कारण ऐसा प्रतीत होता है कि माठरवृत्ति ही इसकी आधार टीका है। गौडपादभाष्य पर उपलब्ध उपटीकाओं में पण्डित ज्वालाप्रसाद गौड़ कृत 'भाष्यभाववर्णिनी', श्री गुरुप्रसाद शास्त्री विरचित 'अभिनवराजलक्ष्मी' एवं आचार्य जगन्नाथ शास्त्री की टीकायें ही मुख्य रूप से शामिल हैं।

(घ) जयमंगला –

यह टीका अन्य टीकाओं की अपेक्षा अत्यन्त संक्षिप्त एवं सारगर्भित है। इसके रचनाकार कोई शंकर नामक आचार्य हैं, जो सम्भवतः आदि शंकर से भिन्न हैं। इनका समय काल सातवीं शताब्दी माना जाता है।

(ङ) सांख्यतत्त्वकौमुदी –

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र श्री वाचस्पति मिश्र प्रणीत यह टीका सांख्यकारिका की समस्त टीकाओं में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। श्री वाचस्पति मिश्र सभी दर्शनों के मर्मज्ञ थे। इनका समय नौवीं शताब्दी माना जाता है। इसे आधुनिक समय में सर्वाधिक पढ़ी जाने वाली एवं सर्वाधिक उपटीकाओं वाली सांख्यकारिका की टीका का गौरव प्राप्त है। इसकी उपटीकाओं में श्रीकृष्णवल्लभाचार्य कृत 'किरणावली', श्री बलराम उदासीन कृत 'विद्वत्तोषिणी', श्री शिवनारायण शास्त्री कृत 'सारबोधिनी' एवं श्री गजानन शास्त्री 'मुसलगाँवकर' कृत 'तत्त्वप्रकाशिका' अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

इस प्रकार उपरोक्त सम्पूर्ण वर्णन से यह निष्कर्ष निकलता है कि सांख्य दर्शन का इतिहास अत्यन्त ही समृद्ध एवं महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि सांख्य दर्शन के उद्भव के संकेत

बीजरूप में वैदिक काल से ही प्राप्त होना आरम्भ हो जाते हैं। उपनिषद् काल तक आते-आते सांख्य दर्शन का वह बीज अंकुरित होकर पादप का रूप धारण कर लेता है। सांख्य दर्शन रूपी पादप उपनिषद् काल से आगे चलकर महाभारत, गीता, पुराण तथा आयुर्वेदशास्त्र तक आते-आते पल्लवित एवं पुष्पित हो चुका था और सांख्य दर्शन का यह विकसित एवं परिष्कृत रूप ही इसके वर्तमान स्वरूप के अत्यधिक समीप है। साथ ही यह निष्कर्ष भी प्राप्त होता है कि महर्षि कपिल को सर्वसम्मति से सांख्य दर्शन का आदि आचार्य तथा सांख्य दर्शन का प्राचीनतम ग्रन्थ षष्टितन्त्र को स्वीकार किया जाता सकता है एवं उपलब्ध साहित्य में सांख्यकारिका को सर्वाधिक प्रमाणिक ग्रन्थ माना जाता है।

.....

सन्दर्भ —

1. उपाध्याय, बलदेव, पुराण-विमर्श, पृष्ठ — 5
2. ऋग्वेद — 10/4/5
3. मुसलगाँवकर, गजानन शास्त्री, सांख्यतत्त्वकौमुदी, भूमिका, पृष्ठ — 4
4. ऋग्वेद — 10/129/3
5. मुसलगाँवकर, गजानन शास्त्री, सांख्यतत्त्वकौमुदी, भूमिका, पृष्ठ — 7
6. मिश्र, आद्याप्रसाद, सांख्यतत्त्वकौमुदी-प्रभा, पृष्ठ — 12
7. शास्त्री, उदयवीर, सांख्य-सिद्धान्त, पृष्ठ — 384
8. वही, पृष्ठ — 384-385
9. वही, पृष्ठ — 397-398
10. 'तत्त्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यम्' — श्वेताश्वतरोपनिषद् — 6/13
11. 'ऋषि प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानञ्च पश्येत्', श्वेताश्वतरोपनिषद् — 5/2
12. श्वेताश्वतरोपनिषद् — 1/8
13. वही — 1/9
14. 'तमेकनेमिं त्रिवृत्तं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्याराभिः', श्वेताश्वतरोपनिषद् — 1/4
15. मुसलगाँवकर, गजानन शास्त्री, सांख्यतत्त्वकौमुदी, भूमिका, पृष्ठ — 9
16. श्वेताश्वतरोपनिषद् — 4/10
17. मुसलगाँवकर, गजानन शास्त्री, सांख्यतत्त्वकौमुदी, भूमिका, पृष्ठ — 9
18. 'कृतस्तु खलु सोम्येवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेत इति ।',
छान्दोग्योपनिषद् — 6/2/2
19. कठोपनिषद् — 1/3/10,11
20. 'यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्', महाभारत — 1/56/33
21. उपाध्याय, बलदेव, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ — 57
22. 'कपिलं परमर्षिं च प्राहुर्यतयः सदा । अग्निः स कपिलो नाम सांख्ययोगप्रवर्तकः ।।'
महाभारत — 3/221/21
23. महाभारत — 12/301/3
24. वही — 12/301/109

25. वही — 12 / 308 / 6—7
26. 'गणेशं जगतः शम्भुं लोककारणकारणम् । प्रधानपुरुषातीतं परं सूक्ष्मतरं हरम् ।।'

महाभारत — 3 / 36 / 79
27. वही — 12 / 339 / 43
28. वही
29. वही — 13 / 124 / 8
30. शास्त्री, उदयवीर, सांख्य सिद्धान्त, पृष्ठ — 448—449
31. श्रीमद्भगवद्गीता — 3 / 3, 5 / 4, 5 / 5, 18 / 13
32. वही — 18 / 13
33. शास्त्री, उदयवीर, सांख्य सिद्धान्त, पृष्ठ — 449
34. श्रीमद्भगवद्गीता — 10 / 26
35. 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' श्रीमद्भगवद्गीता — 2 / 16
36. सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका — 9
37. शास्त्री, उदयवीर, सांख्य सिद्धान्त, पृष्ठ — 449
38. 'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वंतराणि च । वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम् ।।'

विष्णु पुराण — 3 / 6 / 24
39. शास्त्री, उदयवीर, सांख्य—सिद्धान्त, पृष्ठ — 484
40. चक्रपाणिदत्त, आयुर्वेददीपिका, चरक संहिता, शारीरस्थान, — 5 / 17
41. वही
42. चरकसंहिता, शारीरस्थान — 1 / 63—64
43. 'पंचमहाभूत...तेजश्चक्षुषि, खं श्रोत्रे, घ्राणे क्षिति, आपो रसने, स्पर्शनेऽनिलो....'

चरकसंहिता, सूत्रस्थान — 8 / 14
44. सांख्यकारिका — 3
45. वही
46. चरकसंहिता, शारीरस्थान — 1 / 59—61
47. वही — 1 / 66—67
48. सांख्यकारिका — 22
49. दासगुप्त, एस. एन., भारतीय दर्शन का इतिहास (भाग —1), पृष्ठ — 206

50. वही
51. वही, पृष्ठ — 202
52. वही, पृष्ठ — 207—208
53. (क) 'कपिलमहर्षिप्रणीत षष्टितन्त्राख्य स्मृतेः।' शांकरभाष्य, ब्रह्मसूत्र — 2/1/1
 (ख) दासगुप्त, एस. एन., भारतीय दर्शन का इतिहास (भाग —1), पृष्ठ — 210
 (ग) शास्त्री, उदयवीर, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृष्ठ — 96
54. दासगुप्त, एस. एन., भारतीय दर्शन का इतिहास (भाग —1), पृष्ठ — 209
55. सांख्यकारिका — 72
56. वही — 70—71
57. श्वेताश्वतरोपनिषद् — 5/2
58. व्यासभाष्य, योगसूत्र — 25
59. सांख्यकारिका — 70
60. 'पंचमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविलुप्तम् । प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम् ।।' श्रीमद्भागवत पुराण — 1/3/10
61. 'सिद्धानां कपिलो मुनिः', श्रीमद्भगवद्गीता — 10/26
62. श्रीमद्भागवत पुराण — 3/24
63. शास्त्री, उदयवीर, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृष्ठ — 26—27
64. वही
65. वही, पृष्ठ — 9—16
66. वही, पृष्ठ — 10
67. वही, पृष्ठ — 94—95
68. महाभारत — 12/218/15—16
69. वही — 12/02/08
70. वही — 12/320/24
71. वही — 12/02/08
72. व्यासभाष्य, योगसूत्र — 1/4, 1/25, 1/36, 2/5, 2/6, 2/13, 3/13, 3/41
73. गौड़पादभाष्य, कारिका — 22
74. ब्रह्माण्ड पुराण — 3/10/12

75. अश्वघोष, बुद्धचरित — 12/67
76. सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका — 2
77. महाभारत — 12/2/22
78. 'चित्तैकाग्रयादप्रतिपत्तिरेवेति जैगीषव्यः', व्यासभाष्य, योगसूत्र — 2/55
79. अश्वघोष, बुद्धचरित — 12/33
80. 'पंचपर्वाविद्येत्याह भगवान् वार्षगण्यः', सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका — 47
81. व्यासभाष्य, योगसूत्र — 3/53
82. शास्त्री, जगन्नाथ, सांख्यकारिका, आमुख पृष्ठ — 7
83. कूर्म पुराण — 1/53/15
84. श्रीमद्भागवत पुराण — 1/19/10
85. श्रीमद्भगवद्गीता — 10/13
86. महाभारत — 12/274/39
87. माठरवृत्ति, कारिका — 71
88. गौडपादभाष्य, कारिका — 1
89. महाभारत — 12/340/67-69
90. 'लिङ्गशरीरनिमित्तक इति सनन्दनाचार्यः ।।' , सांख्यसूत्र — 6/69
91. सांख्यकारिका — 71
92. दासगुप्त, एस. एन., भारतीय दर्शन का इतिहास (भाग -1), पृष्ठ — 202
93. सांख्यकारिका — 72
94. जयमंगला, कारिका — 70
95. शांकरभाष्य, ब्रह्मसूत्र — 2/1/1

.....

द्वितीय अध्याय

कार्य—कारणवाद की अवधारणा

कोई भी दर्शन अथवा विज्ञान कार्य—कारणवाद को स्वीकार किये बिना कुछ भी प्रगति नहीं कर सकता। प्राकृतिक घटनाओं एवं लौकिक व्यवहार में भी बौद्धिक आधार पर कारणता का सिद्धान्त दृष्टिगोचर होता है। कोई भी प्राकृतिक घटना बिना कारण के नहीं होती। कार्य—कारणवाद प्रकृति का अबाध्य नियम है। दर्शनशास्त्र में कार्य—कारणवाद का सिद्धान्त मुख्यतः सृष्टि की उत्पत्ति से संबंधित है। सृष्टि की उत्पत्ति किस कारण से होती है ? वह कारण एक है अथवा अनेक ? उसका स्वरूप क्या है ? वह प्रधान कारण जड़ है अथवा चेतन ? क्या कारण एवं कार्य एक दूसरे से पृथक् हैं ? क्या कारण से पृथक् कार्य एक नवीन सृष्टि है अथवा कार्य पहले से ही कारण में विद्यमान है ? क्या कार्य कारण का अवस्था परिवर्तन मात्र है ? ऐसे अनेक प्रश्न कार्य—कारणवाद की समस्या में विद्यमान रहते हैं।

प्रत्येक कार्य (उत्पाद) का कोई न कोई कारण अवश्य ही होता है, क्योंकि बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। जैसे — मिट्टी (कारण) के बिना घड़े (कार्य) की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। मिट्टी को घड़े का उपादान कारण कहते हैं। घड़े का निर्माता कुम्हार, घड़े का निमित्त कारण है। इस प्रकार एक ही कार्य के निमित्त आदि कारण भेद से, एक से अधिक कारण हो सकते हैं, लेकिन उनमें से कोई एक ही मूल (उपादान) कारण होता है, जिसके अभाव में कार्य सम्भव नहीं होता है। दर्शनशास्त्र में 'कार्य—कारणवाद' के प्रत्यय के अन्तर्गत सृष्टिशास्त्र को समझने का प्रयास किया जाता है। विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदाय अपनी—अपनी तत्त्वमीमांसीय मान्यताओं के अनुरूप कार्य—कारणवाद की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

2.1 सांख्येतर भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में कार्य—कारणवाद की अवधारणा —

भारतीय दर्शन में कार्य—कारणवाद के दो मुख्य सिद्धान्त विद्यमान हैं — सत्कार्यवादी एवं असत्कार्यवादी । इन दोनों सिद्धान्तों में भिन्नता इस बिन्दु पर है कि उत्पत्ति के पूर्व कार्य अपने कारण में विद्यमान है अथवा नहीं। सत्कार्यवादी उत्पत्ति के पूर्व कारण में कार्य की सत्ता स्वीकार करते हैं, जबकि असत्कार्यवादी उत्पत्ति के पूर्व कार्य को असत् मानते हैं। असत्कार्यवादियों के अनुसार कार्य एक नवीन सृष्टि है, जो पहले से ही अपने कारण में

विद्यमान नहीं रहता है। कार्य उत्पन्न होने से ही अस्तित्व में आता है। इसलिये असत्कार्यवाद को आरम्भवाद भी कहा जाता है। आरम्भवाद के अनुसार उत्पत्ति के पहले यदि कार्य विद्यमान है, तो वह अस्तित्वमान होने से पहले से ही 'उत्पन्न' है; इसलिये उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। फिर से उसकी उत्पत्ति पुनरुत्पत्ति है, उत्पत्ति नहीं, जो कि व्यर्थ तथा अनावश्यक है। निदानतः कार्य का अस्तित्व उसके उत्पन्न होने से ही आरम्भ होता है। कार्य एक नवीन सृष्टि है, जो अपने कारण में विद्यमान नहीं है। यदि घड़ा मिट्टी में तथा दही दूध में पहले से ही विद्यमान है, तो कुम्हार को मिट्टी से घड़ा बनाने के लिये मेहनत करने की क्या आवश्यकता है ? यदि कारण में कार्य पहले से ही विद्यमान होता, तो दूध एवं दही में कोई अन्तर नहीं होता और तब दूध का स्वाद दही जैसा ही होता।

भारतीय दर्शन के कुछ सम्प्रदाय आरम्भवाद या असत्कार्यवाद को मानते हैं एवं कुछ सत्कार्यवाद को मानते हैं। हीनयानी बौद्ध दर्शन, वैशेषिक दर्शन, न्याय दर्शन तथा मीमांसा दर्शन के कुछ सम्प्रदाय असत्कार्यवाद या आरम्भवाद को मानते हैं। कार्य-कारणवाद के रूप में असत्कार्यवाद को मानने के उपरान्त भी कारण के भेद से इनमें परस्पर भिन्नता है। हीनयानी बौद्ध मत अनित्य परमाणु कारणवाद या क्षणभंगवाद को स्वीकार करते हैं। वैशेषिक, नैयायिक और कुछ मीमांसक नित्य परमाणु कारणवाद को स्वीकार करते हैं।

'असत्कार्यवाद' के विपरीत 'सत्कार्यवाद' है। इसके अनुसार कार्य उत्पत्ति के पहले भी अपने कारण में विद्यमान रहता है। कार्य उत्पन्न होने के पहले भी 'सत्' है, इसे मानने के कारण इस सिद्धान्त का नाम सत्कार्यवाद है। कारण, कार्य की बीजावस्था है एवं कार्य में भी कारण स्वभावतः विद्यमान रहता है। कार्य कोई नवीन सृष्टि नहीं बल्कि कारण का अवस्था परिवर्तन मात्र है। उत्पन्न होने का अर्थ बिल्कुल नवीन उत्पत्ति नहीं है एवं विनाश का अर्थ 'सर्वथा विनाश' नहीं है। उत्पत्ति का अर्थ कारण में बीज रूप से विद्यमान रहने वाले कार्य का व्यक्त रूप में दिखाई देना तथा विनाश का अर्थ उस व्यक्त अर्थ का पुनः कारण में विलीन हो जाना है। सांख्य उत्पत्ति का अर्थ सर्ग के रूप में प्रकट होना तथा विनाश का अर्थ तिरोभाव या लयावस्था के रूप में स्वीकार करता है। कारण एवं कार्य एक ही वस्तु के दो रूप हैं। कारणावस्था अव्यक्त रूप है तथा कार्यावस्था व्यक्त रूप है।

इस स्थल पर सत्कार्यवादियों में भेद उत्पन्न हो जाता है। जो कारण से कार्य के परिवर्तन को वास्तविक या तात्त्विक मानते हैं उन्हें 'परिणामवादी' कहा जाता है एवं जो इस परिवर्तन को अवास्तविक या अतात्त्विक (आभासिक) मानते हैं, उन्हें 'विवर्तवादी' कहा जाता है। सांख्य-योग और रामानुज वेदान्त परिणामवाद को मानते हैं। जहाँ सांख्य-योग के परिणामवाद का नाम 'प्रकृति-परिणामवाद' है वहीं रामानुज वेदान्त 'ब्रह्म-परिणामवाद' को स्वीकार करता है। अद्वैत-वेदान्त 'ब्रह्म-विवर्तवाद' को स्वीकार करता है।

'परिणामवाद' और 'विवर्तवाद' में मुख्य अन्तर कार्य के स्वरूप के कारण है। जहाँ सांख्य मूल तत्त्व के निरन्तर परिवर्तन एवं विकृति को 'परिणाम' की संज्ञा देकर इसे सत् स्वीकार करता है, वहीं अद्वैत-वेदान्त मूल कारण को सदा एक जैसा ही मानता है और कार्य को केवल नाम-रूप के मिथ्या आभास मात्र मानता है, जिसे सत् नहीं कहा जा सकता। सांख्य एवं अद्वैत-वेदान्तियों के कार्य-कारणवाद में समानता 'कारण' की एकता को लेकर है। दोनों इस बात में तो सहमत हैं कि सृष्टि का कारण तो एक है किन्तु सांख्य सूक्ष्म अव्यक्त प्रकृति को जगत् के पदार्थों का वास्तविक कारण स्वीकार करता है, जबकि अद्वैत-वेदान्त भी इसका कारण तो 'ब्रह्म' को ही स्वीकार करता है किन्तु कार्य को वास्तविक न मानकर प्रतीति स्वीकार करते हुये, जगत् को ब्रह्म की विकृति स्वीकार नहीं करता। सांख्य के लिए कारण एवं कार्य दोनों सत् हैं जबकि अद्वैत-वेदान्त केवल 'कारण' को ही सत् मानता है। अतएव कुछ विद्वान् अद्वैत-वेदान्त के कार्य-कारणवाद को सत्कार्यवाद के स्थान पर 'सत्कारणवाद' कहना पसंद करते हैं। डॉ. एस. एन. दासगुप्त ने अपने चिरप्रतिष्ठित ग्रन्थ 'भारतीय दर्शन का इतिहास' में दोनों दर्शनों के इस सूक्ष्म अन्तर की ओर निम्नलिखित शब्दों में ध्यान आकृष्ट किया है –

“बहुधा सांख्य और वेदान्त दोनों के कार्य-कारण सिद्धान्त को सामान्य भाषा में सत्कार्यवाद कह दिया जाता है, किन्तु सही मायनों में जैसा कि प्रबुद्ध टीकाकारों ने स्पष्ट किया है, वेदान्त के कारण-सिद्धान्त को सत्कारणवाद कहना चाहिये; क्योंकि उसकी मान्यता है कि केवल कारण ही सत् (विद्यमान) है, कार्य तो केवल कारण के ही मायात्मक आभास हैं। सांख्य के मतानुसार कार्य-कारण के अन्दर विद्यमान रहता है और बीज रूप में कारण में कार्य की सत्ता होने से वह भी सत् है।”¹

वेदान्त-परिभाषाकार के 'परिणाम' एवं 'विवर्त' शब्दों के अर्थ निरूपण से भी 'सत्कार्यवाद' एवं 'सत्कारणवाद' का यह भेद स्पष्ट हो जाता है। वेदान्त-परिभाषा का यह कथन द्रष्टव्य है —

“परिमाणोनाम उपादान समसत्ताककार्यापत्तिः ।

विवर्तोनाम उपादान विषमसत्ताककार्यापत्तिः ॥”²

अर्थात् — उपादान की जैसी सत्ता हो ठीक वैसी सत्ता से युक्त कार्य की उसे (उपादान को) प्राप्ति होना परिणाम कहलाता है और उसकी (उपादान की) सत्ता की अपेक्षा विषम सत्ता से युक्त कार्य की प्राप्ति होना विवर्त कहलाता है।

यदि कार्य अपने उपादान कारण का समसत्ताक है, तो वह परिणाम कहलायेगा और यदि कार्य अपने उपादान कारण का विषमसत्ताक है, तो वह विवर्त कहलायेगा । सांख्य दर्शन के अनुसार समस्त कार्यजगत् प्रकृति का कार्य-व्यापार है। प्रकृति का परिणाम यह समस्त कार्य-जगत् है। जो जड़ होने से उसका समसत्ताक है। अद्वैत-वेदान्त के अनुसार विवर्त वह कार्य है, जो अपने उपादान कारण से भिन्न (विषम) है। अविद्या का कार्य होने से यह जगत् उसका परिणाम है, जबकि स्वयं अविद्या का अधिष्ठान ब्रह्म होने से यह जगत् ब्रह्म का विवर्त है।

उपर्युक्त सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के विपरीत चार्वाक दर्शन कार्य-कारणवाद को स्वीकार ही नहीं करता; क्योंकि वह अनुमान को प्रमाण नहीं मानता। चार्वाक दर्शन के अनुसार सृष्टि में विद्यमान अनुवर्तिता, व्यवस्था एवं वैचित्र्य कारणजन्य नहीं होकर स्वभावजन्य है, इसलिये उसका मत 'स्वभाववाद' कहा जाता है।

2.2 सांख्य दर्शन में कार्य-कारणवाद की अवधारणा —

सांख्य दर्शन को 'सत्कार्यवाद' स्वीकार्य है और इसके कार्य-कारणवाद के सिद्धान्त को 'प्रकृति-परिणामवाद' कहा जाता है। सत्कार्यवाद के अनुसार कारण-व्यापार के पश्चात्, कार्य जिस प्रकार विद्यमान रहता है उसी प्रकार, कारण-व्यापार के पूर्व भी अपनी उत्पत्ति के पूर्व अपने कारण में विद्यमान रहता है। वस्तुतः कार्य एवं कारण में अभेद है। कार्य, कारण की ही अभिव्यक्ति है। सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य एवं कारण दोनों सत् हैं। यह जगत्

इसके मूल कारण, प्रकृति का कार्य है। कार्य एवं कारण दोनों के सत् होने के कारण ही जगत् के पदार्थों से इसके मूल कारण प्रकृति का अनुमान सम्भव है। प्रकृति की सिद्धि केवल 'सत् से सत् के उत्पन्न' होने पर ही हो सकती है। अतएव सत् से सत् उत्पन्न होता है, इस कार्य-कारणवाद के सिद्धान्त (सत्कार्यवाद) की सिद्धि के लिए सांख्यकारिकाकार प्रवृत्त होते हैं। वे सत्कार्यवाद को पाँच हेतुओं द्वारा सिद्ध करते हैं। ये पाँच हेतु अग्रलिखित कारिका में निहित हैं —

“असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।

शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥”³

अर्थात् — असत् को उत्पन्न न कर सकने से, उपादान के ग्रहण करने से, सब कारणों से सब कार्यों की उत्पत्ति न होने से, जो जिसके उत्पादन में समर्थ है, उस कारण से वही कार्य होने से और कारण की सत्ता होने से कार्य सत् है। इन पाँच हेतुओं का पृथक्-पृथक् विवेचन निम्नवत् है —

2.2.1 असदकरणात् —

इस हेतु का अभिप्राय यह है कि जो पूर्व से ही अविद्यमान है, उसकी उत्पत्ति असम्भव है, क्योंकि जो पूर्व से विद्यमान नहीं है वह असत् है और जो असत् है वह कभी सत् नहीं हो सकता। सत् से ही सत् उत्पन्न हो सकता है असत् से नहीं। जिस प्रकार वन्ध्या-पुत्र, शश-शृंग, गगन-पुष्प आदि ये सभी असत् हैं, इसलिये ये कभी उत्पन्न नहीं हो सकते।

कार्य आवश्यक रूप से कारण से जुड़ा हुआ है। कार्य यदि उत्पत्ति के पूर्व कारण में विद्यमान नहीं है, तो वह बाद में उत्पन्न नहीं हो सकता। यही 'असत्करणात्' पद का अभिप्राय है। सांख्य उत्पत्ति के पहले भी कार्य को कारण में सत् मानता है। यही सत्कार्यवाद की मान्यता है। इसके ठीक विपरीत न्याय-वैशेषिक दर्शन की 'असत्कार्यवाद' की मान्यता है, जिसके अनुसार 'कार्य' उत्पत्ति के पूर्व 'कारण' में असत् है। इस हेतु (असत्करणात्) के द्वारा मुख्यतः न्याय-वैशेषिक दर्शन के इस सिद्धान्त का ही खण्डन किया गया है।

वाचस्पति मिश्र ने सांख्यकारिका पर अपने ग्रन्थ सांख्यतत्त्वकौमुदी में, भारतीय दर्शन में प्रचलित 'कारणता' से सम्बन्धित चार मुख्य सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। प्रथमतः —

बौद्धों के अनुसार "असतः सज्जायते" अर्थात् असत् से सत् उत्पन्न होता है। द्वितीयतः – अद्वैतवादियों के अनुसार "एकस्य सतो विवर्तः कार्यजातं, न वस्तुसत्" अर्थात् समग्र कार्य समूह या प्रपञ्च एक सत् का अतात्त्विक या अवास्तविक रूप से अन्यथा आभास या प्रतीति मात्र है, वह वस्तुसत् नहीं है। तृतीयतः – नैयायिकों एवं वैशेषिकों के अनुसार "सतः असज्जायते" अर्थात् सत् से असत् उत्पन्न होता है। चतुर्थतः – सांख्य दर्शन के अनुसार "सतः सज्जायते" अर्थात् सत् से सत् उत्पन्न होता है।⁴

सांख्य दर्शन के अनुसार यदि कार्य को उत्पन्न होने के पूर्व ही कारण में विद्यमान न माना जाये, तो कार्य एवं कारण में अभेद नहीं होगा एवं जगत् के कार्यों को देखकर इसके प्रधान कारण प्रकृति का अनुमान नहीं किया जा सकेगा। अतएव सांख्य दर्शन उपर्युक्त अन्य तीन मतों को उपयुक्त नहीं मानता। वाचस्पति मिश्र इस उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुये, इन मतों के खण्डन में प्रवृत्त होते हैं। वे शून्यवादी बौद्ध मत का खण्डन इस प्रकार करते हैं कि "यदि पुनरसतः सज्जायते, असत् निरुपाख्यं कारणं सुखादिरूप शब्दाद्यात्मकं कथं स्यात् ?"⁵ अर्थात् यदि यह माना जाये कि असत् से सत् उत्पन्न होता है, तो निरुपाख्य या स्वरूपशून्य असत् कारण सुख आदि रूप वाले शब्द आदि के स्वरूप वाला कैसे हो सकता है, क्योंकि सत् और असत् का तादात्म्य या अभेद उपपन्न नहीं। इसका अभिप्राय यह है कि भाव रूप जगत् के कार्यों का कारण अभावरूप शून्य कैसे हो सकता है ? भाव एवं अभाव का अभेद सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि यह माना जाये कि लोक में अभाव से भी भाव उत्पन्न होते हुये देखा जाता है, जैसे – बीज एवं मिट्टी के पिण्ड आदि के प्रध्वंसाभाव या विनाश के बाद अंकुर एवं घट आदि की उत्पत्ति दृष्टिगोचर होती है, किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उनकी उत्पत्ति में प्रध्वंसाभाव या विनाश कारण नहीं, बल्कि बीज आदि का अवयव रूप भाव ही कारण है। फिर यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति मानी जाये, तो अभाव के सभी कालों में या सभी स्थानों से सभी कार्यों की उत्पत्ति का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। अतः अभाव से भाव उत्पन्न नहीं हो सकता।⁶

अद्वैतवादी ब्रह्म को परमार्थ सत् स्वीकार करते हैं एवं जगत् को ब्रह्म का विवर्त या आभास मानते हैं। सांख्य दार्शनिकों के अनुसार यह मत भी उचित नहीं है, क्योंकि निर्गुण ब्रह्म का इस विविधता पूर्ण जगत् से अभेद सम्भव नहीं है। जगत् को केवल भ्रमात्मक स्वीकार करना उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रपञ्च को तब तक भ्रम नहीं कहा जा सकता, जब

तक कि असत्य सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण न हो। इस सन्दर्भ में वाचस्पति मिश्र के कथन द्रष्टव्य हैं "अथैकस्यसतो विवर्तः शब्दादिप्रपञ्चः तथापि ... एव ।"⁷ अर्थात् यदि यह माना जाये कि शब्द आदि प्रपञ्च एक सत् का विवर्त है, तब भी यह नहीं माना जा सकता कि सत् से सत् उत्पन्न होता है। यह अद्वैत सत् प्रपञ्चात्मक या प्रपञ्च का स्वरूप रखने वाला नहीं है, अपितु प्रपञ्च स्वरूप न होते हुये भी उसकी प्रपञ्च के रूप में प्रतीति केवल भ्रम ही है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन सत् से असत् की उत्पत्ति मानते हैं। उनके अनुसार नित्य परमाणुओं से अनित्य द्वयणुक कार्यो की उत्पत्ति होती है। इसके खण्डन में वाचस्पति मिश्र का तर्क है कि अनित्य की उत्पत्ति नित्य से कैसे हो सकती है ? यदि कारण-व्यापार से पूर्व कार्य असत् हो, तो फिर इसको सत् कोई नहीं बना सकता। हजारों शिल्पियों के द्वारा भी नीला-पीला नहीं किया जा सकता। यदि यह कहा जाये कि सत्त्व और असत्त्व घट के धर्म हैं, तो भी धर्मी या धर्माश्रय के न होने पर उसका धर्म नहीं रह सकता। अतः धर्मी घट का सत्त्व अर्थात् सत्ता यथावत् मानना होगा और इस प्रकार यह घट असत् नहीं है। घट से असम्बद्ध और घट से तादात्म्य न रखने वाले अर्थात् अघटात्मक अथवा अघट रूप असत्त्व के आधार पर घट असत् कैसे हो सकता है ? इसलिये कारण-व्यापार से बाद के समान उसके पहले भी कार्य सत् ही है।⁸ कारण में पहले से ही विद्यमान 'सत् कार्य' की अभिव्यक्ति ही 'कारण' में शेष है, जो कि उपादान कारण की क्रिया-शक्ति के उन्मुक्त होने पर प्रकाश में आती है, जैसे तिलों को पेरने से, तिलों में पहले से ही विद्यमान तेल की अभिव्यक्ति एवं दुहने से गायों में रहने वाले दूध की अभिव्यक्ति होती है। इसके विपरीत असत् के उत्पन्न होने में तो कोई उदहारण दिखाई नहीं देता। ऐसा नहीं है कि कार्य पहले से कारण में विद्यमान नहीं था। अभिप्राय यह है कि 'कार्य अपने कारण में पहले असत्' नहीं है।

2.2.2 उपादानग्रहणात् –

इस हेतु का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक कार्य का अपने उपादान से नियत सम्बन्ध रहता है। 'उपादान' का अर्थ है – कारण और उनके 'ग्रहण' का अर्थ है – उनका कार्य से सम्बन्ध। उपादान कारण एवं उसके कार्य के सम्बन्ध में जयमंगलाकार ने लिखा है कि "यदुपादीयते तस्य तादुपादान कारणम्, यथा तैलस्य तिलाः, दध्नः क्षीरम्"⁹ अर्थात् जिससे जो उत्पन्न होता है उसका वह उपादान कारण होता है, जैसे तेल का तिल से और दही का दूध

से नित्य सम्बन्ध है, क्योंकि तिल से ही तेल बन सकता है और दूध से ही दही बन सकता है, किसी अन्य वस्तु से नहीं। इसका कारण यह है कि तेल (कार्य) तिल (कारण) से ही सम्भव है और दही (कार्य) दूध (कारण) से । अगर तिल में तेल और दूध में दही पूर्व से ही विद्यमान न होता, तो कैसे इनको दोनों का उपादान कह सकते हैं। इससे सिद्ध है कि प्रत्येक कार्य का एक नियत कारण होता है और वही उस कार्य को करने में सक्षम होता है। सम्बद्ध कारण से सम्बद्ध कार्य उत्पन्न होता है, असम्बद्ध कारण से असम्बद्ध कार्य नहीं। कारण एवं कार्य के मध्य परस्पर सम्बद्धता अनिवार्य है। अगर ऐसा न हो तो कोई भी वस्तु किसी भी कार्य को उत्पन्न कर सकती है। कारण एवं कार्य के मध्य सम्बद्धता को स्पष्ट करते हुये जयमंगलाकार कहते हैं – “अन्यथा सिकतासलिलयोरपि ग्रहणं स्यात्”¹⁰ अर्थात् – फिर तो बालू से तेल और जल से भी दही बन सकता थाय लेकिन ऐसा सम्भव नहीं है; क्योंकि तेल पूर्व से ही तिल में विद्यमान होता है और दही दूध में । अतः नियत उपादान कारण होने से भी कार्य सत् है यह प्रमाणित होता है।

2.2.3 सर्वसम्भवाभावात् –

सभी कारणों से सभी कार्यों की उत्पत्ति सम्भव नहीं। जिस प्रकार किसी जुलाहे को कपड़ा तैयार करना हो तो वह तन्तुओं को ही लेगा, क्योंकि उसको ज्ञात है कि कपड़ा तन्तुओं से ही बन सकता है, अन्य किसी वस्तु से नहीं। जिस कार्य को करने की क्षमता जिस कारण में विद्यमान होगी, वही उस कार्य को कर सकता है। तिल से ही तेल निकल सकता है, बालू से नहीं। यदि कारण एवं कार्य के मध्य सम्बद्धता न हो, तो सभी से सभी कुछ उत्पन्न हो जायेगा, किन्तु ऐसा नहीं है। इसी असंबद्धता पर प्रकाश डालते हुये आचार्य गौणपाद कहते हैं कि “सर्वस्य सर्वत्र सम्भवो नास्ति। यथा सुवर्णस्य रजतादौ, तृणपांशुसिकतास। तस्मात् सर्वसम्भवाभावात् सत्कार्यम्”¹¹ अर्थात् – सबकी सभी जगह उत्पत्ति सम्भव नहीं है। जैसे – सुवर्ण की उत्पत्ति चांदी में, धूल या बालू में नहीं हो सकती। इसलिये सब से सब वस्तु उत्पन्न न होने से भी यह सिद्ध होता है कि कार्य सत् है।

2.2.4 शक्तस्य शक्यकरणात् –

समर्थ वस्तु ही अपने योग्य समर्थ कार्य को उत्पन्न कर सकती है। कार्य के अवलोकन द्वारा ही कारण की शक्ति का अनुमान हो पाता है। विशेष कारणों से विशेष कार्यों की उत्पत्ति का जो नियम है, वह इसी शक्ति के कारण सम्भव हो पाता है। एक विशेष कार्य उत्पन्न करने की शक्ति केवल शक्त कारण में ही विद्यमान होती है। अगर प्रत्येक कारण में उस शक्ति का होना माना जाये तो, विशेष कारण से विशेष कार्य के होने का नियम भंग हो जायेगा और किसी भी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न हो सकेगा। अगर शक्ति शक्त कारण में ही होती है, तो कार्य से उसका सम्बन्ध मानना होगा। जिस कारण शक्ति का एक कार्य विशेष से कोई सम्बन्ध नहीं है, उससे वह कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता, इसलिये कारण में रहने वाली उत्पन्न करने के सामर्थ्य से युक्त शक्ति का कार्य से सम्बन्ध होना चाहिये और कार्य का कारण में पूर्व से अस्तित्व भी होना चाहिये। अगर कार्य पहले से कारण में नहीं है, तो कारण शक्ति का उससे सम्बन्ध नहीं हो सकता और अगर कारण शक्ति से उसका सम्बन्ध नहीं है, तो कोई भी कार्य किसी भी कारण से उत्पन्न किया जा सकेगा। अतः कार्य का किसी समर्थ कारण में पूर्व से होना आवश्यक है।

इस हेतु पर टिप्पणी करते हुये आचार्य माठर लिखते हैं कि “इह लोके शक्तः शिल्पी करणादि कारणोपादान कालोपायसम्पन्नः शक्यादेव शक्यं कर्म आरभते नाशक्यमशक्यात्। तद्यथा – शक्तः कुम्भकारः शक्यादेव मृत्पिण्डात् शक्यदण्डचक्रसूत्रोदकविदलतलादिभिः सम्पन्नो घटशरावोदञ्चनादीन्यारभमाणो दृष्टः। न च मणिकादि, अशक्यत्वात्तावता पिण्डेने तस्य। यदि पुनः करणनियमो न स्यादशक्यादप्यशक्यमारभ्येत। तस्मात् सत् कार्यं स्यान्नासत्”¹² अर्थात् – इस लोक में देखा जाता है कि समर्थ शिल्पी ही उपादानादि कालोपाय साधन सम्पन्न समर्थ सामग्री से ही समर्थ कार्य को प्रारम्भ करता है, न कि असमर्थ सामग्री से। जैसे – कुम्भकार समर्थ मृत्पिण्ड से, समर्थ सामग्री दण्ड, चक्र, सूत्र आदि से सम्पन्न होकर घट, शराव आदि को बनता हुआ देख गया है, न कि मणिक आदि; क्योंकि उसके लिए मृत्पिण्ड असमर्थ है। यदि यह योग्य कारण नियम न होता, तो असमर्थ कारण सामग्री से भी असम्भावित कार्य उत्पन्न हो जाते। अतएव कार्य सत् है, न कि असत्।

2.2.5 कारणभावाच्च –

कार्य तथा कारण अभिन्न हैं, इसलिये जब कारण सत् होगा, तो कार्य भी सत् ही होगा। वस्तुतः कार्य, कारण की ही व्यक्त अवस्था है और कारण, कार्य की अव्यक्त स्थिति मात्र है। यह लोक व्यवहार में भी अनुभूत किया जाता है कि कारण जैसा होगा कार्य भी वैसा ही होता है; क्योंकि बबूल के पेड़ पर कभी आम नहीं लगते। इस हेतु पर आचार्य गौणपाद लिखते हैं कि “कारणं यल्लक्षणमेव कार्यमपि, यथा यवेभ्यो यवाः ब्रीहिभ्यो ब्रीहयः। यदाऽसत्कार्यं स्यात्ततः कोद्रेवेभ्यः शालयः स्युः, न च सन्तीति, तस्मात् सत्कार्यम्”¹³ अर्थात् – कारण जिस लक्षण का होता है, वैसा ही कार्य भी होता है। जैसे – जौ बोने से जौ ही उत्पन्न होते हैं और धान बोने से धान ही। यदि कार्य असत् होता तो कोदों से धान उत्पन्न हो सकता था, लेकिन ऐसा नहीं होता, इसलिये यह सिद्ध होता है कि कार्य सत् है।

कार्य के कारण से अभेद को सिद्ध के लिए कुछ प्रमाण इस प्रकार दिये जा सकते हैं कि पट तन्तुओं से भिन्न नहीं, क्योंकि वह तन्तुओं का धर्म है। यहाँ जो जिससे भिन्न होता है, वह उसका धर्म या अवस्था विशेष नहीं होता। जिस प्रकार बैल, अश्व का धर्म या अवस्था विशेष नहीं। पट, तन्तुओं का धर्म है, अतः वह तन्तुओं से भिन्न या भिन्न पदार्थ नहीं है। तन्तुओं और पट का आपस में उपादानोपादेयभाव होने से भी अर्थात् – तन्तुओं के पट का उपादान होने और पट के तन्तुओं का उपादेय होने से भी इन दोनों में भिन्नता नहीं है, क्योंकि जिससे भिन्नता होती है, उनमें उपादानोपादेयभाव नहीं होता। जैसे – घट और पट में उपादानोपादेयभाव नहीं है, इसलिये तन्तु और पट में उपादानोपादेयभाव है। अतः इन दोनों में भिन्नता या भेद नहीं है। इसलिये भी तन्तु और पट में भेद नहीं है’ क्योंकि इन दोनों में आपस में संयोग और अप्राप्ति का अभाव है। एक पदार्थ के दूसरे से अलग होने पर दोनों का संयोग देखा जाता है, जैसे कि पात्र और बेर नामक फल का अप्राप्ति या विभाग देखा है अथवा हिमालय और विन्ध्याचल का। तन्तु और पट में न संयोग है और न अप्राप्ति या विभाग है, अतः इन दोनों में भेद नहीं है। इसलिये पट तन्तुओं से भिन्न नहीं है; क्योंकि तन्तुओं के गुरुत्व या भार से भिन्न पट के भार का कार्य दृष्टिगोचर नहीं होता, जैसा कि तराजू के पलड़े का नीचा या ऊँचा होना है। इस संसार में जो जिस से भिन्न होता है उसके भार से भिन्न भार का कार्य उसमें प्राप्त होता है, जैसे एक परिमाण विशेष के स्वास्तिक

नामक अलंकार के भार के द्वारा किया जाने वाला, जो अवनति विशेष या झुकाव होता है उससे दो पल के स्वास्तिक के भार के द्वारा किया जाने वाला झुकाव अधिक होता है। किन्तु इस प्रकार तन्तुओं के कार्य के भार से पट के भार का कार्य भिन्न नहीं दिखाई देता, अतः पट तन्तुओं से भिन्न नहीं है।

अभेद को सिद्ध करने वाले ये पूर्वोक्त अवीत या व्यतिरेकी अनुमान के उदहारण हैं। इस प्रकार अभेद के सिद्ध होने पर यह मानना होगा कि तन्तु ही उस-उस संस्थान भेद या आकृति-विशेष के रूप में परिणत होकर पट हो जाते हैं, पट तन्तुओं से कोई भिन्न पदार्थ नहीं है। तन्तु और पट के अभिन्न होने पर भी उनमें जो उत्पन्न और विनष्ट होने के सम्बन्ध में इस प्रकार का बुद्धि भेद होता है कि पट उत्पन्न या विनष्ट हो रहा है, तन्तु नहीं, उनमें जो इस प्रकार का व्यपदेश-भाद या नाम-भेद होता है कि ये तन्तु हैं और यह पट है। उनमें जो इस प्रकार का कार्य-भेद या प्रयोजन-भेद होता है कि तन्तुओं से सिलाई आदि कार्य होते हैं और पट से शरीर ढकना एवं ओढ़ना-बिछाना आदि कार्य होते हैं, उनमें जो इस प्रकार का व्यवस्था-भेद होता है कि तन्तुओं से नियमतः अमुक-अमुक कार्य ही सम्पादित हो सकते हैं और पट से नियमतः अमुक-अमुक कार्य ही सम्पादित हो सकते हैं। ये सब भेद तन्तुओं और पट के भेद को एकान्तिक या अनिवार्य रूप से सिद्ध नहीं कर सकते हैं, क्योंकि एक ही वास्तु में उन-उन विशेषताओं के आविर्भाव और तिरोभाव से लुप्त, उक्त भेदों के होने में कोई विरोध नहीं है। जिस प्रकार कछुवे के अंग उसके शरीर में प्रविष्ट होते हुये छिप जाते हैं और उसके शरीर से निकलते हुये प्रकट हो जाते हैं। कछुवे से उसके अंग न तो उत्पन्न होते हैं और न विनष्ट होते हैं, इसी प्रकार एक मिट्टी या सोने के घट एवं मुकुट आदि रूप निकले या प्रकट होते हुये, उत्पन्न होते हुये कहे जाते हैं और समाते या छिपते हुये, विनष्ट होते हुये कहे जाते हैं। न तो असत् घट आदि का उत्पाद होता है और न सत् घट आदि का विनाश होता है, जैसा कि गीता में कहा गया है — “न असत् का भाव या उत्पाद होता है और सत्-सत् का अभाव या विभाग होता है।”¹⁴ जिस प्रकार कछुवा संकुचित एवं विकसित होने वाले अपने अवयवों या अंगों से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार घट एवं मुकुट आदि भी मिट्टी एवं सुवर्ण से भिन्न नहीं है।

इस प्रकार ‘इन तन्तुओं में पट है, यह व्यवहार इस वन में तिलक अर्थात् वृक्ष विशेष है’, इस व्यवहार के सामान उपपन्न है। अर्थ क्रिया या प्रयोजनवती क्रिया का भेद भी भेद

को सिद्ध नहीं कर सकता है; क्योंकि एक ही व्यक्ति या पदार्थ आदि की अनेक प्रयोजनवती क्रियायें देखी जाती हैं। जैसे एक ही अग्नि जलाने वाला, पकाने वाला एवं प्रकाश करने वाला होता है। अर्थ क्रियाओं या प्रयोजनवती क्रियाओं की व्यवस्था भी वस्तु के भेद में कारण नहीं है, क्योंकि उन्हीं के समस्त एवं व्यस्त रूपों में अर्थ क्रियाओं की व्यवस्था देखी जाती है। जिस प्रकार कहार एक-एक करके या अलग-अलग मार्ग दर्शन रूप अर्थ क्रिया को करते हैं, पालकी को नहीं ढोते हैं; किन्तु वे सब मिलकर पालकी ही ढोते हैं, इसी प्रकार तन्तु एक-एक करके या अलग-अलग ढकने के कार्य को नहीं करते हुये भी मिलकर पट रूप से आविर्भूत हो ढांकने का कार्य करेंगे।

नैयायिकों का कहना है कि अच्छा यह सही है, किन्तु पट का आविर्भाव कारण-व्यापार से पूर्व सत् या असत् है ? यदि असत् है तो यह बात सिद्ध हुई कि असत् की उत्पत्ति होती है। यदि सत् है तो कारण-व्यापार व्यर्थ है, क्योंकि कार्य के सत् होने पर कारण-व्यापार का कोई प्रयोजन दिखाई नहीं देता है। पट का आविर्भाव का भी आविर्भाव करने के लिये यदि कारण-व्यापार को प्रयुक्त करने की कल्पना की जायेगी, तो अनवस्था का प्रसंग होगा। इस प्रकार तन्तुओं में पट रूप आविर्भूत किया जाता है या तन्तु आविर्भूत पट रूप वाले किये जाते हैं, यह कथन अर्थ शून्य है। सांख्यवादी उत्तर देते हैं कि ऐसा नहीं है, क्योंकि तो फिर यह बताओ कि 'असत्' उत्पन्न होता है, इस मत में असत् की यह उत्पत्ति कैसी है ? सत् है या असत् है। यदि सत् है तो कारण व्यर्थ है, यदि असत् है तो उसकी भी उत्पत्ति होनी चाहिये, इस प्रकार ज्यों ही यह कहा जाता है कि पट, त्यों ही यह कथन हो जाता है कि उत्पन्न होता है। इस प्रकार फिर 'पट', यह कहने पर उत्पन्न होता है, यह नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसा कहने से पुनरुक्ति होगी। विनष्ट होता है, यह भी नहीं कहना चाहिये, उत्पत्ति और विनाश का एक साथ एक स्थान पर विरोध है। इसलिये यह पटोत्पत्ति या घटोत्पत्ति, या तो पट का अपने कारण, तन्तुओं में समवाय है या अपने में सत्ता का समवाय है। दोनों ही प्रकारों से उत्पत्ति अर्थात् समवाय के नित्य होने के कारण उत्पन्न नहीं होती, फिर भी उसके लिये कारणों को काम में लिया जाता है। इसी प्रकार कारण-व्यापार से पूर्व भी सत् रहने वाले पट आदि के आविर्भाव के लिये कारण की अपेक्षा होती है, यह बात उपपन्न या युक्तियुक्त है। पट के रूप के साथ ही कारण का सम्बन्ध नहीं होता है, क्योंकि पट का रूप क्रिया नहीं

है और कारण क्रिया से सम्बद्ध होते हैं, अन्यथा वे कारण ही नहीं रहेंगे । अतएव कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व भी सत् है, यह पूर्णतया पुष्ट अर्थात् बिल्कुल ठीक है।¹⁵

इस प्रकार उपरोक्तानुसार भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में प्रमुख रूप से विद्यमान कार्य—कारणवाद के विभिन्न सिद्धान्तों का निरूपण करते हुये, उनके आधार पर सांख्य दर्शन के कार्य—कारणवाद के सिद्धान्त 'सत्कार्यवाद' की समीक्षात्मक रूप से स्थापना की गई, जिसके द्वारा निर्भ्रान्त रूप से यह सिद्ध होता है कि असत् कारण से सत् कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं और न ही सत् कारण से असत् कार्य की, बल्कि सत् कारण से ही सत् कार्य का आविर्भाव सम्भव होता है; क्योंकि कार्य आविर्भाव के पूर्व भी अपने कारण में ही विद्यमान रहता है।

.....

सन्दर्भ —

1. दासगुप्त, एस. एन., भारतीय दर्शन का इतिहास (भाग-1), पृष्ठ — 242
2. मुसलगाँवकर, गजानन शास्त्री (व्याख्याकार), वेदान्त-परिभाषा, पृष्ठ — 107
3. सांख्यकारिका — 9
4. सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका — 9
5. वही
6. वही
7. वही
8. वही
9. जयमंगला, कारिका — 9
10. वही
11. गौणपादभाष्य, कारिका — 9
12. माठरवृत्ति, कारिका — 9
13. गौणपादभाष्य, कारिका — 9
14. गीता — 2 / 16
15. मणि, रविकांत (व्याख्याकार), सांख्यकारिका, पृष्ठ — 110-114

.....

तृतीय अध्याय

सृष्टि—प्रक्रिया के मूल कारण 'प्रकृति' की अवधारणा

प्रकृति का अर्थ है — 'प्रकरोति इति प्रकृति' अर्थात् — जो प्रकट करती है। इसे 'प्रधान', 'अव्यक्त' एवं 'मूलप्रकृति' आदि नामों से भी जाना जाता है। 'प्रधान' नाम की बात की जाये, तो इसके लिए एक निरुक्ति है 'प्रधीयते प्रकर्षेण लीयते सर्वमस्मिन् इति प्रधानम्' अर्थात् प्रलयावस्था में समस्त व्यक्त तत्त्व इसी में प्रकृष्टरूपेण समाहित हो जाते हैं, विलीन हो जाते हैं, तिरोभूत हो जाते हैं, इसलिये इसे प्रधान कहा जाता है। प्रकृति अनुपलब्ध तथा सूक्ष्म है, इसलिये 'अव्यक्त' कहा जाता है। इसे 'मूल प्रकृति' इसलिये कहा जाता है, क्योंकि यह सम्पूर्ण सृष्टि के मूल कारण के रूप में प्रतिष्ठित है।

3.1 प्राचीन भारतीय साहित्य में प्रकृति की अवधारणा —

प्राचीन भारतीय साहित्य इतना गहन, गम्भीर एवं विशाल है कि इसमें मानव जीवन से सम्बद्ध सभी विषयों का ज्ञान—विज्ञान समाया हुआ है। इसमें वैदिक साहित्य, महाभारत, गीता, पुराण एवं आयुर्वेदशास्त्र मुख्य रूप से सम्मिलित हैं।

3.1.1 वैदिक साहित्य में प्रकृति की अवधारणा —

वैदिक साहित्य में उपनिषदों का विशेष महत्त्व है। उपनिषदों के प्रतिपाद्य विषयों में प्रमुख स्थान ब्रह्म का है। साथ ही अन्य ऐसे विषयों पर भी इनमें चर्चा की गई है, जिनके अभाव में ब्रह्म की चर्चा अधूरी सी प्रतीत होती। उन विषयों में जीवात्मा एवं माया या प्रकृति प्रधानतया शामिल हैं। चूँकि मुख्य प्रतिपाद्य ब्रह्म होने के कारण इनका वर्णन नगण्य है, फिर भी यथा स्थान इनका वर्णन प्राप्त होता है। उपनिषदों में सांख्य दर्शन के अनुरूप विस्तृत एवं स्पष्ट वर्णन तो अवश्य प्राप्त नहीं होता, लेकिन सांकेतिक रूप में प्रकृति का नाम विभिन्न उपनिषद् वचनों में स्थान—स्थान पर प्राप्त होता है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में एक स्थल पर यह बतलाया गया है कि माया को प्रकृति समझना चाहिए और यह सम्पूर्ण व्यक्त जगत् उसी प्रकृति के ही कार्य—कारण व्यापार से व्याप्त है।¹ इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि प्रकृति और माया दोनों पर्याय हैं। इसी उपनिषद् में अन्यत्र

एक वर्णन मिलता है कि एक अजा (अजन्मा) अर्थात् प्रकृति जो भूत समुदाय की रचना करने वाली है और लाल, सफेद एवं काले रंग वाली है।² सांख्याभिमत प्रकृति त्रिगुणमयी है और सफेद, लाल एवं काला ये तीनों रंग क्रमशः सत्त्व गुण, रजो गुण एवं तमो गुण के ही हैं।

कठोपनिषद् में यम-नचिकेता संवाद द्वारा अनेक दार्शनिक रहस्यों को उद्भूत किया गया है। इसी क्रम में महत्, अव्यक्त, इन्द्रिय आदि का भी वर्णन मिलता है। इस सम्बन्ध में यम द्वारा नचिकेता के प्रश्न के उत्तर देने के क्रम में एक स्थल पर बताया गया है कि महत् से परे अव्यक्त है और अव्यक्त से परे पुरुष है और पुरुष से परे कुछ भी नहीं है।³ उक्त स्थल पर मन्त्र का भाष्य करते हुए आदि शंकर ने लिखा है कि "...अव्यक्तं सर्वस्य जगतो बीजभूतम्" अर्थात् — अव्यक्त सम्पूर्ण जगत् का बीजभूत है। जिस प्रकार वट वृक्ष के सूक्ष्म बीज में विशालकाय सम्पूर्ण वट वृक्ष सूक्ष्म अव्यक्त रूप से समाया हुआ है, ठीक उसी प्रकार अव्यक्त प्रकृति में सूक्ष्म रूप से सम्पूर्ण जगत् अपनी उत्पत्ति के पूर्व समाया हुआ रहता है। एक अन्य स्थल पर भी वर्णन मिलता है, जिसमें कहा गया है कि "महतोऽव्यक्तमुत्तमम्"⁴ अर्थात् — महत् से उत्तम अव्यक्त है।

3.1.2 महाभारत में प्रकृति में प्रकृति की अवधारणा —

महाभारत भारतीय साहित्य का प्रतिनिधित्व करता है। इसके सम्बन्ध में महाभारत में ही कहा गया है कि "यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्"⁵ अर्थात् — जो यहाँ (महाभारत में) है, वह अन्यत्र भी है और जो यहाँ नहीं है, वह कहीं भी नहीं है। महाभारत में प्रकृति को प्रधान, अव्यक्त, त्रिगुणात्मिका आदि नामों से अभिहित किया गया है। वैसे तो सम्पूर्ण महाभारत में ही प्रकृति सहित सांख्य दर्शन के अन्य तत्त्वों की चर्चा है, लेकिन शान्ति पर्व में यह विशेष रूप से वर्णित हैं। शान्ति पर्व के एक स्थल पर प्रकृति को सर्ग धर्मिणि बताते हुये कहा गया है —

"प्रकृत्या सर्गधर्मिण्या तथा त्रिगुणधर्मया ।

विपरीतमतो विद्यात् क्षेत्रज्ञस्य स्वलक्षणम् ।।"⁶

अर्थात् — प्रकृति सर्ग एवं त्रिगुण धर्म वाली है। इसके विपरीत पुरुष स्वलक्षण है। यहाँ पर प्रकृति को सृष्टि रचना करने वाली तथा सत्त्व, रजस् एवं तमस् इन तीनों गुणों से युक्त

बताया गया है। इन तीनों गुणों की साम्यावस्था को ही प्रकृति कहा जाता है। आगे अन्य स्थल पर भी इसे सर्ग तथा प्रलय धर्म युक्त कहा गया है —

“सर्ग—प्रलय धर्मत्वादव्यक्तं प्राहुरक्षरम् ।

तदेतद् गुणसर्गाय विकुर्वाणं पुनः पुनः ॥”⁷

अर्थात् — सृष्टि और प्रलय प्रधान के धर्म हैं और वही प्रकृति बार—बार सृष्टि के क्रम में विकृति को प्राप्त होती है। इसीलिये इसे अक्षर भी कहा जाता है। अक्षर उसे कहा जाता है, जिसका कभी क्षरण न हो अर्थात् जो सदैव एक रूप में नित्य एवं कूठस्थ रहे। इस वर्णन से प्रकृति के एक होने का भी प्रमाण मिलता है, क्योंकि इसमें कहा गया है कि वही प्रकृति पुनः—पुनः सर्ग के क्रम में विकृतियों को उत्पन्न करती है। आगे कहते हैं —

“एते प्रधानस्य गुणास्त्रयः पुरुषसत्तम ।

कृत्स्नस्य चैव जगतस्तिष्ठन्त्यनपगाः सदा ॥”⁸

अर्थात् — सत्त्व, रजस् एवं तमस् ये तीनों गुण प्रकृति के हैं, जो सम्पूर्ण संसार में हमेशा विद्यमान रहते हैं और कभी भी अलग नहीं होते। यहाँ प्रकृति को प्रधान पद से सम्बोधित किया गया है और त्रिगुणात्मक भी बताया गया है। साथ ही समस्त जगत् को इन तीनों गुणों से ओत—प्रोत भी बताया गया है। यह वर्णन सांख्य सम्मत प्रतीत होता है। आगे अष्ट प्रकृति और षोडश विकारों की चर्चा करते हुये कहा गया है —

“अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ता विकाराश्चापि षोडश ।

तत्र तु प्रकृतिरष्टौ प्राहुरध्यात्मचिन्तकाः ॥

अव्यक्तं च महान्तं च तथाहङ्कार एव च ।

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पंचमम् ॥”⁹

अर्थात् — आठ प्रकार की प्रकृति और सोलह विकार कहे गये हैं जिनमें अव्यक्त, महत्, अहंकार, पृथिवी, वायु, आकाश, जल तथा तेज को ही अध्यात्म चिन्तक आठ प्रकार की प्रकृति कहते हैं।

यहाँ पर उद्धृत यह आठ प्रकार की प्रकृतियाँ सांख्य से भिन्न हैं, क्योंकि यहाँ अव्यक्त, महत् तथा अहंकार के साथ पंचमहाभूतों को प्रकृति माना है, जबकि सांख्य अव्यक्त, महत् और अहंकार के साथ पंचतन्मात्राओं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध) को प्रकृति तथा पंचमहाभूतों (आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथिवी) को विकारों में शामिल करता है। अतः महाभारत का यह वर्णन सांख्य सम्मत प्रतीत नहीं होता है।

3.1.3 श्रीमद्भगवद्गीता में प्रकृति की अवधारणा –

मूलतः गीता महाभारत का ही अंश है। फिर भी स्वतन्त्र रूप से भी इसकी ख्याति होने के कारण इसका स्वतन्त्र अध्ययन किया जाता है। गीता में श्रीकृष्णार्जुन संवाद के माध्यम से अनेक उपदेश दिए गये हैं, उन्हीं उपदेशों में प्रकृति की चर्चा भी यत्र-तत्र मिलती है। महाभारत में पूर्वोक्त अष्ट प्रकृति के वर्णन के साथ ही गीता में भी अष्ट प्रकृति का वर्णन मिलता है, जो सांख्य से तो भिन्न है ही, उपर्युक्त से भी भिन्न प्रतीत होता है –

“भूमिरापाऽनलो वायुःखं मनो बुद्धिरेव च।

अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।”¹⁰

अर्थात् – पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार ये आठ प्रकार की प्रकृतियाँ हैं। यहाँ पर अव्यक्त के स्थान पर मन के होने से यह वर्णन पूर्वोक्त से भिन्न है और सांख्य दर्शन से तो भिन्न है ही।

3.1.4 पुराणों में प्रकृति की अवधारणा –

पुराण के लक्षणों में सर्ग और प्रतिसर्ग, ये दो लक्षण भी शामिल हैं। हम ये जानते हैं कि सांख्य दर्शन के अनुसार सर्ग और प्रतिसर्ग ये दोनों ही अवस्थाएँ प्रकृति की व्यक्त और अव्यक्त अवस्थाएँ मात्र हैं। इससे यह अनुमान भी हो जाता है कि जिस शास्त्र में सृष्टि और प्रलय की बात है, तो इसके मूल स्वरूप की चर्चा भी अवश्य ही होगी। इसी क्रम में भागवत् पुराण में प्रकृति की परिभाषा करते हुये कहा गया है कि –

“प्रकृष्टवाचकः प्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचकः ।

सृष्टौ प्रकृष्टा या देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता ।।”¹¹

अर्थात् – ‘प्र’ प्रकृष्ट वाचक है और ‘कृति’ सृष्टि वाचक है। जो शक्ति सृष्टि में प्रकृष्ट है, वह ‘प्रकृति’ है। यहाँ पर प्रकृति का वर्णन सांख्याभिमत ही प्रतीत होता है, क्योंकि सांख्य भी प्रकृति को सृष्टि का मूल स्वीकार करता है और यहाँ इस परिभाषा से भी यही अभिप्रेत होता है। इसी प्रकार विष्णु पुराण में भी प्रकृति की चर्चा करते हुये कहा गया है –

“अव्यक्तं कारणं यत्तत्प्रधानमृषिसत्तमेः।

प्रोच्यते प्रकृति सूक्ष्मनित्यं सदसदात्मकम्।।”¹²

अर्थात् – अव्यक्त प्रकृति ही इस जगत् का मूल कारण है और इसी को प्रधान, सूक्ष्म, नित्य एवं सदसदात्मक कहा जाता है। यह वर्णन भी सांख्यानुकूल ही प्रतीत होता है। कूर्म पुराण में भी प्रकृति का वर्णन मिलता है। इसके एक स्थल पर कहा गया है –

“त्रयोविंशतिरेतानि तत्त्वानि प्राकृतानि च।

चतुर्विंशकमव्यक्तं प्रधानं गुणलक्षणम्।।”¹³

अर्थात् – तेईस तत्त्व प्रकृति के हैं और चौबीसवाँ तत्त्व स्वयं अव्यक्त प्रकृति है, जिसे प्रधान भी कहते हैं। यही इसके लक्षण हैं; क्योंकि प्रकृति अन्य तेईस तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करती है, इसलिये इसका लक्षण प्रधान है।

इस प्रकार उपरोक्तानुसार पुराणों में भी प्रकृति के स्वरूप की विधिवत् चर्चा की गई है। जो सांख्यानुकूल ही प्रतीत होती है।

3.1.5 आयुर्वेदशास्त्र में प्रकृति की अवधारणा –

जिस प्रकार दर्शनशास्त्र का मानव जीवन से सीधा सम्बन्ध है, उसी प्रकार आयुर्वेदशास्त्र का भी मानव जीवन से सीधा सम्बन्ध है। यही कारण है कि आयुर्वेदशास्त्र में भी दार्शनिक तत्त्वों का समावेश दृष्टिगोचर होता है। आयुर्वेदशास्त्र के प्राचीनतम तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जो सम्पूर्ण आयुर्वेदशास्त्र का प्राण हैं। इन ग्रन्थों में क्रमशः महर्षि चरक प्रणीत ‘चरकसंहिता’, महर्षि सुश्रुत प्रणीत ‘सुश्रुतसंहिता’ एवं महर्षि वाग्भट्ट प्रणीत ‘अष्टांगहृदयम्’ शामिल हैं।

चरकसंहिता में प्रकृति को ‘अव्यक्त’ पद से सम्बोधित किया गया है। यहाँ पर अव्यक्त सहित आठ प्रकृतियों और सोलह विकारों का वर्णन किया गया है –

“खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहङ्कारस्तथाष्टमः ।

भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकाराश्चैव षोडश ।।”¹⁴

अर्थात् — यहाँ पर इस वर्णन के अनुसार प्रकृति सहित कुल चौबीस तत्त्व हैं। यहाँ पुरुष का वर्णन नहीं है। फिर भी पुरुष के अतिरिक्त चौबीस संख्या तो सांख्यानुकूल प्रतीत होती है, लेकिन यहाँ पर पंचमहाभूतों को प्रकृति में शामिल किया गया है, जबकि सांख्य में महाभूत विकृति में गिने जाते हैं। अतः यह वर्णन सांख्य से भिन्न है।

उपर्युक्त चरकसंहिता के वर्णन से भिन्न एवं सांख्य के अनूकूल वर्णन सुश्रुत संहिता में किया गया है। यहाँ पर प्रकृति को अव्यक्त, तीनों गुणों से युक्त, अकारण और सभी भूतों का कारण कहा गया है — “सर्वभूतानां कारणमकारणं सत्त्वरजस्तमोलक्षणमष्टरूपमखिलस्य जगतः सम्भव हेतुरव्यक्तं नाम।”¹⁵ अर्थात् — सभी भूतों का कारण एवं स्वयं कारण रहित सत्त्व, रजस् एवं तमस् युक्त आठ रूपों वाली अव्यक्त प्रकृति से ही सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है।

3.2 सांख्येतर भारतीय दर्शनिक सम्प्रदायों में प्रकृति की अवधारणा —

सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय अलग-अलग तत्त्वों को स्वीकार करते हैं। इन तत्त्वों की संख्याओं में भी भेद मिलता है। सांख्य सम्मत तत्त्व भी अन्य दर्शनों को मान्य हैं, परन्तु सांख्य दर्शन के अतिरिक्त भारतीय दर्शनों में वेदान्त तथा योग दर्शन में ही प्रकृति का वर्णन मिलता है।

3.2.1 अद्वैत-वेदान्त में प्रकृति की अवधारणा —

अद्वैत-वेदान्त सांख्य को अपना प्रधान मल्ल या प्रबल प्रतिद्वन्दी स्वीकार करता है। इसका कारण यह है कि सांख्य प्रकृति और पुरुष के द्वैत को मानता है तथा अद्वैत-वेदान्त केवल आत्मा (ब्रह्म) को ही एक मात्र सत् मानता है और अन्य सभी दृश्यों को उसी ब्रह्म की माया कहकर सम्बोधित करता है। इसीलिये अद्वैत-वेदान्त में ‘प्रकृति’ पद को ‘माया’ और ‘अविद्या’ पद से सम्बोधित किया गया है। पंचदशी में प्रकृति को उपर्युक्त दोनों माया तथा अविद्या के भेद से दो प्रकार वाली कहा गया है — “तमोरजस्सत्त्वगुणा प्रकृतिर्दिवविधा च सा”¹⁶ यहाँ पर प्रकृति को सत्त्व, रजस् तथा तमस् तीनों गुणों से युक्त कहा गया है और

सांख्य भी प्रकृति को इसी रूप में स्वीकार करता है। साथ ही यहाँ इसे द्विविध भी कहा गया है। शुद्ध सत्त्व प्रधान प्रकृति को 'माया' तथा मलिन तमस् युक्त प्रकृति को 'अविद्या' कहा गया है।

3.2.2 योग दर्शन में प्रकृति की अवधारणा —

योग दर्शन एवं सांख्य दर्शन दोनों अभिन्न हैं। सामान्यतः 'सांख्य-योग' का नाम एक साथ ही प्रयुक्त किया जाता है। दोनों में केवल 'ईश्वर' तत्त्व को लेकर भिन्नता है। जहाँ सांख्य पच्चीस तत्त्वों को स्वीकार करता है, वहीं योग सांख्य सम्मत पच्चीस के अतिरिक्त 'ईश्वर' को भी छब्बीसवें तत्त्व के रूप में स्वीकार करता है। इसीलिये योग को 'सेश्वर-सांख्य' भी कहा जाता है। सांख्य ने दुःख से छूटने के लिए जिन उपायों की चर्चा की है, योग उन्हीं उपायों का क्रियात्मक पक्ष प्रस्तुत करता है। इसी क्रम में योग दर्शन में प्रकृति का वर्णन समाधि पाद में मिलता है। असम्प्रज्ञात समाधि का वर्णन करते हुये कहा गया है कि निर्बीज समाधि दो प्रकार की होती है — पहली उपायप्रत्यय एवं दूसरी भवप्रत्यय । इनमें से उपायप्रत्यय योगियों की होती है और "भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलायानाम्"¹⁷ अर्थात् — भवप्रत्यय विदेह एवं प्रकृतिलीनों की होती है। इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर सविचारा और निर्विचारा समापत्ति के वर्णन के क्रम में सूत्र दिया गया है कि "सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्"¹⁸ अर्थात् — सूक्ष्म विषय अलिंग में पर्यवसित होते हैं। यहाँ पर अलिंग पद अव्यक्त प्रकृति के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। सांख्य प्रकृति को अलिंग भी कहता है। अलिंग कारण को कहा जाता है और लिंग कार्य को कहा जाता है। वाचस्पति मिश्र ने 'तत्त्ववैशारदी' में इसी सूत्र की व्याख्या में प्रकृति को प्रधान भी कहा है।

3.3 सांख्य दर्शन में प्रकृति की अवधारणा —

सांख्य दर्शन प्रकृति तथा पुरुष के द्वैत को स्वीकार करता है। इनमें से सांख्य दर्शन का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व प्रकृति ही है; क्योंकि प्रकृति के द्वारा ही जगत् की रचना होती है और इसी जगत् के भोक्ता होने से पुरुष की सिद्धि होती है। सांख्य दर्शन में प्रकृति को मूल प्रकृति, प्रधान एवं अव्यक्त आदि नामों से अभिहित किया जाता है।

3.3.1 प्रकृति का स्वरूप —

सांख्यकारिकाकार ने प्रकृति के दो रूपों का वर्णन किया है। ये दो रूप व्यक्त एवं अव्यक्त हैं। व्यक्त प्रकृति, अव्यक्त (मूल) प्रकृति का ही कार्य रूप जगत् है। इन दोनों रूपों की साम्यता एवं विषमता के माध्यम से ईश्वरकृष्ण ने प्रकृति के स्वरूप का विवेचन किया है। सर्वप्रथम दोनों की विषमता के आधार पर इनका स्वरूप निम्नलिखित कारिका के माध्यम से द्रष्टव्य है —

“हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिंगम् ।

सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥”¹⁹

अर्थात् — व्यक्त मतलब व्यक्तित्व या प्रकट रूप से युक्त अपने किसी कारण से उत्पन्न अर्थात् — कार्य, अनित्य अर्थात् विनाशशील या अपने वर्तमान रूप में हमेशा नहीं रहने वाला, अव्यापक अर्थात् सर्वत्र न रहकर सीमित प्रदेश में रहने वाला, सीमित व्यक्तित्व या रूप वाला, क्रियाओं से युक्त, संख्या में अत्यधिक, अपने वर्तमान रूप में अपने मूल रूप या कारण पर अवलम्बित, अपने मूल रूप की सत्ता का सूचक, सावयव अर्थात् — अवयवों या हिस्सों वाला, पराधीन अर्थात् किसी कार्य को उत्पन्न करने में अपने कारण की सहायता की अपेक्षा रखने वाला है और अव्यक्त अर्थात् व्यक्तित्व या प्रकट रूप से विहीन प्रधान या प्रकृति इसके विपरीत या उल्टा है अर्थात् अहेतुमत् या स्वयं मूल कारण, नित्य, व्यापक, निष्क्रिय या क्रिया विहीन, एक, अनाश्रित या स्वाधार, अलिंग या असूचक, निरवयव एवं स्वतन्त्र है। इनका शब्दशः पृथक् विवेचन निम्नवत् है —

(क) हेतुमत् —

हेतु अर्थात् कारण जिसका होता है, उसे हेतुमत् कहते हैं। हेतु के उपादान, कारण, निमित्त आदि पर्याय हैं, अर्थात् — व्यक्त हेतुमत् है। यथा — बुद्धि प्रकृति से हेतुमान् है। अहंकार बुद्धि से, एकादश इन्द्रियां एवं तन्मात्राये अहंकार से हेतुमान् हैं। इसी क्रम में सम्पूर्ण व्यक्त समुदाय हेतुमत् है।

(ख) अनित्यम् –

व्यक्त जगत् अनित्य है। अपने कारण अन्य तत्त्व से उत्पन्न होने वाला अनित्य होता है। जैसे दृ मृतपिण्ड से उत्पन्न होने वाला घट अनित्य है और व्यक्त है। यह अपने कारण में तिरोभूत होने वाला भी है। वेदान्त में अनित्य का अर्थ विनाशशील होता है, किन्तु सांख्य में अनित्य का अर्थ सूक्ष्म रूप से अपने कारण में रहना होता है।

(ग) अव्यापि –

सर्वत्र न रहने वाला अर्थात् – व्यक्त, पुरुष और प्रधान की भांति सर्वत्र व्याप्त नहीं रहता। कार्य और कारण में व्याप्त-व्यापक सम्बन्ध रहता है। कारण अधिक देश वृत्ति होने से व्यापक है और कार्य कम देश वृत्ति होने से व्याप्य है। कार्य कारण को व्याप्य नहीं करता, अपितु कारण से कार्य व्याप्त होता है। इसी कारण कार्य अव्यापि है।

(घ) सक्रियम् –

व्यक्त कार्य क्रियाशील है अर्थात् – संसार में जीवन एवं मरण रूप से संसरण करता है। त्रयोदश तत्त्वों से युक्त सूक्ष्म तत्त्व शरीर को लेकर उत्पन्न एवं विनष्ट होने के कारण सक्रिय है। सांख्य में सक्रियता प्रवेश एवं निस्सरण के रूप में स्वीकार की गई है। क्रियाशीलता व्यक्त प्रकृति का गुण है। प्रकृति में क्षोभ रूप क्रिया होती है, किन्तु गमनागमन रूप क्रिया नहीं होती; क्योंकि परम व्यापक तत्त्व संसरण नहीं कर सकता।

(ङ) अनेकम् –

प्रत्येक पुरुष में बुद्धि इत्यादि के भिन्न होने से सूक्ष्म व्यक्त अनेक हैं। सूक्ष्म व्यक्त, पृथिवी इत्यादि शरीर घट आदि के भेद से अनेक हैं। बुद्धि, अहंकार, इन्द्रियां एवं महाभूत – ये सब व्यक्त एवं अनेक हैं।

(च) आश्रितम् –

व्यक्त अपने कारण में आश्रित रहता है। जैसे – महत् प्रधान के आश्रित, अहंकार महत् के आश्रित, इन्द्रियां एवं तन्मात्राएँ अहंकार के आश्रित तथा महाभूत तन्मात्राओं के आश्रित हैं।

व्यक्त आश्रित है और अव्यक्त अनाश्रित है। यद्यपि कारण और कार्य में अभेद है फिर भी व्यवहारार्थ उनमें आश्रय-आश्रयी भाव की कल्पना की जाती है।

(छ) लिंगम् —

लिंग का अर्थ है प्रधान के अनुमान में हेतु। गौणपाद और शंकर ने व्यक्त को लिंग कहा है; इसके पीछे कारण यह है कि यह अंत में लय को प्राप्त हो जाता है। प्रलयकाल में महाभूत अपनी-अपनी तन्मात्राओं में, तन्मात्रायें अहंकार में और अहंकार महत् में तथा महत् प्रधान में लय हो जाता है।

(ज) सावयवम् —

व्यक्त प्रकृति अवयवों से युक्त है। सावयव का अर्थ होता है, जो अपने ही प्रकार के अन्य भेदों के साथ मिश्रित होने का सामर्थ्य रखता हो। जैसे — पृथ्वी, जल, आकाश आदि परस्पर संयुक्त रहते हैं। इसके विपरीत अव्यक्त प्रकृति निरवयव है। प्रधान का गुणों से, सजातीय होने के कारण सम्बन्ध नहीं बनता तथा प्रधान और महत् में भी समवाय सम्बन्ध होने के कारण ही सावयवता नहीं है।

(झ) परतन्त्रम् —

व्यक्त पराधीन होता है। वह अपने कारण की सहायता से ही अपने कार्य को उत्पन्न कर सकता है, न कि स्वतन्त्र रूप से। त्रिगुणात्मिका प्रधान की सहायता से ही महदादि अपने कार्यों को उत्पन्न कर सकते हैं, इसीलिये व्यक्त परतन्त्र है।

उपर्युक्त व्यक्त के गुणों से विपरीत अव्यक्त प्रकृतिय अहेतुमत्, नित्य, व्यापि, निष्क्रिय, एक, अनाश्रित, अलिंग, निरवयव तथा स्वतन्त्र गुणों से युक्त होती है। अहेतुमत् इसलिये कि वह किसी से उत्पन्न नहीं होती। किसी से उत्पन्न ना होने वाला तत्त्व अनादि होता है और जो अनादि है, वह नित्य भी होता है, इसीलिये अव्यक्त नित्य है। अव्यक्त समस्त व्यक्त जगत् में समाहित है, इसलिये व्यापि है। वह निष्क्रिय इसलिये है, क्योंकि सर्वव्यापि में क्रिया की अपेक्षा नहीं होती। अन्य सभी का मूल कारण होने से वह एक है, क्योंकि मूल कारण कोई एक ही होता है। किसी अन्य तत्त्व से उत्पन्न न होने के कारण वह किसी पर आश्रित नहीं

अर्थात् अनाश्रित है। अव्यक्त का कारण रहित होना ही उसके अलिंग होने में हेतु है। शब्दादि अवयव से रहित होने के कारण वह निरवयव है तथा स्वयं सामर्थ्यवान् होने के कारण वह स्वतन्त्र भी है।

इस प्रकार व्यक्त एवं अव्यक्त के वैषम्य के द्वारा दोनों के स्वरूप निरूपण के पश्चात् दोनों के साम्य एवं पुरुष से वैषम्य का निरूपण ईश्वरकृष्ण निम्नवत् करते हैं —

“त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।

व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्।।”²⁰

अर्थात् — व्यक्त तथा प्रधान ये दोनों ही, सत्त्व, रजस् एवं तमस् य इन तीन गुणों वाले, अविविक्त या संघटित रूप वाले, ज्ञान या अनुभव के द्वारा ग्राह्य, सामान्य, अचेतन तथा पारिणामशील हैं। पुरुष इन दोनों से विपरीत है तथा कुछ गुणों में सामान भी है। कारिका में वर्णित पदों का क्रमशः विशद् विवेचन निम्नवत् है —

(ज) त्रिगुणम् —

व्यक्त और अव्यक्त में अन्तर होते हुये भी वे कई अंशों में सामान भी हैं। ये दोनों त्रिगुणों से युक्त हैं। सत्त्व, रजस् और तमस् , ये ‘त्रिगुण’ कहलाते हैं। वाचस्पति मिश्र के अनुसार ‘त्रिगुण’ का अर्थ होता है कि “त्रयो गुणाः सुखदुःखमोहाः अस्येति त्रिगुणम्”²¹ अर्थात् — जिनमें सुख, दुःख तथा मोह, ये तीन गुण हों, उसे ‘त्रिगुण’ कहते हैं। प्रकृति सत्त्व, रजस् और तमस् धर्मों वाली नहीं है, अपितु त्रिगुण प्रकृति के स्वरूप ही हैं। इस बात की पुष्टि हेतु अग्रलिखित सांख्यसूत्र द्रष्टव्य है — “सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्।”²² एक अन्य स्थल पर सांख्यसूत्र में प्रकृति को त्रिगुणों की साम्यावस्था कहा गया है — “सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः...।”²³ अर्थात् — सत्त्व, रजस् तथा तमस् ये तीन गुण ही प्रकृति हैं, इनसे अलग प्रकृति कुछ भी नहीं है। इस प्रकार भी कह सकते हैं कि प्रकृति ही त्रिगुण हैं और त्रिगुण ही प्रकृति है।

इन तीनों गुणों का स्वरूप सांख्यकारिका में क्रमशः बारहवीं एवं तेरहवीं कारिका द्वारा स्पष्ट रूप से समझाया गया है, जो निम्नवत् है —

“प्रीत्यप्रीति-विषादात्मकाः प्रकाश-प्रवृत्ति-नियमार्थाः ।

अन्योऽन्याऽभिभव-ऽऽश्रय-जनन-मिथुनवृत्तयश्च गुणाः ।।”²⁴

अर्थात् — त्रिगुण (सत्त्व, रजस् एवं तमस्) क्रमशः प्रीति, अप्रीति एवं विषादात्मक होते हैं, प्रकाश, प्रवृत्ति और नियमन करने वाले हैं ये एक दूसरे का अभिभव, आश्रय, जनन और मिथुनवृत्ति वाले हैं।

आशय यह है कि इनमें सत्त्व प्रीति कारक है। प्रीति का अर्थ — सुख या प्रसन्नता होता है, इस प्रकार सत्त्व सुखकारक एवं प्रसन्नता प्रदान करने वाला होता है। रजस् अप्रीत्यात्मक होता है। अप्रीति का अर्थ — दुःख या दुःख स्वरूप होता है, इस प्रकार रजस् दुःख कारक होता है। तमस् विषादात्मक होता है। विषाद् का अर्थ — मोह होता है। इस प्रकार तमो गुण मोह उत्पन्न करने वाला होता है। इसी प्रकार सत्त्व, प्रकाश के सामर्थ्य से युक्त होता है, रजस् प्रवृत्ति के सामर्थ्य से युक्त होता है तथा तमस् नियम अर्थात् रोकने के सामर्थ्य से युक्त होता है।

ये त्रिगुण अन्योन्याभिभव, अन्योन्याश्रय, अन्योन्यजनन, अन्योन्यमिथुन एवं अन्योन्यवृत्ति वाले भी होते हैं। अभिभव का अर्थ — दबाना या ढकना होता है, इस प्रकार अन्योन्याभिभव का आशय यह हुआ कि ये तीनों गुण एक दूसरे को दबाने या ढकने वाले होते हैं और इसी से प्रीति, अप्रीति और विषाद् उत्पन्न होते हैं। जब सत्त्व उत्कट रहता है, तब वह रजस् एवं तमस् को दबा कर प्रीति एवं प्रकाश उत्पन्न करता है। जब रजस् उत्कट होता है, तब वह सत्त्व एवं तमस् को दबा कर अप्रीति और प्रवृत्ति को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार जब तमस् उत्कट होता है, तब वह सत्त्व एवं रजस् को दबा कर मोह कारक एवं नियन्त्रण के सामर्थ्य से युक्त हो जाता है। ये गुण एक दूसरे के आश्रय से ही क्रिया करते हैं, जैसे — सत्त्व, प्रवृत्ति एवं नियमन के आश्रय से प्रकाश करता है, रजस्, प्रकाश एवं नियमन के आश्रय से प्रवृत्ति करता है तथा तमस्, प्रकाश एवं प्रवृत्ति के आश्रय से नियमन करता है।

आगे सांख्यकारिका में बताया गया है कि किस प्रकार ये तीनों गुण अलग-अलग धर्मों से युक्त होने पर भी, एक साथ समस्त क्रियाओं को सम्पादित करते हैं —

“सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः ।

गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चाऽर्थतो वृत्तिः ।।”²⁵

अर्थात् — सत्त्व गुण हल्का, प्रकाशक एवं प्रिय होता है, रजो गुण उत्तेजक एवं क्रियाशील होता है तथा तमो गुण भारी एवं आवरक होता है। दीपक की भांति पुरुषार्थ साधनों के लिये इनका व्यवहार होता है।

आशय यह है कि जब शरीर में सत्त्व प्रधान रहता है, तब शरीर हल्का रहता है, बुद्धि नये ज्ञान को प्राप्त करती है और इन्द्रियाँ प्रसन्न रहती हैं, जब रजस् प्रधान रहता है, तब शरीर उत्तेजित एवं चञ्चल रहता है तथा जब तमस् प्रधान रहता है, तब शरीर भारी एवं इन्द्रियाँ अपने विषय को ग्रहण करने में असमर्थ होने लगती हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न धर्मों से युक्त यह त्रिगुण एक ही शरीर में पुरुषार्थ को कैसे प्राप्त होते हैं ? इसका उत्तर है, दीपक की भांति । जिस प्रकार दीपक में रुई, तेल एवं अग्नि तीनों भिन्न प्रकृति के पदार्थ होने पर भी अन्य पदार्थों को प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार त्रिगुण भी भिन्न प्रकृति के होते हुये भी मनुष्य के पुरुषार्थों को सिद्ध करते हैं।

कई विद्वान् इन त्रिगुणों से भौतिक विज्ञान के अणु — प्रोटॉन, इलेक्ट्रॉन एवं न्यूट्रॉन की तुलना करते हैं, जिनमें प्रोटॉन की तुलना सत्त्व से, इलेक्ट्रॉन की तुलना रजस् से तथा न्यूट्रॉन की तुलना तमस् से की जाती है। इस प्रकार की तुलना करने वाले विद्वानों में उदयवीर शास्त्री अग्रणी हैं। उनके शब्दों में इन तीनों भौतिक अणुओं के सम्बन्ध में विचार इस प्रकार हैं —

“जगत् के तथाकथित मूल तत्त्व अणु — प्रोटॉन, इलेक्ट्रॉन एवं न्यूट्रॉन स्वरूप हैं। ऐसा कहा जाता है कि ये एक प्रकार के विद्युत् कण अथवा विद्युत् तरंग हैं। वस्तुतः अणु की रचना अथवा उसका गठन बहुत रहस्यपूर्ण है। यह स्वयं अपने में एक संसार बसाये पड़ा है। यह अद्भुत् शक्ति का पुञ्ज व केन्द्र है। इसमें प्रोटॉन तत्त्व के चारों ओर इलेक्ट्रॉन तत्त्व तीव्र गति से चक्कर काटा करता है। इनको यथाक्रम पॉजिटिव एवं नेगेटिव शक्ति कहा जाता है। इनकी यह स्थिति इस प्रकार बनती है कि प्रोटॉन स्वभावतः दूसरे तत्त्व को अपनी ओर आकृष्ट करता है, पर दूसरा तत्त्व इलेक्ट्रॉन गतिशील रहने से अलग दूर

को छिटक जाये, ऐसी सम्भावना रहती है, उसका यह अपना स्वभाव अपनी स्थिति है। पर पहले तत्त्व का आकर्षण उसे दूर भागने नहीं देता, और दूसरा अपने स्वभाव के कारण पहले में अन्तर्निहित नहीं हो जाता। इसका परिणाम यह निकलता है कि दूसरा (इलेक्ट्रॉन) पहले (प्रोटॉन) के चारों ओर तीव्र गति से चक्कर काटता रहता है। इन दोनों के इस चुम्बकीय आकर्षणानुकर्षण से सर्वथा पृथक् रहता है — तीसरा तत्त्व। न्यूट्रॉन में पहले दोनों तत्त्वों की कोई विशेषता नहीं रहती। इसी कारण इसका उक्त नाम रखा गया प्रतीत होता है। वैसे अपनी स्थिति में यह पहले दोनों तत्त्वों का आश्रय-भूत है। इस तिकड़ी में यह उदासीन के समान पड़ा रहता है, जिसके सहारे पर पूर्वोक्त दोनों तत्त्व अपनी क्रीड़ा में रत रहा करते हैं। कपिल ने इस तत्त्व को 'विषाद' पद से प्रकट किया है।²⁶

अब उदयवीर शास्त्री के ही शब्दों में ही इन तीनों भौतिक तत्त्वों की त्रिगुणों से तुलना इस प्रकार है —

“यद्यपि सत्त्व आदि के साथ इस स्थिति का संतुलन करना कदाचित् साहस मात्र कहा जायेगा। सम्भव है, सत्त्व आदि की स्थिति और अधिक मूल की ओर हो तथा आधुनिक विज्ञान के आधार पर विश्लेषित अणु, सांख्य के 'तन्मात्र' तत्त्व के सामान स्तर का हो, फिर भी सत्त्व आदि के साथ पूर्वोक्त विश्लेषण का संतुलन, कदाचित् कपिल की अन्तर्भावना को समझने में सहायक सिद्ध हो सकता है, यदि हम प्रोटॉन को सत्त्व, इलेक्ट्रॉन को रजस् और न्यूट्रॉन को तमस् के स्वरूप की तुलना में रखते हैं, तो सत्त्व आदि के प्रीति आदि स्वरूप का स्पष्टीकरण हमारे सम्मुख हो जाता है। सत्त्व, रजस् को अपनी ओर आकृष्ट करता है, यही सत्त्व का प्रीति स्वरूप है। सत्त्व के स्वभाव — आकर्षण को 'प्रीति' पद से प्रकट किया गया है; क्योंकि प्रीति में आकर्षण का अस्तित्व सम्भव है अथवा आकर्षण, प्रीति की अन्तरात्मा को प्रकट में लाता है। सत्त्व, जैसे रजस् को अपनी ओर आकृष्ट करता है, ठीक इसके विपरीत रजस्, सत्त्व से दूर भाग जाये या छिटक जाये, ऐसी सम्भावना बनी रहती है; क्योंकि यह तत्त्व सांख्य के अनुसार चलस्वभाव है, यही रजस् का अप्रीति स्वरूप है। सत्त्व

अपने प्रीतिस्वरूप—आकर्षण के कारण उसे दूर नहीं हटने देता। इसका परिणाम यह होता है कि रजस् तीव्र गति से सत्त्व के चारों ओर चक्कर काटने लगता है, फिर भी वह अपने आप को सत्त्व में समाविष्ट नहीं होने देता, प्रत्युत उसके साथ पृथक् रूप में अवस्थित रहता है। इस कारण उसका अप्रीति स्वरूप बराबर बना रहता है। सांख्य में रजस् को इसी कारण चलस्वभाव कहा गया है। तत्त्वों की यह स्थिति 'अन्योन्यमिथुनवृत्तिता' नाम से सांख्य में प्रस्तुत की गई है, जब ये तत्त्व परस्पर एक दूसरे से वर्तुलाकार में गुँथकर सर्ग रचना के लिये प्रवृत्त होते हैं, यही इनके वैषम्य का रूप है।²⁷

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णन से यह ज्ञात होता है कि व्यक्ताव्यक्त सम्पूर्ण जगत् त्रिगुणों से ओत-प्रोत है। कुछ भी त्रिगुणों से भिन्न नहीं है।

(ट) अविवेकि —

प्रकृति को अविवेकि इसलिये कहा गया है, क्योंकि वह अपने व्यक्त एवं अव्यक्त रूप का भेद नहीं कर पाती है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार अविवेकि का अर्थ है कि जिस प्रकार प्रधान अपने से अभिन्न या अपृथक् है, उसी प्रकार महदादि व्यक्त भी प्रधान से अभिन्न होने के कारण उससे अपृथक् है।²⁸ जैसे — प्रधानय महदादि अपने कार्यों से अपृथक् है, उसी प्रकार महत् भी अपने प्रधान कारण मूल प्रकृति से अलग नहीं हो सकता, इसलिये ये अविवेकि अर्थात् अलग होने में समर्थ नहीं कहे जाते हैं। वस्तुतः गुण और व्यक्त को 'यह गाय है या घोड़ा है', ऐसा अलग से विवेच्य नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि जो व्यक्त है, वही गुण है और जो गुण है, वही व्यक्त है।

(ठ) विषयः —

'विषय' का अर्थ है, ज्ञान के द्वारा ग्राह्य। वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि विज्ञानवादी बौद्ध, यह कहते हैं कि विज्ञान ही हर्ष, विषाद एवं मोह देने वाले शब्द आदि विषयों का रूप ग्रहण कर लेता है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई शब्दादि पदार्थ, इन हर्षादि धर्मों वाला नहीं है। जिसके उत्तर में सांख्य कहता है कि व्यक्त और अव्यक्त विषय ज्ञान के द्वारा ग्राह्य हैं

अर्थात् विज्ञान से बाह्य या अतिरिक्त वस्तु है।²⁹ चूँकि प्रत्येक मनुष्य को सुखदुःखादि का भिन्न-भिन्न ज्ञान होता है, अतः विषय के रूप में वस्तु कि स्वतन्त्र सत्ता है।

(ड) सामान्यम् —

सामान्य का अर्थ 'साधारण' होता है, अर्थात् — जो सर्वसुलभ हो। चूँकि प्रकृति विषय होने के कारण, ज्ञान द्वारा प्रत्येक पुरुष के लिये ग्राह्य है, इसीलिये वह 'सामान्य' या साधारण है। वाचस्पति पुनः यहाँ पर कहते हैं कि शब्द आदि विषयों को विज्ञान रूप मानने पर तो वृत्तिरूप विज्ञानों के असाधारण या व्यक्तिगत होने के कारण वे शब्दादि भी असाधारण या व्यक्तिगत होने चाहिये।³⁰ अभिप्राय यह है कि दूसरों को बुद्धि के अप्रत्यक्ष होने के कारण, जिस प्रकार किसी भी बुद्धि या विज्ञान का दूसरे के द्वारा अनुभव नहीं किया जाता, उसी प्रकार शब्द आदि को विज्ञान रूप मानने पर उनका भी सबको अनुभव नहीं होना चाहिए, अपितु केवल उसी व्यक्ति को उनका अनुभव होना चाहिए जिसके विज्ञान के वे रूप हैं। इस प्रकार शब्द आदि के विज्ञान से अतिरिक्त या बाह्य विषय होने से नर्तकी के एक ही कटाक्ष का एक साथ अनेकों के द्वारा अनुभव कर, उससे प्रभावित होना संगत होता है, अन्यथा ऐसा नहीं होता है।

(ढ) अचेतनम् —

अचेतन का अर्थ 'जड़' होता है। वाचस्पति के अनुसार अभी प्रधान और बुद्धि आदि अचेतन या जड़ हैं, न कि बौद्धों की भांति बुद्धि चेतन है।³¹ जड़ वस्तु अपने आपको प्रकाशित नहीं कर सकती, क्योंकि अपने को प्रकाशित करने का सामर्थ्य केवल चेतन में ही होता है। यही कारण है कि प्रधान आदि अपने को स्वयं प्रकाशित नहीं कर पाने के कारण जड़ हैं।

(ण) प्रसवधर्मि —

उत्पन्न होने की क्रिया को 'प्रसव' कहा जाता है तथा जिसमें उत्पन्न करने का सामर्थ्य हो उसे 'प्रसवधर्मि' कहते हैं। व्यक्त और अव्यक्त प्रसवधर्मि हैं, क्योंकि ये दोनों ही उत्पन्न करने के स्वाभाव वाले हैं, जैसे — महत् से बुद्धि, बुद्धि से अहंकार, अहंकार से इन्द्रियां आदि। प्रसवधर्मि का ही दूसरा अर्थ — परिणामी होता है। प्रकृति में 'सरूप' और 'विरूप' दो प्रकार

का परिणाम होता है। गुणों की साम्यावस्था या प्रलय को सरूप परिणाम कहा जाता है तथा गुणों की वैषम्यावस्था या सृष्टि को विरूप परिणाम कहा जाता है। वाचस्पति के अनुसार व्यक्त और अव्यक्त कभी भी इन दोनों प्रकार के परिणामों से वियुक्त नहीं होते।

व्यक्त और अव्यक्त के उपर्युक्त साधर्म्य के विपरीत, पुरुष से इनका वैधर्म्य है। अर्थात् – पुरुष त्रिगुणातीत है, विवेकि है, अविषय है, असामान्य है, चेतन है तथा अप्रसवधर्मि है, परन्तु 'अहेतुमत्' इत्यादि में 'पुरुष' का 'प्रधान' से साधर्म्य भी है।

3.3.2 प्रकृति के अस्तित्व की सिद्धि –

दर्शनशास्त्र के अनुसार समस्त प्रमेय पदार्थों का ज्ञान प्रमाणों के द्वारा ही सम्भव होता है। सभी दर्शन में प्रमाणों की संख्या पृथक्-पृथक् स्वीकार करते हैं। इसी क्रम में सांख्य दर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तवचन नामक, इन तीन प्रमाणों को स्वीकार करता है। सांख्य का मानना है कि इन्हीं तीनों में सभी प्रमाण अन्तर्निहित हैं और इन तीनों के द्वारा ही सभी प्रमेय पदार्थों की सिद्धि होती है।³² प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञानेन्द्रिय ग्राह्य समस्त पदार्थ सिद्ध होते हैं। जो अतीन्द्रिय पदार्थ हैं, वे अनुमान से सिद्ध होते हैं और जो अनुमान से भी असिद्ध रह जाते हैं, वह सभी प्रमेय पदार्थ आप्तवचन (आगम प्रमाण) से सिद्धि को प्राप्त होते हैं।

पूर्व से जैसा ज्ञात है कि, प्रकृति के व्यक्त और अव्यक्त दो रूप हैं। व्यक्त कार्य रूप है और अव्यक्त कारण रूप है। यहाँ पर इसके अव्यक्त रूप की सिद्धि की चर्चा की जा रही है, इसलिये उसके अस्तित्व की सिद्धि के लिए भी प्रमाण की आवश्यकता पड़ेगी, क्योंकि प्रकृति भी एक प्रमेय पदार्थ है और प्रमेय की सिद्धि प्रमाण द्वारा ही होती है। अतः यहाँ प्रश्न यह है कि उपर्युक्त तीन प्रमाणों में से प्रकृति की सिद्धि किस प्रमाण द्वारा होती है। तो इसका उत्तर है कि प्रकृति की सिद्धि अनुमान प्रमाण द्वारा होती है; क्योंकि यह इन्द्रियग्राह्य नहीं है और जो इन्द्रियग्राह्य नहीं होता उसकी सिद्धि अनुमान द्वारा होती है। इसके प्रत्यक्ष न होने से इसकी अनुपलब्धि प्रतीत होती है और इसी अनुपलब्धि के कारण लोक में शंका उपस्थित होती है, कि जो लोक में उपलब्ध नहीं होता उसे विद्यमान् नहीं माना जाता है। अतः अव्यक्त की भी सत्ता नहीं है।

उपर्युक्त शंका के समाधान स्वरूप ईश्वरकृष्ण ने कारिका के माध्यम से कहा है कि विद्यमान् वस्तु की अनुपलब्धि में आठ प्रकार के हेतु होते हैं, जिनके प्रभाव से कोई पदार्थ विद्यमान् होते हुये भी अनुपलब्ध प्रतीत होती है। वह आठों हेतु अग्रलिखित कारिका में सन्निहित हैं —

“अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।

सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात्समानाभिहाराच्च ॥”³³

अर्थात् — अत्यन्त दूर होने से, अत्यन्त समीप होने से, इन्द्रियों के नष्ट हो जाने से, मन की अस्थिरता से, सूक्ष्म होने से, किसी प्रकार का व्यवधान होने से, किसी वास्तु द्वारा अभिभूत होने से और अपने समान वस्तु में मिल जाने से विद्यमान् वस्तु की भी उपलब्धि नहीं होती है।

विद्यमान् पदार्थ की अनुपलब्धि में उपर्युक्त आठ प्रकार के हेतु प्रस्तुत किये गये । अब यहाँ प्रश्न यह है कि उपर्युक्त हेतुओं में से प्रधान की अनुपलब्धि में कौन सा हेतु लागू होगा । चूँकि हमें प्रधान की सिद्धि करनी है, इसलिये एक प्रश्न यह भी है कि उसकी अनुपलब्धि अमुक कारण से है, तो उपलब्धि कैसे होगी । इन प्रश्नों के उत्तर में भी ईश्वरकृष्ण द्वारा रचित एक और अन्य कारिका द्रष्टव्य है —

“सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाऽभावात् कार्यतस्तदनुपलब्धिः ।

महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिविरूपं सरूपं च ॥”³⁴

अर्थात् — अत्यन्त सूक्ष्म होने से प्रधान की अनुपलब्धि होती है, न कि आभाव के कारण । कार्य से तो उसकी उपलब्धि सिद्ध होती ही है । महत् आदि उसके कार्य हैं जो उसे विरूप भी हैं और सरूप भी । उपर्युक्त वर्णन से सिद्ध होता है कि किसी भी पदार्थ की अनुपलब्धि का अर्थ उसका आभाव नहीं होता । यहाँ पर कहा गया है कि प्रधान की सिद्धि उसके कार्यों से होती है । यहाँ प्रश्न है कैसे ? तो इसका उत्तर है कि कार्य सत् होता है । अर्थात् — कारण जैसा होगा कार्य भी उसी के अनुरूप होगा । असत् से सत् को उत्पन्न नहीं किया जा सकता । इसकी चर्चा सत्कार्यवाद में विस्तार से की जा चुकी है । अतः यहाँ विस्तार

में नहीं जायेंगे। इस प्रकार महत् आदि सत् कार्यो से उनके कारण, अव्यक्त की भी सिद्धि कारण के गुण ही कार्य में होने से हो जाती है।³⁵

उपर्युक्त वर्णन के अनुसार अव्यक्त की अनुपलब्धि सूक्ष्मता के कारण सिद्ध होती है, न कि वन्ध्यापुत्र और गगनपुष्प की भांति अभाव के कारण। जैसे – पत्थर, पृथ्वी महाभूत है, फिर भी पत्थर में गन्ध महसूस नहीं होती, जबकि गन्ध पृथ्वी का गुण है। इसका आशय यह है कि पत्थर में भी गन्ध है, परन्तु अनुपलब्ध है। ठीक इसी प्रकार अव्यक्त भी है, परन्तु प्रतीत नहीं होती है। अब किस प्रकार कारण रूप में अव्यक्त विद्यमान है, इस पर ईश्वरकृष्ण कारिका द्वारा पाँच हेतु प्रस्तुत करते हैं।³⁶ वह कहते हैं कि भेदों के परिणाम से, समन्वय से, शक्ति के अनुसार ही प्रवृत्ति होने से, कारण और कार्य का विभाग होने से और वैश्वरूप के अविभाग (प्रलय क्रम) से भी सिद्ध है कि अव्यक्त, व्यक्त के कारण के रूप में विद्यमान है। यह पाँचों हेतु विस्तार से प्रस्तुत हैं –

(क) भेदानां परिमाणात् (भेदों के परिमाण से अव्यक्त सिद्ध है) –

इस तर्क द्वारा सांख्य कहता है कि संसार के समस्त पदार्थ परिमाण युक्त हैं, कोई भी पदार्थ असीमित दिखाई नहीं देता। अतः इन परिमित पदार्थों का कोई अपरिमित कारण अवश्य होना चाहिये; क्योंकि सिमित कभी भी कारण नहीं हो सकता और ऐसा अपरिमित तत्त्व प्रधान ही है। इसलिये प्रधान का होना सिद्ध है।

(ख) समन्वयात् (भेदों के समन्वय से अव्यक्त सिद्ध है) –

इस द्वितीय तर्क से यह समझाया गया है कि संसार ही दृश्य वस्तुएं अनित्य एवं नाशवान् हैं। ये नष्ट होने के बाद अपने कारण में लीन हो जाती हैं। संसार के सभी विषयों का सामान्य धर्म सुख, दुःख और मोहात्मक है। इससे यह स्पष्ट है कि इन सभी वस्तुओं के मूल कारण में त्रिगुण होना चाहिए और ऐसा त्रिगुणमयी, संसार का मूल कारण तत्त्व अव्यक्त ही है। अतः अव्यक्त की सत्ता सिद्ध है।

(ग) शक्तिः प्रवृत्तेः (शक्ति के अनुसार ही प्रवृत्ति होने से अव्यक्त सिद्ध है) –

इस तृतीय तर्क में यह बताया गया है कि सभी कार्य अपने मूल कारण में पूर्व से ही विद्यमान रहते हैं और जो कारण, जिस कार्य को प्रकट करने की शक्ति रखता है, वही उस कार्य को उत्पन्न कर सकता है। यह तर्क सत्कार्यवाद के शक्तस्यशक्यकरणात् के अनुरूप है। अव्यक्त व्यक्त कार्यों को उत्पन्न करने में समर्थ है। इसलिए अव्यक्त की सत्ता सिद्ध है।

(घ) कारणकार्यविभागात् (कारण और कार्य के विभाग से अव्यक्त सिद्ध है) –

इस चौथे तर्क में यह कहा गया है कि कारण और कार्य का जो विभाग है, उससे भी अव्यक्त सिद्ध होता है; क्योंकि प्रत्येक कार्य अपने कारण से उत्पन्न होता है और नष्ट होने पर उसी में लीन हो जाता है। जैसे – अव्यक्त से महत्, महत् से अहंकार इत्यादि आविर्भाव का क्रम और इसके विपरीत अहंकार महत् में, महत् अव्यक्त में तिरोभूत हो जाता है। यही कारण और कार्य का विभाग है। अतः मूल कारण अव्यक्त सिद्ध है।

(ङ) अविभागाद् वैश्वरूपस्य च (वैश्वरूप के अविभाग से भी अव्यक्त सिद्ध है) –

पांचवें और अंतिम तर्क द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि जगत् के प्रकट रूप में अविभाग नहीं देखा जाता, इससे भी अव्यक्त सिद्ध है। जैसे – संसार के पांच महाभूतों का परस्पर विभाग नहीं है। महाभूतों में ही समस्त संसार समाया हुआ है, ये महाभूत अपनी उत्पत्ति के क्रम से ही अपने कारण में लीन हो जाते हैं अर्थात् अविभाग को प्राप्त होते हैं। इसलिये अविभाग से भी सिद्ध है कि अव्यक्त है। जैसे – दूध और दही में से दही कार्य है और दूध कारण। इसी भांति इन दोनों व्यक्त जगत् और अव्यक्त प्रकृति में से दूध की तरह अव्यक्त कारण है। अतः 'अव्यक्त' या 'प्रधान' कारण होने से सिद्ध है।

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णन में सांख्य दर्शन की प्रकृति को विविध साहित्य के माध्यम से समीक्षात्मक रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया तथा सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति के स्वरूप के अन्तर्गत त्रिगुणों पर विस्तार पूर्वक चर्चा की गई, जिसमें भौतिक विज्ञान के अणु- प्रोटॉन, इलेक्ट्रॉन एवं न्यूट्रॉन की तुलना सांख्य के त्रिगुणों से की गई, साथ ही प्रकृति के अस्तित्व की सिद्धि भी की गई। सम्पूर्ण विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि 'प्रकृ

ति' ही जगत् का उपादान कारण है। सम्पूर्ण जगत् त्रिगुणों से ओत-प्रोत है, जगत् में त्रिगुणों से भिन्न कुछ भी नहीं।

.....

सन्दर्भ —

1. श्वेताश्वतरोपनिषद् — 2/10
2. वही — 4/5
3. कठोपनिषद् — 1/3/11
4. वही — 2/3/7
5. महाभारत — 1/56/33
6. वही — 12/217/9
7. वही — 12/307/13
8. वही — 12/314/1
9. वही — 12/310/10—11
10. गीता — 7/4
11. भागवत् पुराण — 1/2/15
12. विष्णु पुराण — 1/2/19
13. कूर्म पुराण — 2/7/24
14. चरकसंहिता, शारीरस्थान — 1/63
15. सुश्रुतसंहिता, शारीरस्थान — 1/12
16. पंचदशी — 1/15
17. योगसूत्र — 1/19
18. वही — 1/45
19. सांख्यकारिका — 10
20. वही — 11
21. सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका — 11
22. सांख्यसूत्र — 6/39
23. वही — 1/61
24. सांख्यकारिका — 12
25. वही — 13
26. शास्त्री, उदयवीर, सांख्य—सिद्धान्त, पृष्ठ — 154

- 27. वही, पृष्ठ – 154–155
 - 28. सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका – 11
 - 29. वही
 - 30. वही
 - 31. वही
 - 32. सांख्यकारिका – 4
 - 33. वही – 7
 - 34. वही – 8
 - 35. वही – 14
 - 36. वही – 15–16
-

चतुर्थ अध्याय

सृष्टि—प्रक्रिया के साक्षी 'पुरुष' की अवधारणा

सांख्य दर्शन में 'प्रकृति' और 'पुरुष' दो मूल तत्त्व हैं। जिनमें प्रकृति समस्त जड़ जगत् का उपादान कारण होने से सम्पूर्ण जड़ समुदाय का प्रतिनिधित्व करती है और पुरुष चेतन 'आत्मा' के रूप में प्रतिष्ठित है। अब प्रश्न यह है कि जब सम्पूर्ण सृष्टि—प्रक्रिया का मूल कारण प्रकृति ही है और पुरुष साक्षी मात्र है, तो फिर इस साक्षी मात्र पुरुष को सांख्य दर्शन में स्वीकार करने की क्या आवश्यकता थी ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि यदि साक्षी पुरुष को स्वीकार न किया जाये तो फिर प्रकृति एवं उसका कार्य, सम्पूर्ण जगत् का उद्देश्य और प्रयोजन क्या रह जायेगा ? अर्थात् कोई भी कार्य सिर्फ अपने लिए नहीं होता, बल्कि उसमें दूसरा भी शामिल होना आवश्यक होता है। जैसे — बाजीगर अपना खेल दिखाए और उस खेल को देखने के लिए दर्शक ही न हों, तो खेल का क्या अर्थ रह जाएगा ? ठीक इसी तरह प्रकृति सम्पूर्ण सृष्टि की रचना करे और उसका कोई दृष्टा न हो और न ही कोई भोक्ता, तो उसकी सृष्टि रचना का क्या प्रयोजन होगा ? सांख्य दर्शन के अनुसार सृष्टि का प्रयोजन पुरुष का भोग एवं कैवल्य ही है।¹ इस प्रकार जब सांख्य दर्शन को चेतन पुरुष स्वीकार है, तो फिर आवश्यकता इस बात की है कि पुरुष के स्वरूप को समझा जाये और यह कैसे माना जाये कि पुरुष का अस्तित्व है ? और यदि है, तो पुरुष एक है या अनेक हैं ? इस प्रकार के समस्त विषयों पर इस अध्याय में विचार किया जाएगा। जिसे सांख्य दर्शन में 'पुरुष' कहा गया है, उसे ही सांख्येतर भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में आत्मा अथवा चैतन्य कहा जाता है। आत्मा के अस्तित्व को सांख्य दर्शन के साथ—साथ सम्पूर्ण भारतीय साहित्य किसी ना किसी रूप में अवश्य ही स्वीकार करता है। यह श्रृंखला वैदिक साहित्य से लेकर भारतीय दर्शन एवं अन्य साहित्य में भी दृष्टिगोचर होती है।

4.1 प्राचीन भारतीय साहित्य में पुरुष की अवधारणा —

प्राचीन भारतीय मनीषियों के लिए 'पुरुष' अर्थात् 'आत्मा' एक अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं गम्भीर विषय रहा है। वे इसकी उपयोगिता एवं प्रयोजनवत्ता के सम्बन्ध में विचारशील एवं जागरूक थे। यही कारण है कि उन्होंने इस आत्मतत्त्व पर गहन विचार—विमर्श किया है।

4.1.1 वैदिक साहित्य में पुरुष की अवधारणा –

‘पुरुष’ या ‘आत्मा’ पर विचार–विमर्श के क्रम में सर्वप्रथम भारतीय साहित्य के सर्वप्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद के ‘पुरुषसूक्त’ में पुरुष के विषय में विमर्श की एक झलक प्राप्त होती है, जहाँ पर पुरुष के स्वरूप को बताते हुये कहा गया है कि विराट् पुरुष के हजार सिर, हजार आँखें एवं हजार पैर हैं, वह भूमि को चारों ओर से घेरकर उससे दस अंगुल अधिक स्थित है।² इतना ही नहीं अपितु आगे यह भी कहा गया है कि जो कुछ हो चुका है अथवा होने वाला है, वह सब पुरुष ही है। वह अमृत का स्वामी है; क्योंकि वह कारण अवस्था को छोड़कर जगत् अवस्था को धारण करता है। इस प्रकार प्राणी उसको भोगते हैं।³ यह सारा ब्रह्माण्ड पुरुष की महिमा है, वह स्वयं ब्रह्माण्ड से बड़ा है। सभी प्राणी उसके एक पाद में हैं और उसके तीन पाद दिव्य लोक में रहते हैं।⁴ इस प्रकार ऋग्वेद में वर्णित ‘पुरुषसूक्त’ की भांति ही यजुर्वेद⁵ एवं अथर्ववेद⁶ में भी ‘पुरुषसूक्त’ उपलब्ध होता है; जहाँ पर उपरोक्तानुसार ही पुरुष का स्वरूप वर्णित है। इस प्रकार वेदों में वर्णित यह पुरुष सांख्यानकूल प्रतीत नहीं होता बल्कि यह विराट् पुरुष ब्रह्मस्वरूप प्रतीत होता है। वेदों में आत्मा को जीव या जीवात्मा कहा जाता है।

उपनिषदों में पुरुष या आत्मा विषयक यह विमर्श विभिन्न संवादों एवं आख्यानो के माध्यम से व्यक्त किया गया है। सर्वप्रथम बृहदारण्यकोपनिषद् की चर्चा करते हैं, जहाँ ‘आत्मतत्त्व’ विषयक अनेक संवाद आते हैं। इसी प्रसंग में प्रथमतः याज्ञवल्क्य–मैत्रेयी संवाद का वर्णन मिलता है, जहाँ मैत्रेयी द्वारा याज्ञवल्क्य से आत्मतत्त्व विषयक प्रश्न पूछा गया।⁷ जिसके उसके उत्तर में याज्ञवल्क्य ने कहा कि अरी मैत्रेयी ! यह आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मनन एवं ध्यान करने योग्य है। इस आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन एवं विज्ञान से सब का ज्ञान हो जाता है – “आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः...”।⁸ आत्मतत्त्व विषयक संवाद की इसी श्रृंखला में जनक–याज्ञवल्क्य संवाद आता है जिसमें जनक याज्ञवल्क्य से प्रश्न करते हैं कि “याज्ञवल्क्य किं ज्योतिरयं पुरुष इति।”⁹ अर्थात् हे याज्ञवल्क्य ! यह पुरुष किस ज्योति वाला है ? याज्ञवल्क्य इसका उत्तर देते हुये कहते हैं कि “आदित्यज्योतिः सम्राडिति” अर्थात् हे सम्राट ! यह आदित्यरूप ज्योति वाला है। इस उत्तर को सुनने के बाद जनक फिर कहते हैं कि आदित्य के अस्त हो जाने पर यह पुरुष किस ज्योति वाला होता है ? इसके प्रत्युत्तर में

याज्ञवल्क्य ने कहा कि उस समय चन्द्रमा ही उसकी ज्योति होता है। पुनः आदित्य और चंद्रमा के अस्त होने पर ? अग्नि ज्योति। आदित्य और चंद्रमा के अस्त होने पर तथा अग्नि के शांत होने पर ? वाक् ज्योति। आदित्य और चंद्रमा के अस्त होने पर तथा अग्नि और वाक् के शांत होने पर यह पुरुष किस ज्योति वाला होता है ? याज्ञवल्क्य इसका उत्तर देते हुये कहते हैं कि उस समय आत्मा ही इसकी ज्योति होती है। अब जनक प्रश्न करते हैं कि "कतम आत्मेति"¹⁰ अर्थात् आत्मा क्या है ? याज्ञवल्क्य कहते हैं कि "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः ... मृत्यो रूपाणि।"¹¹ अर्थात् यह जो प्राणों में हृदय की अंतर्ज्योति रूप विज्ञानमय पुरुष है, वह समान रूप से इस लोक एवं परलोक में गमन करता है। वही चिन्तन करता है और वही चेष्टा करता है। वह स्वप्न होकर इस लोक का अतिक्रमण करते हुये, मृत्यु के रूपों का भी अतिक्रमण करता है। आगे कहते हैं कि वह पुरुष जन्म लेने के साथ शरीरेन्द्रियों आदि से सम्पद्यमान् पापों से संश्लिष्ट हो जाता है तथा उत्क्रमण करते हुये इन्हें त्याग देता है।¹² उपनिषदों का यह वर्णन सांख्यानुकूल प्रतीत होता है; क्योंकि यहाँ पर जन्म लेने एवं उत्क्रमण करने की चर्चा की गई है। सांख्य दर्शन भी जीवन एवं कैवल्य को स्वीकार करता है।

4.1.2 महाभारत में पुरुष की अवधारणा —

महाभारत में सांख्य दर्शन के तत्त्वों का विषद् विवेचन प्राप्त होता है। सम्पूर्ण महाभारत सांख्य सिद्धान्तों से ओत-प्रोत है। इसी क्रम में इसमें पुरुष तत्त्व का विवेचन मिलता है, जिसके अनुसार महाभारत आत्मा को पच्चीसवें पुरुष के रूप में स्वीकार करता है। आत्मा को पुरुष क्यों कहा जाता है ? इसके सम्बन्ध में भी महाभारत में उक्ति प्रस्तुत की गई है कि "आव्यक्तिके पुरे श्येते पुरुषश्चेति कथ्यते।"¹³ अर्थात् — यह शरीर रूपी पुरी में शयन करता है, इसलिये इसे पुरुष कहा जाता है। महाभारत में आत्मा को 'पुरुष' के साथ-साथ 'क्षेत्रज्ञ' के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है।

महाभारत के अनुसार यह आत्मा स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर एवं कारण शरीर का आश्रय लेने वाला है तथा इन्द्रियों से युक्त होकर संसार के विविध प्रकार के भोगों को भोगता है। इन भोगों को भोगने के लिये इस आत्मा के साथ करण अर्थात् भोग के साधन के रूप में ज्ञान, बुद्धि एवं मन उपलब्ध हैं।¹⁴ इसी क्रम में आगे एक और अन्य मत प्रस्तुत किया गया

है कि यह आत्मा दोनों भोंहों के मध्य स्थित होकर उत्तम अथवा अधम बुद्धि को विभिन्न सांसारिक पदार्थों की ओर प्रेरित करता है।¹⁵ अन्य स्थल पर इस आत्मा को सत्त्व, रजस् एवं तमस् इन त्रिगुणों से रहित बताते हुये प्रकृति के विकार रूप कार्यों का द्रष्टा मात्र कहा गया है। साथ ही इसको इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य भी कहा गया है।¹⁶ इसी श्रृंखला में आत्मा के क्षेत्रज्ञ नाम का उपयोग करते हुये इसको साक्षी मात्र की संज्ञा भी प्रदान की गई है। इस प्रसंग में उक्ति प्रदान करते हुये कहा गया है —

“चक्षुरालोचानायैव संशयं कुरुते मनः।

बुद्धिरध्यवसानाय साक्षी क्षेत्रज्ञ उच्यते॥”¹⁷

अर्थात् — चक्षु इन्द्रिय देखने के लिये ही है, मन संशय करता है, बुद्धि निश्चय करने के लिये है तथा क्षेत्रज्ञ अर्थात् पुरुष साक्षी मात्र कहा जाता है। आगे पुरुष को बुद्धि का अधिष्ठान बताते हुये कहते हैं —

“पुरुषे तिष्ठति बुद्धिस्त्रिषु भावेषु वर्तते।

कदाचिल्लभते प्रीतिं कदाचिदपि शोचति॥”¹⁸

अर्थात् — पुरुष में स्थित बुद्धि तीनों सात्विक, राजसिक एवं तामसिक भावों के साथ रहने से सुख, दुःख एवं मोहात्मक प्रवृत्ति के कारण कभी सुख कभी शोक का अनुभव करती है।

एक अन्य प्रसंग में पुरुष एवं अव्यक्त दोनों को ही ध्रुव संज्ञक बताते हुये, दोनों के सूक्ष्म अन्तर को स्पष्ट करने के लिये मूँज और सींक का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।¹⁹ जिस प्रकार सामान्यतः मूँज एवं सींक दोनों ही देखने में एक जैसे स्वरूप के प्रतीत होते हैं, लेकिन उन्हें ज्ञान पूर्वक अलग-अलग पहचान लिया जाता है। ठीक इसी प्रकार तत्त्व ज्ञान द्वारा अव्यक्त एवं पुरुष के सूक्ष्म अन्तर को समझ लिया जाता है।

इस प्रकार महाभारत में वर्णित विभिन्न उक्तियों द्वारा पुरुष के स्वरूप के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त होती है। पुरुष से सम्बन्धित यह समस्त जानकारी वर्तमान समय में प्रचलित सांख्य दर्शन से किञ्चित् भिन्न एवं समान भी है।

4.1.3 श्रीमद्भगवद्गीता में पुरुष की अवधारणा —

गीता के तेरहवें अध्याय में पुरुष अर्थात् आत्मा को क्षेत्रज्ञ एवं प्रकृति अर्थात् शरीर को क्षेत्र कहा गया है।²⁰ पुरुष एवं प्रकृति दोनों को ही अनादि भी कहा गया है। पुरुष को भोक्तापन अर्थात् — भोगने में हेतु कहते हुये आगे कहा गया है कि प्रकृति में स्थित पुरुष ही प्रकृति से उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थों का भोग करता है और इन त्रिगुणों का संग ही इस पुरुष के अनेक अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण बनता है।²¹

इतना ही नहीं द्वितीय अध्याय में भी इस आत्मा की नित्यता को प्रदर्शित किया गया है। प्रसंग है कि भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को युद्ध के लिये तैयार नहीं होने पर विविध प्रकार से समझाया गया। समझाने के इसी क्रम में उन्होंने इस आत्मा के सम्बन्ध में भी विस्तार से उपदेश दिया। उपदेश के दौरान उन्होंने कहा कि जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है तथा जो इसको मरा हुआ मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते कि यह आत्मा वास्तव में न तो किसी को मारता है और न ही किसी के द्वारा मारा जाता है। यह आत्मा न तो किसी काल में जन्मता है और न ही इसकी मृत्यु होती है। यह न तो उत्पन्न होकर फिर होने वाला ही है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन एवं पुरातन है, शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारा जाता है। जिस प्रकार मनुष्य जीर्ण वस्त्रों को त्याग कर नवीन वस्त्रों को धारण करता है, वैसे ही यह आत्मा पुराने शरीरों को त्याग कर, नये शरीरों को धारण करता है। इस आत्मा को शस्त्र नहीं काट सकते, आग जला नहीं सकती, जल गीला नहीं कर सकता और वायु सुखा नहीं सकती; क्योंकि यह आत्मा अछेद्य है, अदाह्य है, अक्लेद्य है और निःसन्देह अशोष्य भी है तथा यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, अचल, स्थिर रहने वाला और सनातन है।²² इस प्रकार गीता में वर्णित पुरुष या आत्मा का स्वरूप सांख्यानिक ही प्रतीत होता है।

4.2 सांख्येतर भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में पुरुष की अवधारणा —

सम्पूर्ण भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय जड़ तत्त्वों से निर्मित देह के साथ देह संचालनार्थ, चेतन तत्त्व के अस्तित्व को भी स्वीकार करते हैं। यह चेतन तत्त्व ही पुरुष अथवा आत्मा के

नाम से जाना जाता है। सभी दार्शनिक सम्प्रदाय अपने-अपने सिद्धान्तों के आधार पर इस चेतन तत्त्व को परिभाषित करते हैं।

4.2.1 चार्वाक दर्शन में पुरुष की अवधारणा –

चार्वाक दर्शन में जीवित शरीर को ही आत्मा माना जाता है।²³ चार्वाक दर्शन में आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता को अस्वीकार किया गया है। आस्तिक दार्शनिकों ने चैतन्य को शरीर से अलग मानकर इसे आत्मा का गुण या धर्म माना है। आस्तिकों ने आत्मा का गुण ही चैतन्य को माना है। यह शरीर का धर्म नहीं हो सकता; क्योंकि शरीर अचेतन है और आत्मा चेतन। इस प्रकार आस्तिक दार्शनिक आत्मा और शरीर में भेद स्वीकार करते हैं; क्योंकि शरीर अनित्य है और आत्मा नित्य। आत्मा का धर्म चेतन है, तो शरीर का धर्म अचेतन है। शरीर का जन्म और मरण होता है, आत्मा का नहीं। चार्वाक आत्मा और शरीर में अभेद स्वीकार करते हैं। चार्वाकों का कहना है कि यह शरीर पृथ्वी, जल, तेज और वायु का संघात है।²⁴ जिस प्रकार किण्व आदि द्रव्यों में मादक शक्ति नहीं होती, किन्तु उसके विकार (मदिरा) में मादक शक्ति स्वयं उद्भूत हो जाती है, उसी प्रकार पृथिव्यादि चार तत्त्वों के संघात रूप शरीर में चैतन्य रहता है।²⁵ 'किण्व' एक प्रकार का बीज होता है, जिसका प्रयोग शराब बनाने में किया जाता था। इस प्रकार चार तत्त्वों के संघात रूप शरीर से चैतन्य उत्पन्न होता है और शरीर के नष्ट होने पर चैतन्य भी विनष्ट हो जाता है। जैसा कि वृहदारण्यकोपनिषद् में वर्णित है कि विज्ञान घन आत्मा इन्हीं भूतों से निकलकर फिर उसी में विलीन हो जाती है। मृत्यु के बाद उसका अस्तित्व विलीन हो जाता है।²⁶ इसी तरह चार्वाकों की मान्यता है कि इस पृथिव्यादि भूतों की समष्टिरूप शरीर में चैतन्य स्वयं उत्पन्न होता है।

आत्मतत्त्व विवेक के सम्बन्ध में सदानन्द ने वेदान्तसार में चार्वाकों के चार मतों का उल्लेख किया है। प्रथम – अनुभव के आधार पर – मैं दुबला हूँ, यह मोटा है इत्यादि अनुभवों के आधार पर मोटी देह या पतले शरीर को ही आत्मा मानते हैं। यदि आत्मा शरीर से भिन्न होती, तो इसका अलग अनुभव होता। हम किसी व्यक्ति के शरीर और आत्मा को अलग-अलग नहीं देखते हैं। शरीर की सत्ता समाप्त होते ही आत्मा का अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है। अगर इसका अस्तित्व अलग होता तो शरीर के विनष्ट होने पर भी यह सुरक्षित रहता। द्वितीय – कुछ चार्वाकों ने मैं अन्धा हूँ और मैं बहरा हूँ, ऐसी अनुभूति के आधार पर इन्द्रियों को ही

आत्मा मानने की भूल की है। ये इन्द्रियात्मवादी हैं; क्योंकि उनके अनुसार इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं। अन्धत्व और वधिरत्व के साधन तो आँख और कान ही हैं। ये ही तो इन्द्रियों के धर्म हैं। तृतीय – कुछ चार्वाक 'मैं भूखा हूँ या मुझे प्यास लगी है' इस अनुभूति के आधार पर प्राण को आत्मा मानते हैं; क्योंकि भूख और प्यास प्राण के ही धर्म हैं। ये प्राणात्मवादी हैं; क्योंकि ये प्राणों को ही आत्मा मानते हैं। प्राण का महत्त्व सर्वोपरि है। इसके बिना शरीर तो शव मात्र ही है। चतुर्थ – कुछ चार्वाक 'मैं संकल्प करता हूँ या मैं संशय में हूँ' ऐसा संकल्प-विकल्पात्मक अनुभूति के आधार पर मन को ही आत्मा मानते हैं; क्योंकि संकल्प-विकल्प मन के ही व्यापार हैं। इस प्रकार शरीरात्मवादी, इन्द्रियात्मवादी, प्राणात्मवादी और मनसात्मवादी चार्वाकों के चार मत प्रतिपादित हैं।²⁷

तार्किक पद्धति से चेतना की आत्मा से भिन्नता – शरीर की सत्ता में ही चैतन्य का अस्तित्व देखा जाता है। शरीर के विनष्ट होते ही चैतन्य का नाश भी निश्चित हो जाता है। अन्न-पानादि के उचित उपयोग से सुपुष्ट शरीर में प्रकृष्ट चेतना का उदय होता है। इसके अभाव में चेतना का भी ह्रास हो जाता है। चैतन्य के कारण, कार्य सम्पादन के लिए शरीर आवश्यक साधन है। अतः चेतना का सम्बन्ध शरीर से ही सिद्ध होता है, न कि आत्मा से। अतः चैतन्य की उत्पत्ति और विनाश के साधन एवं आधार होने के कारण इस शरीर को ही चार्वाक आत्मा मानते हैं।

4.2.2 जैन दर्शन में पुरुष की अवधारणा –

जैन दार्शनिकों का जीव-अजीव सम्बन्धी चित्रण बड़ा ही रहस्यपूर्ण है। जीव-अजीव अर्थात् चेतन एवं जड़ का वर्गीकरण सृष्टि-क्रम में सदा से चलता आया है और आगे भी चलता रहेगा। इनकी रचना नहीं की गई है, ये सह अस्तित्व से सम्बद्ध हैं। फिर भी ये एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं। जिसमें चेतना है, वह जीव है और चैतन्यशून्य अजीव या जड़ है। जैन दर्शन में विस्तार धारण करने वाले द्रव्य को 'अस्तिकाय' कहा जाता है। सत्ता सम्पन्न होने के कारण 'अस्ति' तथा शरीर की तरह विस्तार सम्पन्न होने के कारण ये 'काय' कहलाते हैं। अस्तिकाय द्रव्य पाँच प्रकार के होते हैं – जीव, पुद्गल, आकाश, धर्म और अधर्म। इनमें से जीव के अतिरिक्त शेष चार अजीव हैं। काल एक मात्र अनस्तिकाय द्रव्य है। जीवों के दो भेद हैं – बद्ध और मुक्त। कर्म, जीव से चिपक कर उसे बद्ध बना देते हैं और कर्म फल का

क्षय होने पर जीव मुक्त हो जाता है। जैन दर्शन में जीव को ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता माना गया है, ज्ञान जीव का स्वरूप गुण है, इसलिए वह स्वभाविक रूप से ज्ञाता है। जीव कर्मों का वास्तविक कर्ता होता है, इसलिए वह कर्म फलों का भोक्ता भी होता है।²⁸

4.2.3 बौद्ध दर्शन में पुरुष की अवधारणा —

बौद्ध एक निरीश्वरवादी एवं नास्तिकदर्शन है। यह दर्शन वेदों को प्रमाण नहीं मानता है, इसलिए नास्तिक दर्शन है। इसके प्रवर्तक गौतम बुद्ध हैं। बौद्ध दर्शन में पुरुष, चैतन्य या आत्मा एक नित्य सत्ता नहीं है। बुद्ध के अनुसार आत्मा अनित्य है। आत्मा, शरीर एवं मन का योग मात्र है। जब विज्ञानों का निरन्तर प्रवाह होता है, तो एक स्थायी सत्ता का भ्रम होता है, जिसे हम पुरुष या आत्मा कह देते हैं। वास्तव में नित्य आत्मा जैसी कोई सत्ता नहीं है। उपनिषदों के आत्मवाद के विरुद्ध बौद्ध दर्शन का यह अनात्मवाद है। बौद्ध दर्शन के अनुसार आत्मा पाँच स्कन्धों का समूह है, ये स्कन्ध हैं — रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान। सभी धर्म कार्य—कारणवाद के अन्तर्गत हैं। बौद्ध दर्शन में कार्य—कारणवाद को प्रतीत्यसमुत्पाद कहते हैं। जो कुछ भी प्रतीत्य समुत्पन्न है, वह अनित्य है। बौद्ध दार्शनिक नागसेन ने राजा मिलिन्द को यही समझाया था कि जैसे — रथ, पहिया, कील आदि का समूह है, उसी प्रकार आत्मा पाँच स्कन्धों से मिलकर बनी है। यदि रथ के अंगों को एक—एक करके हटा लिया जाये, तो रथ नाम की कोई सत्ता शेष नहीं रह जाती है, उसी प्रकार आत्मा भी इन पाँच स्कन्धों के अतिरिक्त कुछ और नहीं है।²⁹

बौद्ध दर्शन वास्तव में आत्मा का निषेध नहीं करता, बल्कि आत्मा की नित्यता का निषेध करता है। बौद्ध दर्शन के अनात्मवाद पर यह आक्षेप लगाया जाता है कि इससे कर्मफल व्यवस्था में व्यवधान उत्पन्न होता है, लेकिन अनात्मवादी सिद्धान्त कर्म—विपाक का भी समुचित समाधान प्रस्तुत करता है। बौद्ध दर्शन के अनुसार जो विज्ञान सन्तान कर्म करती है, वही उसका फल भी भोगती है। धान के बीज से अंकुर पैदा होता है और उसके क्षय से पौधा उग आता है। कर्म सिद्धान्त के आधार पर ही पुनर्जन्म भी सिद्ध हो जाता है। क्षणिक विज्ञान प्रवाह से पुनर्जन्म माना गया है। इसे समझाने के लिये दीपक की शिखा का उदाहरण दिया गया है, जैसे — दीपक सतत् जलता रहता है; किन्तु नीचे से ईंधन की राशि भी बदलकर नष्ट होती रहती है। इससे एकता का भ्रम होता है। पुनर्जन्म में एक जन्म के अन्तिम विज्ञान

का धर्म, अगले जन्म का प्रथम विज्ञान बन जाता है, यही आत्मा का शरीर धारण है। विज्ञानों का सतत् प्रवाह जन्म-जन्मान्तर में है; किन्तु कोई एक नित्य आत्मा नहीं है। यही बौद्ध धर्म का अनात्मवाद है तथा अनात्मवाद ही बौद्ध दर्शन का आत्मा विषयक सिद्धान्त है।

4.2.4 न्याय-वैशेषिक दर्शन में पुरुष की अवधारणा –

न्याय-वैशेषिक दर्शन में ज्ञान के अधिकरण को आत्मा कहते हैं। यहाँ पर आत्मा के दो रूप बतलाये गए हैं – जीवात्मा और परमात्मा। इनमें परमात्मा सर्वज्ञ है एवं वह एक मात्र है। जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न हैं तथा विभु एवं नित्य भी हैं।³⁰ प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष, जीवन, मनोगति, इन्द्रियान्तर विकार, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष एवं प्रयत्न ये सभी, 'आत्मा' के सूचक चिह्न हैं।³¹ बुद्धि आदि गुणों का आधार होने के कारण आत्मा द्रव्य है तथा चैतन्य इसका आगन्तुक गुण है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार प्रत्येक जीवात्मा में अपनी एक अलग विशिष्टता होती है। यह विशिष्टता ही उसे दूसरी आत्मा से भिन्न करती है। जीवात्मा कर्ता, भोक्ता और व्यापक है। "व्यवस्थातो नाना"³² इस सूत्र से भी आत्मा का अनेकत्व सिद्ध होता है। जैसे – कोई सुखी है, कोई दुःखी है, कोई धनी है, कोई निर्धनय कोई विद्वान् है तथा कोई मूर्ख है। इस प्रकार जीवात्मा अनेक है और विभु होने से यह परिमाणयुक्त है। आत्मा ज्ञानस्वरूप नहीं है; अपितु ज्ञान नामक गुण का आश्रयभूत द्रव्य है। ज्ञान आत्मा का आगन्तुक धर्म है।

4.2.5 मीमांसा दर्शन में पुरुष की अवधारणा –

मीमांसा दर्शन में दो मत प्रचलित हैं – कुमारिल भट्ट मत और प्रभाकर मिश्र मत। आत्मा की अनेकता में कुमारिल और प्रभाकर एकमत हैं। दोनों ही आत्मा को ज्ञान का आश्रय मानते हैं। इनकी दृष्टि में आत्मा सर्वगत, व्यापक, विभु और द्रव्य है। आत्मा ही ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है। यह शरीर, इन्द्रियों, मन और बुद्धि से भिन्न है। यह भोक्ता है और शरीर इसका भोगायतन है। आत्मा के लिए इन्द्रियाँ भोग का साधन हैं। बाहरी पदार्थ और मनोभाव आत्मा के भोग के विषय हैं। जैमिनि ने भी बुद्धि और इन्द्रियों से भिन्न आत्मा को एक विशिष्ट तत्त्व के रूप में ही स्वीकार किया है।³³ आत्मा स्वयंप्रकाश और चेतन है। देह अनित्य है और

आत्मा नित्य है, देह से यह बिल्कुल भिन्न है। प्रभाकर ने भी आत्मा को शरीर, इन्द्रियों तथा बुद्धि से भिन्न माना है एवं नित्य, विभु और अनेक कहा है।³⁴

प्रभाकर के मत में 'ज्ञान' आत्मा का गुण है। आत्मा स्वयं प्रकाश्य नहीं है। यदि ऐसा होता तो नींद में भी ज्ञान बना रहता। आत्मा तो ज्ञाता है, देह कभी ज्ञाता नहीं हो सकती। आत्मा कर्ता और भोक्ता है। देह तो भोगायतन है। ज्ञानेन्द्रियाँ भोग के साधन हैं और सुख-दुःख भोग के विषय हैं। इनके मत में आत्मा, एक साथ ज्ञाता और ज्ञेय नहीं हो सकती। ज्ञान स्वयं प्रकाश है और वह आत्मा और ज्ञान दोनों का एक साथ प्रकाश करता है। अतः उनका यह सिद्धान्त त्रिपुटी ज्ञान के नाम से ख्यात है। विषय-सम्पर्क से आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञान का कार्य विषय, पदार्थ या ज्ञेय को प्रकाशित करना है, किन्तु स्वप्रकाश रूप होने से ज्ञान ज्ञेय को प्रकाशित करते ही स्वयं भी प्रकाशित होता है, साथ ही आत्मा को भी ज्ञाता के रूप में प्रकाशित करता है। अतः प्रत्येक ज्ञान में ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञाता की त्रिपुटी का प्रत्यक्ष होता है। जैसे – दीपक का प्रकाश घट-पटादि पदार्थों को, स्वयं को और अपने आश्रयभूत दीपक को भी प्रकाशित करता है। उसी प्रकार ज्ञान इन्द्रिय-सन्निहित पदार्थ को ज्ञेय के रूप में, स्वयं को ज्ञान के रूप में और अपने आश्रयभूत आत्मा को ज्ञाता के रूप में प्रकाशित करता है। प्रत्येक ज्ञान में 'ज्ञेय-ज्ञान-ज्ञाता' की त्रिपुटी के प्रत्यक्ष होने के कारण प्रभाकर का मत ही 'त्रिपुटी प्रत्यक्षवाद' भी कहलाता है।³⁵

कुमारिल का ज्ञानविषयक चिन्तन 'ज्ञाततावाद' कहलाता है। कुमारिल का मत प्रभाकरमत से भिन्न है। सर्वप्रथम इनके मत में ज्ञान स्वप्रकाश नहीं होता। ज्ञान न तो स्वयं प्रकाशित होता है और न ही आत्मा को ज्ञाता के रूप में प्रकाशित करता है। इनकी दृष्टि में ज्ञान केवल ज्ञेय विषय को ही प्रकाशित करता है। ज्ञान की अपनी कोई अनुभूति नहीं होती है। यह अन्य ज्ञान के द्वारा भी प्रकाशित नहीं होता। नैयायिकों का मत है कि अनुव्यवसाय में ज्ञान का ज्ञान और साथ ही ज्ञाता का ज्ञान होता है; किन्तु कुमारिल के अनुसार अनुव्यवसाय में ज्ञाता का ज्ञान तो होता है, लेकिन ज्ञान का ज्ञान नहीं हो सकता। नैयायिकों की तरह कुमारिल भी मानते हैं कि ज्ञान स्वप्रकाशक न होकर, केवल अर्थप्रकाशक है।³⁶

ज्ञान ज्ञाता को ज्ञाता के रूप में प्रकाशित नहीं कर सकता है, किन्तु नैयायिकों के विपरीत कुमारिल यह मानते हैं कि स्वप्रकाशक न होने से ज्ञान अनुव्यवसाय में भी ज्ञान को

प्रकाशित नहीं कर सकता। अतः ज्ञान का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। ज्ञान केवल अनुमान है। कुमारिल ज्ञानादि को आत्मा का गुण नहीं मानते, बल्कि उसका परिणाम मानते हैं। देह, दैहिक, इन्द्रियाँ और बुद्धि के विनष्ट हो जाने पर भी आत्मा का विनाश नहीं होता। अतः आत्मा शरीर, बुद्धि और इन्द्रियों से भिन्न है। कुमारिल आत्मा को अहं प्रत्ययवेद्य और स्वयंप्रकाश दोनों ही मानते हैं, किन्तु इनके ही अनुयायी पार्थसारथि मिश्र आत्मा को स्वयंप्रकाश नहीं मानते। उनकी दृष्टि में आत्मा, मानस प्रत्यक्ष का विषय है। इस तरह कुमारिल के मत में आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, शरीर, इन्द्रिय और बुद्धि से भिन्न, चैतन्य, अमूर्त और अनन्त है। प्रत्येक शरीर में वह अलग-अलग निवास करता है। उसी का बन्धन और उसी का मोक्ष भी होता है, किन्तु मुक्तावस्था में आत्मा चेतना शून्य रहती है। कुछ आलोचकों की दृष्टि में प्रभाकर और कुमारिल दोनों ही ज्ञाता और ज्ञान के स्वरूप को ठीक से नहीं समझ सके हैं। प्रभाकर का यह कथन तथ्यात्मक है कि ज्ञान स्वप्रकाश है और आत्मा ज्ञाता है एवं ज्ञाता कभी ज्ञेय नहीं हो सकता है, किन्तु ज्ञान को शुद्ध नित्य ज्ञान के अर्थ में न लेकर उसे अनित्य वृत्तियों के रूप में लेना तथा ज्ञान को ज्ञाता का स्वरूप न मान कर केवल आगन्तुक धर्म मानना ज्ञान के स्वरूप का अज्ञान है। इसी तरह ज्ञाता को समस्त ज्ञान और अनुभव का स्वप्रकाश और स्वतः सिद्ध अधिष्ठान न मानकर उसे जड़ द्रव्य मानना किस हद तक उचित है ? यह विचारणीय बिन्दु है। कुमारिल और प्रभाकर दोनों का आत्मा, ज्ञाता न होकर 'द्रव्यवत्' जड़ बन गया है, इससे प्रतीत होता है कि दोनों ही ज्ञाता एवं ज्ञान के स्वरूप को ठीक से नहीं समझ सके हैं।³⁷

4.2.6 अद्वैत-वेदान्त में पुरुष की अवधारणा –

प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि आत्मा है, परन्तु यह कोई नहीं जानता कि यह क्या है ? यह सान्त है या अनन्त ? यह अकेला है या अपनी तरह अनेकों में से कोई एक है ? यह केवल साक्षी मात्र है या उपभोक्ता भी है अथवा इन दोनों में से एक भी नहीं है। चूंकि आत्मा के सम्बन्ध में परस्पर अनेक विरोधी मत हैं, अतः निश्चयपूर्वक इस पर कुछ भी कहना सम्भव नहीं है। आत्मा के सन्दर्भ में आचार्य शंकर की मान्यता है कि विचार के द्वारा आत्मा को जानना असम्भव है। विचार तो स्वयं अनात्म के क्षेत्र से चलने वाले प्रवाह का एक अंश है, फिर भी आत्मा को विचार के क्षेत्र से बाहर नहीं रखा जा सकता क्योंकि यह आत्मा सम्बन्धी

भाव का विषय है। आचार्य शंकर ने आत्मा का अस्तित्व, साक्षात् दर्शन के कारण माना है। किसी भी स्थिति में शंकर आत्मा की सिद्धि मानने को तैयार नहीं हैं, क्योंकि समस्त प्रमाओं का आधार वे इसे ही मानते हैं। साथ ही, समस्त प्रमाणों से पूर्व इसकी स्थापना को भी इतना ही महत्त्व देते हैं।³⁸ तार्किक दृष्टिकोण से भी आत्मा एक स्वतःसिद्ध आधार तत्त्व है। उनका कहना है कि आत्मा नित्य है, यह कर्ता से भिन्न है; क्योंकि कर्ता तो 'अहंप्रत्यय' का विषय है, जबकि आत्मा तो सब प्राणियों में साक्षी रूप से अवस्थित है।

अद्वैत-वेदान्त के अनुसार आत्मा ही परम तत्त्व है। आत्मा देश, काल और निमित्त से परे है। यह सदा ही एकरस है, तर्कातीत एवं स्वयंसिद्ध है। इसे किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं किया जा सकता। आत्मा की सत्ता पारमार्थिक है। यह शुद्ध चैतन्यस्वरूप और नित्य विज्ञानस्वरूप है। यह निष्प्रपञ्च और निर्विकल्प है। यह अनिर्वचनीय और विकल्पातीत है। आत्मा अविकारी और अपरिणामी है। यह नित्य और कूटस्थ है। यह अमात्र और तुरीय है। यह स्वतः सिद्ध और स्वप्रकाश है। यह न तो कर्ता है और न ही भोक्ता है। यह उपाधिशून्य है। यह जीव से भिन्न और एकाकी है। यह सुख-दुःखादि और पाप-पुण्य से परे है। यह स्वयं प्रकाशमान है। यह अपनी माया शक्ति से जगत् प्रपञ्च तथा प्रबुद्ध जीवों के रूप में प्रतीत होता है। विषयी और विषय, ज्ञाता और ज्ञेय, चेतन जीव और जड़ जगत् इसी आत्मतत्त्व के मायाकल्पित आभासमात्र है। वस्तुतः आत्मा परिवर्तन रहित एक यथार्थ सत्ता है। यह एक नित्य, सनातन और अविनाशी तत्त्व है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्तिय ये तीनों अवस्थाएँ इसी आत्मा से प्रकाशित हैं। आत्मा इन तीनों के पार तुरीयावस्था में अवस्थित है। जाग्रत अवस्था में बाहरी विषयों और मानसिक भावनाओं का व्यक्ति को अनुभव होता है। स्वप्नावस्था में मनः कल्पित पदार्थों की अनुभूति होती है। सुषुप्ति अवस्था में चिन्तन का कोई विषय ही नहीं रहता, न बाहरी और न भीतरी। इसमें न सुख का अनुभव होता है और न दुःख का ही। मन अविद्या में लीन हो जाता है। इसे ही अज्ञान या आवरण की अवस्था कहते हैं। जाग्रत और स्वप्न दोनों में आवरण और विक्षेप दोनों रहते हैं। इनके अतिरिक्त एक और चौथी अवस्था है, जिसे हम तुरीयावस्था कहते हैं। तुरीयावस्था में शुद्ध ज्ञान तथा आनन्द ही छलकता है। इसमें सब प्रकार के दुःखावसान हो जाता है। अखण्डानन्द स्वरूप, अविकारी, अद्वैत स्वरूप, स्वप्रकाश, विभु, आत्मदेव प्रकाशित होता रहता है, यही इसकी महत्ता है। अद्वैत-वेदान्त में

जीव और ब्रह्म अभिन्न माने गये हैं।³⁹ अतः अद्वैत-वेदान्त का आत्मतत्त्व निर्विकल्प, अखण्डानन्दस्वरूप, शुद्ध चैतन्य, स्वप्रकाश और सच्चिदानन्दस्वरूप है।

4.3 सांख्य दर्शन में पुरुष की अवधारणा –

भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में सांख्य दर्शन एक द्वैतवादी विचारधारा के रूप में विख्यात है, जिसमें पुरुष और प्रकृति नामक दो परस्पर स्वतन्त्र और निरपेक्ष तत्त्व स्वीकार किये गये हैं। प्रकृति तथा उसके कार्य रूप समस्त व्यक्त पदार्थ स्वभाव से अचेतन है। बुद्धि, अहंकार, एवं पंचज्ञानेन्द्रियाँ अव्यक्त का ही परिणाम होने के कारण चेतना रहित है। अब प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य में जो चेतना की उपलब्धि है, वह किस तत्त्व के कारण है ? वह कौन सा तत्त्व है, जिसके कारण मनुष्य को अपने अस्तित्व का आभास होता है ? किस सत्ता की प्रेरणा से उसकी इन्द्रियाँ विषयों की ओर प्रेरित होती हैं ? इन सभी शंकाओं का समाधान एक चेतन तत्त्व की कल्पना करके किया गया है। जिसे सांख्य दर्शन में 'पुरुष' अथवा 'ज्ञ' कहते हैं। यह पुरुष तत्त्व प्रकृति से सर्वथा भिन्न है। प्रकृति के समान यह भी एक अनादि तत्त्व है, जिसके कारण हमें सांख्य दर्शन में द्वैतवाद की उपलब्धि होती है। इस द्वैतवादी विचारधारा में पुरुष का अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि सांख्य दर्शन की मान्यता है कि पुरुष के कैवल्यार्थ ही प्रकृति से सम्पूर्ण सृष्टि का विकास होता है।

4.3.1 पुरुष का स्वरूप –

सांख्य दर्शन में पुरुष का स्वरूप प्रकृति के सर्वथा विपरीत माना गया है। चूंकि प्रकृति त्रिगुणात्मिका, अविवेकी, विषय, सामान्य, अचेतन और प्रसवधर्मि या परिणामी है, इसलिए प्रकृति का विरुद्धधर्मि होने के कारण पुरुष त्रिगुणातीत, विवेकी, ज्ञाता, चेतन और अपरिणामी है।⁴⁰ इसके अतिरिक्त सांख्य दर्शन में पुरुष को साक्षी, मध्यस्थ, द्रष्टा, अकर्ता और भोक्ता भी कहा जाता है।

त्रिगुणातीत होने के कारण पुरुष सुख, दुःख तथा मोह से भिन्न होता है और इसी कारण त्रिगुणात्मिका प्रकृति की क्रिया का साक्षी मात्र होता है। यहाँ पर नैयायिक सांख्य दर्शन के इस मत का विरोध करते हुए हेतु देते हैं कि शब्दादि के द्वारा हम कहते हैं कि मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ। अतः अहंकार और सुख-दुःखादि आत्मा के गुण ही हैं क्योंकि उन

दोनों का सम्बन्ध आत्मा से ही है। नैयायिकों के शंका का समाधान युक्तिदीपिकाकार निम्नलिखित उदहारण से करते हैं कि जैसे — मैं गोरा हूँ, काला हूँ आदि, यहाँ गौर वर्ण शरीर का धर्म है, न कि आत्मा का धर्म । यहाँ पर भी 'मैं' के साथ एक वाक्यता हो जाती है; फिर भी यहाँ पर 'मैं' का अर्थ 'आत्मा' न होकर 'शरीर' ही है; क्योंकि वास्तव में गौरादि शरीर का ही धर्म है न कि आत्मा का।⁴¹ माठर ने त्रिगुणाभाव से पुरुष को मध्यस्थ माना है; क्योंकि इसका किसी से कोई मतलब नहीं, अर्थात् यह उदासीन है।⁴² मध्यस्थ वही होता है, जो न सुख को चाहता है और न दुःख से द्वेष करता है। इस तरह सुख—दुःख से परे होने के कारण ही पुरुष को मध्यस्थ कहा जाता है। माठरवृत्तिकार का अनुसरण करते हुए कौमुदीकार कहते हैं कि अत्रिगुणत्व या निर्गुणत्व के कारण पुरुष मध्यस्थ अर्थात् तटस्थ या उदासीन सिद्ध है, क्योंकि सुखी, सुख से तृप्त या प्रसन्न होता हुआ और दुःखी, दुःख से द्वेष करता हुआ मध्यस्थ या तटस्थ नहीं होता। इन दोनों सुख और दुःख से रहित को मध्यस्थ और उदासीन कहा जाता है।⁴³

सामान्यतः किसी भी क्रिया के करने में समर्थ को कर्ता कहते हैं, किन्तु सांख्य दर्शन में, जब कर्ता पर विचार किया जाता है, तो दो विचारधाराएँ परिलक्षित होती हैं — पहली — अधिष्ठातृत्व की और दूसरी — उपादान की। अर्थात् — सांख्य दर्शन में अधिष्ठाता भी कर्ता है और उपादान भी, इसका कारण यह है कि किसी भी अर्थ को अनेक प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है, जैसे — प्रकृति से जगत् बनता है, मिट्टी से घड़ा, स्वर्ण से कुण्डल इत्यादि। इन स्थलों पर प्रकृति, मिट्टी एवं सुवर्ण का उपादान रूप में स्पष्ट वर्णन किया गया है। इसी अर्थ को एक अन्य प्रकार से उपस्थित किया जा सकता है, जैसे — प्रकृति जगत् बन जाती है, मिट्टी घड़ा बन जाता है और स्वर्ण कुण्डल बन जाता है, यहाँ पर प्रकृति, मिट्टी और स्वर्ण जगत्, घड़ा और कुण्डल के उपादान हैं, परन्तु जिस तरह वाक्य में इनका प्रयोग किया गया है, उससे उनकी स्थिति कर्ता के रूप में प्रकट होती है और इसका परिणाम यह निकलता है कि सांख्य दर्शन में जहाँ कहीं प्रकृति को कर्ता बताया गया है, वहाँ उसके कर्तृत्व का अभिप्राय उपादान रूप अर्थ का प्रतिपादन किया गया है। इसी भाव को लेकर इसके विपरीत आत्मा को कर्ता बताया गया है; क्योंकि आत्मा किसी कार्य का उपादान नहीं है, उपादान वही तत्त्व हो सकता है, जो परिणामी हो, चूंकि पुरुष परिणामी नहीं है, इसलिये,

जब उपादान के अर्थ में कर्ता पद का प्रयोग होता है, तब प्रकृति कर्ता और आत्मा अकर्ता कहा जाता है।

सांख्यकारिका की उन्नीसवीं कारिका पर माठरवृत्ति में 'अकर्तृभावः' पद की व्याख्या करते हुये, माठर एक शंका करते हैं कि यदि पुरुष अकर्ता है, तो प्रयोक्ता कैसे हो सकता है और यदि उसे प्रयोक्ता माना जाये, तो वह अकर्ता कैसे हो सकता है ? माठर ने इसका समाधान इस प्रकार दिया है कि कर्तृत्वभाव दो प्रकार का होता है। पहला – प्रयोक्तरूप दूसरा कर्तरूप। वृत्तिकार ने कारिका में 'उदासीन' पद द्वारा गुण-लक्षण से प्राप्त होने वाले कर्तृत्व का निषेध माना है और प्रयोक्ता रूप अथवा अधिष्ठातृत्वरूप कर्तृत्व को पुरुष में सिद्ध बताया है।⁴⁴ सांख्यकारिका की अन्य टीकाओं जयमंगला⁴⁵ तथा सांख्यतत्त्वकौमुदी⁴⁶ में भी इसी आधार पर पुरुष के अकर्तृत्व की व्याख्या की गई है। उनके अनुसार गुण प्रसवधर्मी हैं और इनके विपरीत पुरुष अप्रसवधर्मी है, इसलिए गुण कर्ता हैं और पुरुष अकर्ता है। पुरुष अकर्ता होते हुये भी गुणों के संयोग होने से अपने को कर्ता समझ लेता है और इसी कारण सांख्य दर्शन में पुरुष को भोक्ता भी कहा गया है; क्योंकि चोरी न करने पर भी, चोरों के साथ पकड़ें जाने पर दण्ड भोगना पाड़ता है।⁴⁷ इस प्रकार सांख्य दर्शन में पुरुष का साक्षी, मध्यस्थ, द्रष्टा, अकर्ता और भोक्ता होना सिद्ध होता है।

4.3.2 पुरुष के अस्तित्व की सिद्धि –

पुरुष या आत्मा के विषय में विभिन्न मत दृष्टिगोचर होते हैं, सभी के आत्मा विषयक विचार भिन्न-भिन्न हैं। कोई-कोई तो आत्मा के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करते हैं। इसीलिये आचार्य ईश्वरकृष्ण ने पाँच हेतुओं द्वारा प्रबल प्रमाणों से आत्मा की सिद्धि प्रस्तुत की है। इस सन्दर्भ में निम्नलिखित कारिका द्रष्टव्य है –

“संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात् ।

पुरुषोऽस्ति, भोक्तृभावात्, कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥”⁴⁸

अर्थात् – संघात अथवा समूह दूसरों के लिये होने से, त्रिगुणों के विपर्यय होने से, अधिष्ठान होने से, भोक्तृत्व होने से तथा कैवल्य के लिये प्रवृत्ति होने से पुरुष सिद्ध है। अब इन हेतुओं का पृथक्-पृथक् वर्णन प्रस्तुत है –

(क) संघातपरार्थत्वात् –

सांख्यतत्त्वकौमुदी के अनुसार "सुखदुःखमोहात्मकतयाऽव्यक्तादयः सर्वे संघाताः"⁴⁹ अर्थात् सुख-दुःख मोहात्मक सभी व्यक्त कार्य-समूह सभी संघात कहलाते हैं। ये सभी जड़ होने के कारण स्वयं के भोग के लिए नहीं हो सकते, बल्कि किसी चेतन के भोग के लिये होते हैं। माटरवृत्ति में भी संघात को परार्थ के लिये ही माना है।⁵⁰ संघात रूप कार्य-समूह की सत्ता किसी चेतन सत्ता के लिए है। वह चेतन सत्ता पुरुष ही है। भोग और मोक्ष पुरुष के दो प्रकार के प्रयोजन है। यह प्रयोजन-मूलक तर्क है। प्रकृति के तीनों गुणों बुद्धि, अहंकार, मन एवं इन्द्रियाँ आदि सब पुरुष के भोग और प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए प्रवृत्ति होते हैं। माटरवृत्ति में ऐसा अनुमान किया जाता है कि "तस्मादनुमीमहे अस्ति पुरुषः यस्यार्थं चक्षुरादिसंघातः शरीरमुत्पन्नमिति"⁵¹ अर्थात् – चक्षुरादि संघात युक्त शरीर चेतन पुरुष के प्रयोजन के लिए बनाए गए हैं। इस प्रकार यह चेतन पुरुष ही संघात का भोक्ता है। गौडपाद भी महदादि व्यक्त को संघात कहते हैं और वे परार्थ के लिए ही होते हैं।⁵² सांख्यकारिका के सभी टीकाकार संघातपरार्थ को हेतु स्वीकारते हैं, किन्तु जयमंगलाकार संघातत्त्व को हेतु और परार्थ को साध्य मानते हैं। लोक में शयन-आसन आदि, जो भी हैं, वे सभी पर के लिए होते हैं, न कि स्वार्थ के लिए एवं महदादि शरीरादि संघात हैं और वे दूसरे के लिए ही हैं।⁵³ इस प्रकार संघात का भोक्ता होने के कारण पुरुष सिद्ध है।

(ख) त्रिगुणादिविपर्ययात् –

व्यक्त कार्य-समूह त्रिगुणात्मक है एवं इससे विपरीत निर्गुण चेतन पुरुष की सत्ता स्वीकार की गयी है। अतः त्रिगुणात्मक कार्य समूह से भिन्न स्वभाव वाले चेतन पुरुष की सत्ता सिद्ध है। माटरवृत्ति में स्पष्ट किया गया है कि पुरुष अव्यक्त प्रकृति से भिन्न है। माटर कहते हैं कि "त्रयो गुणा यस्य गुणस्यादौ सम्भवन्ति स त्रिगुणादिः, त्रिगुणादेर्विपर्ययः। तस्मात्पश्यामोऽस्ति पुरुष इति, उक्तं पुर्वस्यामार्यायां त्रिगुणमविवेकीत्यादि व्यक्तं प्रधानं साधर्म्यम्। तद्विपरीतस्तथा च पुमान् इति"⁵⁴ यहाँ पर माठराचार्य 'त्रिगुणविपर्याय' इस पद की व्याख्या में कहते हैं कि सत्त्वादि त्रिगुणों से विपर्यय हो, वह तत्त्व पुरुष कहलाता है, क्योंकि पुरुष में त्रिगुणों के विषय, जैसे – सामान्यतत्त्व, अचेतनतत्त्व, प्रसवधार्मिता आदि गुणों का अभाव दिखाई देता है, इसलिए गुणमय द्रव्यों का जो भोक्ता है, वही चेतन पुरुष कहलाता है। इसी

को युक्तिदीपिकाकार ने इस प्रकार कहा है कि “त्रिगुणमविवेकी विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि च बाह्याध्यात्मिकं तथा प्रधानम्। तत्र यद्येतावदेतत् स्यात् किमापेक्ष्य व्यक्ताव्यक्तयोस्त्रैगुण्यादीति।⁵⁵ अर्थात् — त्रिगुणादि का विपर्यय होने से भी पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है। सम्पूर्ण जगत् त्रिगुणात्मक, अविवेकी, विषय, सामान्य तथा प्रसवधर्मि रूप है, यदि यहाँ पुरुष तत्त्व से रहित इतना ही प्रपञ्च होता, तो किस अपेक्षा से त्रिगुणत्वादि धर्म होते ? अतः सिद्ध होता है कि व्यक्ताव्यक्त से भिन्न पुरुष तत्त्व है, जो अत्रिगुणात्मक आदि धर्मों वाला है।

(ग) अधिष्ठानात् —

पुरुष की सिद्धि के लिए कारिकाकार अधिष्ठातृत्त्व युक्ति भी देते हैं। माठरवृत्ति में अधिष्ठातृत्त्व से पुरुष की सिद्धि को निम्न उदाहरण से व्यक्त किया है, जैसे — अश्वरथ सम्यक् रूप से मार्ग में दौड़ता है, तो इससे यह अनुमान किया जाता है कि रथ को चलाने वाला कोई सारथी होगा। उसी प्रकार मूल प्रकृति से घटादि चेतन से अधिष्ठित होकर प्रवर्तित होता है। अतः अनुमान करते हैं कि पुरुष है।⁵⁶ माठर और गौडपाद ने षष्टितन्त्र का सन्दर्भ “पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते”⁵⁷ प्रस्तुत किया है। “अधितिष्ठत्यस्मिन्नित्यधिष्ठानम्” इस प्रकार जयमंगलाकार ने अधिष्ठान की व्युत्पत्ति करके माठर के उदाहरण के द्वारा ही पुरुष का अधिष्ठातृत्त्व स्वीकार किया है।⁵⁸ सांख्यसूत्रकार इस सूत्र “तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्”⁵⁹ द्वारा आत्मा में अधिष्ठातृत्त्व को प्रतिपादित करते हैं। वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि जैसे — रथ को सारथी नियन्त्रित करता है, उसी प्रकार सुख, दुख एवं मोह स्वरूप महदादि को भी पुरुष ही नियन्त्रित करता है, इसलिए पुरुष अधिष्ठाता है।

(घ) भोक्तिभावात् —

युक्तिदीपिका के अनुसार जिनकी प्रवृत्ति दिखलायी पड़ती है, उनकी वह प्रवृत्ति किसी कारण के बिना निवृत्त नहीं होती है। प्रधान भी व्यक्तरूप होकर प्रवृत्तिमान् होता है। भोक्ता होने के कारण भी पुरुष सिद्ध है। व्यक्ताव्यक्त जगत् सुख—दुःख—मोहात्मक होने के कारण अचेतन है। अतः इन गुणों का परस्पर उपभोग नहीं हो सकता है, जिससे अन्य भोक्ता के होने की अपेक्षा होती है और जो इसका भोक्ता है, वही पुरुष है। युक्तिदीपिका में पुरुष को

भोक्ता और महदादि पदार्थ को भोग्य माना गया है, जो इस प्रकार है — “इह सुख—दुःख—मोहत्मकत्वादचेतनं व्यक्तामव्यक्तं च तस्मादस्य परस्परेण भोगो नोपपद्यते, इत्यवश्यं भोक्ता भवितव्यम्। योऽसौ भोक्ता स पुरुषः।”⁶⁰ पूर्वपक्ष का आरोप है कि चित्त और मनरूप चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, कामविज्ञान और मनोविज्ञानय यह छः प्रकार का विज्ञान स्कन्ध ही भोग सामर्थ्य युक्त है, फिर पुरुष की कल्पना क्यों की गयी ? जब कि आत्मा नामक कोई वस्तु नहीं हैं। इसके समाधान में युक्तिदीपिकाकार का कथन है कि अचेतन का विकार चैतन्य नहीं हो सकता है। उसका यह मत है कि रूप और चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है, तो वह अचेतन होने से घटादिवत् अचेतन ही होगा, क्योंकि चेतन मन का धर्म है, यह कल्पना मात्र ही है। जिस प्रकार चन्द्रकान्त मणि से जल की उत्पत्ति के समान अचेतन चक्षु से चेतनात्मक चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति विलक्षण होते हुए भी सम्भव नहीं है, क्योंकि यह नियम है कि चेतन से अचेतन और अचेतन से चेतन की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

प्रकृति और उसका कार्य जड़ होने के कारण भोग्य है वे स्वयं अपना भोग नहीं कर सकते। सुख, दुःख और मोह उत्पन्न करने वाले सभी पदार्थ का भोग करने वाला कोई चेतन तत्त्व होना चाहिए। जड़—भोग्य पदार्थों का चेतन भोक्ता पुरुष है। जितने भी भोग्य पदार्थ हैं, वे किसी न किसी भोक्ता की अपेक्षा करते हैं। प्रकृति और उसका कार्य—समूह जड़ होने कारण भोग्य हैं, वे स्वयं अपना भोग नहीं करते हैं। संसार में मधुर अम्ल आदि रसों से युक्त भोजन को देखकर उसका भोग करने वाले चेतन पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है।⁶¹ माठर का ही अनुसरण करते हुए गौडपाद भी महदादि अचेतन को भोग्य और चेतन को उसका भोक्ता स्वीकार करते हैं। ‘भोक्तृभावात्’ इस पद की व्याख्या जयमंगलाकार इस प्रकार करते हैं — “दृश्यते महादिभूतभोग्यम्”⁶² अर्थात् — महदादि भूत भोग्य का कोई न कोई भोक्ता अवश्य है। अचेतन होने से महदादि स्वयं भोक्ता नहीं हो सकता, अतरु जो चेतन तत्त्व है, वही पुरुष इसका भोक्ता है।

(ड) कैवाल्यार्थ प्रवृत्तेश्च —

इस तर्क में यह कहा गया है कि कुछ लोग मोक्ष प्राप्त करने की प्रबल इच्छा रखते हैं और प्रयत्न भी करते हैं। ज्ञानी पुरुष इस संसार के बन्धन से मुक्ति चाहता है। दैहिक, दैविक और भौतिक इन तीन दुखों का आत्यन्तिक विनाश हो जाने पर मोक्ष प्राप्त होता है।

दुःख का अनुभव तो सभी प्राणियों को होता है, लेकिन दुःख के विनाश के लिए प्रयत्न ज्ञानी पुरुष ही करता है। बुद्धि इत्यादि दुःखात्मक है। केवल चेतन पुरुष ही एक ऐसी सत्ता है, जो दुःखों से मुक्ति पाने का प्रयत्न करता है और मोक्ष प्राप्त करता है। जिसे सांख्यतत्त्वकौमुदी में इस प्रकार कहा गया है कि “कैवल्यमात्यंतिकदुःखप्रशमलक्षणं न बुद्धयादीनां सम्भवति”⁶³ माठरवृत्ति में भी कहा गया है कि प्रधान की प्रवृत्ति पुरुष के कैवल्य के लिए ही होती है।⁶⁴ युक्तिदीपिकाकर भी प्रधान की प्रवृत्ति पुरुष के कैवल्य के लिये ही मानते हैं क्योंकि वह प्रवृत्तिमान् है, उसकी प्रवृत्ति के बिना किसी की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। प्रधान भी प्रवृत्तिमान् है; क्योंकि व्यक्त पदार्थों में उसकी भी प्रवृत्ति देखी जा सकती है। अतः कैवल्य जिसका प्रधान प्रवृत्ति का निमित्त है, वही पुरुष है। “इह प्रवृत्तिमतां निमित्तमन्तरेण प्रवृत्तिर्नोपपद्यते । प्रधानमपि च प्रवृत्तिमत्त्व्यक्तदर्शनात् ।”⁶⁵ इस प्रकार कैवल्य की प्रवृत्ति से पुरुष की सत्ता सिद्ध है।

4.3.3 पुरुष बहुत्व —

सांख्य दर्शन में पुरुष बहुत्व को स्वीकार किया गया है, लेकिन उनकी संख्या अनेक होते हुए भी तत्त्वरूप में वे सभी एक ही हैं। उनका तत्त्व चैतन्य है, यह सभी आत्माओं में एक जैसा होता है। सांख्य दर्शन, अद्वैत-वेदान्त की इस मान्यता को अस्वीकार करता है कि एक ही आत्मा सभी जीवों में व्याप्त है। सांख्य दर्शन का यह विचार जैन मीमांसा एवं रामानुज के विशिष्टाद्वैत से मेल खाता है, क्योंकि इन विचारधाराओं में भी अनेक जीवों के अस्तित्व में विश्वास किया जाता है। ईश्वरकृष्ण ने पुरुष बहुत्व को सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित कारिका के माध्यम से तीन हेतु प्रस्तुत किये हैं —

“जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।

पुरुष बहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्याश्चैव ॥”⁶⁶

अर्थात् — जन्म, मरण तथा इन्द्रियों की व्यवस्था, एक साथ प्रवृत्ति के अभाव तथा त्रिगुणों के विपर्यय के कारण पुरुष की अनेकता सिद्ध होती है। अब क्रमशः कारिका में आए हुये प्रत्येक हेतु की पृथक्-पृथक् व्याख्या प्रस्तुत है —

(क) जननमरणकरणानां प्रतिनियामात् —

इस हेतु के अनुसार जन्म—मरण एवं इन्द्रियों का प्रत्येक पुरुष के साथ नियम अर्थात् सम्बन्ध है। ये जन्म—मरण तथा इन्द्रियाँ प्रत्येक पुरुष के साथ पृथक्—पृथक् होते हैं, अतः इस नियम रूप हेतु से पुरुष बहुत्व सिद्ध होता है। युक्तिदीपिकाकार लिखते हैं कि “जन्मेतिमहादादे सूक्ष्मशरीराश्रितस्य लिंगस्य यथासंस्कारं बाह्येन शरीरेण सम्बन्धः। मरणमिति पूर्वकृतस्य कर्मणः फलभोग विरागसमाप्तेः साम्प्रतस्य च फलभोगस्य प्रत्युपस्थाने लिंगस्य पूर्वं शरीरत्यागः”⁶⁷ अर्थात् — जन्म और मरण कार्य कारण की पृथक्—पृथक् अवस्थाएँ हैं, जो अंधकार एवं प्रकाश के समान परस्पर विरोधी है। उसी तरह एक आत्मा एक काल में परस्पर विरोधी जन्म और मरण का अनुभव नहीं कर सकता, जबकि सामान्यतः देखा जाता है कि एक ही समय जन्म और मरण एक साथ देखे जाते हैं। अतएव जन्म—मरणरूपी परस्पर विरोधी धर्म उपयोग की सामर्थ्य के कारण आत्मा अनेक हैं। यदि प्रत्येक शरीर में एक ही आत्मा माना जाये, तो एक के जन्म होने पर सब का जन्म होगा और एक की मृत्यु होने पर सब की मृत्यु हो जाएगी। एक के सोने पर सभी सो जाएंगे एवं एक के बन्धन से सभी का बन्धन होगा। एक के मुक्त होने पर सभी मुक्त हो जाएंगे किन्तु ऐसा नहीं होता, अतः प्रति शरीर आत्मा भिन्न—भिन्न है। आचार्य माठर ने अपनी वृत्ति में लिखा है कि “जन्मनियमादिह केचिन्नीचजन्मानः, केचिन्मध्यमजन्मानः, केचिदुत्कृष्टजन्मानः”⁶⁸ अर्थात् जन्म के नियम से कुछ जीव नीच कुल में जन्म लेते हैं, कुछ मध्य कुल में और कुछ उच्च कुल में, यदि पुरुष अनेक न हों तो यह कैसे सम्भव होगा, क्योंकि सभी का जन्म उनके द्वारा किए कर्म के आधार से होता है और यदि पुरुष एक है, तो कर्म भी सभी के एक जैसे होने चाहिए और उसी के आधार पर जन्म भी, परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता है। अतः इस प्रकार पुरुष बहुत्व सिद्ध होता है।

(ख) अयुगप्रत्प्रवृत्तेः —

अयुगपत् प्रवृत्ति होने से भी पुरुष बहुत्व सिद्ध है। युगपत् का अर्थ ‘एक साथ’ होता है और अयुगपत् का अर्थ ‘अलग—अलग’ होता है। इस प्रकार सभी मनुष्यों की प्रवृत्ति अलग—अलग होने से पुरुष का अनेक होना सिद्ध है। युक्तिदीपिकाकार कहते हैं कि “अयुगपत् प्रवृत्तेश्च पुरुषबहुत्वं सिद्धम्। कस्मात् प्रवृत्ते प्रधानस्येति शेषः प्रवृत्ति रूपपद्यते।”⁶⁹ अर्थात् प्रवृत्ति प्रधान होती है, क्योंकि यदि एक ही आत्मा हो तो प्रधान एक पुरुष के अधिकार में निबद्ध हो

जाएगा और वह एक पुरुष एक साथ अनेक शरीर का उपयोग कर सकेगा, परन्तु ऐसा नहीं होता, अतः अनेक पुरुष होना सिद्ध है। वाचस्पति मिश्र ने उपचारतः पुरुष की प्रवृत्ति का निरूपण पुरुष बहुत्व की सिद्धि में किया है और कहा है कि एक ही समय में समस्त शरीर आदि की प्रवृत्ति ना होने से आत्मा प्रति-शरीर भिन्न है, यद्यपि प्रवृत्ति अंतःकरण का धर्म है, तथापि पुरुष में उसका उपचार करते हैं।⁷⁰ जयमंगला में भी इसी प्रकार कहा गया है कि यदि एक ही आत्मा सब के शरीर में होता, तो एक ही अधिष्ठाता द्वारा अधिकृत धर्म-अधर्म, अर्थ-अनर्थ अथवा सुख-दुःख की प्रवृत्ति एक साथ दिखाई पड़ती, किन्तु ऐसा नहीं है।⁷¹ गौडपाद भी अयुगपत् प्रवृत्ति से पुरुष बहुत्व स्वीकारते हैं। अतः पुरुष अनेक हैं, एक नहीं.. ।

(ग) त्रिगुणादिविपर्यात् –

प्रत्येक पुरुष में तीनों गुणों का विपर्यय होने से भी पुरुष बहुत्व सिद्ध होता है। युक्तिदीपिका के अनुसार 'त्रिगुणादि' का तात्पर्य त्रिगुणत्व, अविवेकत्व, विषयत्व, सामान्यत्व, अचेनत्व एवं प्रसवधर्मित्वादि धर्मों से है और ये धर्म प्रत्येक शरीर में उपलब्ध हैं। जिस प्रकार यह धर्म देह में हैं, वैसे ही इनके प्रतियोगी अत्रिगुणात्मकत्वादि धर्म पुरुष में हैं।⁷² जैसे – एक पिण्ड से दूसरे पिण्ड के गुण-स्वभाव में विपरीत स्वभाव की उपलब्धि होने से, एक पिण्ड से दूसरे पिण्ड में अतिरिक्त पुरुष की सिद्धि होती है। इस तरह प्रत्येक पिण्ड में गुणों के स्वभाव में विपरीत स्वभाव की उपलब्धि होने से प्रति पिण्ड उनसे अतिरिक्त नाना पुरुष को समझना चाहिए। वाचस्पति मिश्र ने 'त्रैगुण्यश्' का अर्थ तीनों गुणों अर्थात् सत्त्व, रजस्, तमस् से लिया है और उनके वैचितर्य से पुरुष बहुत्व को सिद्ध किया है। उनके अनुसार कुछ सत्त्व प्रधान हैं, जैसे – उर्ध्वरेतस् देवादि, कुछ रजोप्रधान हैं, जैसे – मनुष्य एवं कुछ तमो प्रधान हैं, जैसे – पशु, पक्षी आदि।⁷³ यदि पुरुष सत्त्वादि शरीरों में एक ही होता, तो इस प्रकार तीनों गुणों का अन्यथा भाव हुआ नहीं दिखाई पड़ता। अतएव आत्मा एक है, यह न कह कर, वह प्रति शरीर भिन्न-भिन्न है, यही कहना उचित है। माठरवृत्ति, जयमंगला एवं गौडपादभाष्य में भी त्रैगुण्य का अर्थ तीनों गुणों से लगाते हुये, इसकी विचित्रता के आधार पर पुरुष बहुत्व को सिद्ध किया गया है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पुरुष या आत्मा विषयक गवेषणा अत्यन्त प्राचीन विषय है। पुरुष विषयक इस जिज्ञासा का समाधान अनेक प्रकार से करने का प्रयत्न भी

प्राचीन काल से चला आ रहा है। पुरुष के विषय में विभिन्न दार्शनिकों की विभिन्न धारणाएँ हैं, जैसा कि माठरवृत्तिकार ने "अत्राह केचिदाचार्याः इति मन्यते", इत्यादि उद्धरण द्वारा बताया है। सदानन्द के अनुसार चार्वाक मतानुयायियों में अनेक विकल्प पुरुष विषय में देखे जाते हैं। कुछ 'आत्मा वै जायते पुत्रः' इस श्रुति को प्रमाण रूप स्वीकृत करके पुत्र को ही आत्मा मानते हैं, तो कुछ चार्वाक स्थूल देह को ही आत्मा मानते हैं और कुछ इंद्रियों को तो कुछ मन तथा प्राणों को ही आत्मा मानते हैं। योगाचार मतानुयायी बौद्ध बुद्धि को ही आत्मा मानते हैं। इस विषय में ये 'अहं कर्ता', 'अहं भोक्ता' इत्यादि अनुभवों को प्रमाण रूप में प्रस्तुत करते हैं। वेदान्त दर्शन शुद्ध, चैतन्य को आत्मा मानते हैं। वे कहते हैं कि आत्मा जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं से परे है तथा नित्य शुद्धचैतन्य स्वरूप है।

अतः इस प्रकार उपरोक्त विचारों का अध्ययन करने के पश्चात् तथा सांख्य दर्शन के पुरुष के सन्दर्भ में प्रस्तुत विचारों से निष्कर्ष निकलता है कि सांख्य का पुरुष चेतन है। चेतनता उसका गुण न होकर स्वरूप है। सांख्य ने पुरुष को वेदान्त की तरह आनंदमय न मानकर चैतन्यरूप माना है। सांख्य के अनुसार पुरुष नित्य, त्रिगुणातीत, उदासीन, निष्क्रिय, केवल, मध्यस्थ, द्रष्टा तथा साक्षी है।

.....

सन्दर्भ —

1. सांख्यकारिका — 21
2. ऋग्वेद — 10/90/1
3. वही — 10/90/2
4. वही — 10/90/3
5. यजुर्वेद — 31
6. अथर्ववेद — 19/6
7. बृहदारण्यकोपनिषद् — 2/4/3
8. वही — 2/4/5
9. वही — 4/3/2
10. वही — 4/3/7
11. वही
12. वही — 4/3/8
13. महाभारत — 12/306/38
14. वही — 3/181/18—19
15. वही — 3/181/22
16. वही — 12/217/10
17. वही — 12/285/17
18. वही — 12/285/22
19. वही — 12/315/12
20. श्रीमद्भगवद्गीता — 13/1
21. वही — 13/19—21
22. वही — 2/19—24
23. 'चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः' — उपाध्याय, बलदेव, भारतीय दर्शन, पृष्ठ — 78
24. 'पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि । तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा' — वही
25. 'किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत् विज्ञानम्' — वही
26. बृहदारण्यकोपनिषद् — 2/4/12

27. वेदान्तरसार — 39–42
28. शर्मा, चन्द्रधर, भारतीय दर्शन, पृष्ठ — 39–41
29. वही, पृष्ठ — 64–65
30. ज्ञानाधिकरणमात्मा, स द्विविधो जीवात्मा परमात्मा चेति । तत्रेश्वरः सर्वज्ञः परमात्मैक एव ।
जीवात्मा प्रतिशरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च — तर्कसंग्रह
31. 'प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकारारु
सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि', वैशेषिकसूत्र — 3/2/4
32. वही — 3/2/20
33. मीमांसासूत्र — 1/1/4
34. 'बुद्धीन्द्रियशरीरेभ्यो भिन्नात्मा विभुर्भुवः', सर्वसिद्धान्तसंग्रह — 7/6
35. शर्मा, चन्द्रधर, भारतीय दर्शन, पृष्ठ — 200
36. वही — 201
37. वही — 202
38. आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात्प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात् सिद्ध्यति',
शाङ्करभाष्य, ब्रह्मसूत्र — 2/3/7
39. विवेक-चूडामणि — 395
40. सांख्यकारिका — 11
41. युक्तिदीपिका, कारिका — 19
42. माठरवृत्ति, कारिका — 19
43. सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका — 19
44. माठरवृत्ति, कारिका — 19
45. 'पुरुषस्याप्रसवधार्मिक्त्वादकर्तृत्वम्', जयमंगला, कारिका — 19
46. 'अप्रसवधार्मिक्त्वाच्चाकर्तृता', सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका — 19
47. गौडपादभाष्य, कारिका — 20
48. सांख्यकारिका — 17
49. सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका — 17
50. माठरवृत्ति, कारिका — 17
51. वही

52. गौडपादभाष्य, कारिका — 17
 53. जयमंगला, कारिका — 17
 54. माठरवृत्ति, कारिका — 17
 55. युक्तिदीपिका, कारिका — 17
 56. माठरवृत्ति, कारिका —17
 57. गौडपादभाष्य, कारिका — 17
 58. जयमंगला, कारिका — 17
 59. सांख्यसूत्र — 1/96
 60. युक्तिदीपिका, कारिका — 17
 61. माठरवृत्ति, कारिका — 17
 62. जयमंगला, कारिका — 17
 63. सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका — 17
 64. माठरवृत्ति, कारिका — 17
 65. युक्तिदीपिका, कारिका — 17
 66. सांख्यकारिका — 18
 67. युक्तिदीपिका, कारिका — 18
 68. माठरवृत्ति, कारिका — 18
 69. युक्तिदीपिका, कारिका — 18
 70. सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका — 18
 71. जयमंगला, कारिका — 18
 72. युक्तिदीपिका, कारिका — 18
 73. सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका — 18
-

पंचम अध्याय

सृष्टि—प्रक्रिया एवं क्रम—विकास

मानव सभ्यता के आरम्भ से ही 'सृष्टिशास्त्र' मनीषियों के चिन्तन का प्रमुख विषय रहा है। मनीषियों का सृष्टि से सम्बन्धित चिन्तन इस प्रकार आरम्भ हुआ कि सृष्टि क्या है, इसका आरम्भ कब, क्यों और कैसे हुआ ? इसका कारण क्या है, वह कारण एक है या एक से अधिक कारण हैं ? चिन्तन का यह क्रम प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल तक यथावत् चला आ रहा है। सृष्टि विषयक जो चिन्तन वैदिक काल में दृष्टिगोचर था, वही चिन्तन वर्तमान भौतिक विज्ञान के युग में भी परिलक्षित हो रहा है; क्योंकि वर्तमान भौतिक वैज्ञानिक भी उपरोक्त सृष्टि विषयक जिज्ञासाओं के समाधान में सतत संलग्न हैं। इसी तथ्य के आधार पर इस विषय की गहनता एवं गम्भीरता का अनुभव किया जा सकता है। प्राचीन वैदिक मनीषियों एवं पश्चात्वर्ती मनीषियों द्वारा स्वानुभव एवं स्वमतानुसार विविध तर्कों द्वारा सृष्टि विषयक उपरोक्त जिज्ञासाओं का सुसंगत समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

5.1 प्राचीन भारतीय साहित्य में सृष्टि—प्रक्रिया एवं क्रम—विकास —

प्राचीन भारतीय साहित्य अतीव गम्भीर एवं अथाह है। इस साहित्य में ज्ञान रत्नों के असीम भण्डार समाविष्ट हैं। उन्हीं ज्ञान रत्नों के असीम भण्डारों में से 'सृष्टिशास्त्र' भी एक रत्न है। प्राचीन साहित्यान्तर्गत 'सृष्टिशास्त्र' से सम्बन्धित चिन्तन का आरम्भ होना तो वैदिक संहिताओं में ही दृष्टिगोचर होता है, जिसका उत्तरोत्तर विकसित रूप पश्चात्वर्ती साहित्य उपनिषद्, महाभारत, पुराण एवं आयुर्वेदशास्त्र इत्यादि में परिलक्षित होता है।

5.1.1 वैदिक साहित्य में सृष्टि—प्रक्रिया एवं क्रम—विकास —

प्राचीन भारतीय साहित्य में वेदों का स्थान अन्यतम है तथा यह अत्यन्त समृद्ध एवं प्राचीनतम हैं। इनमें भी सर्वाधिक प्राचीन ऋग्वेद को माना जाता है। सृष्टि विज्ञान से सम्बन्धित वर्णन सर्वप्रथम ऋग्वेद के ही दशम मण्डल के पुरुषसूक्तान्तर्गत प्राप्त होता है। वैसे तो यह पुरुषसूक्त ऋग्वेद के साथ-साथ यजुर्वेद एवं अथर्ववेद में भी प्राप्त होता है¹, लेकिन इन तीनों वेदों के पुरुषसूक्त के मन्त्रों के क्रम एवं पद किंचित् भिन्न हैं। मन्त्रों के क्रम एवं पदों

में भिन्नता के बाद भी भाव सर्वथा वही प्रकट हुआ है। पुरुषसूक्त के अन्तर्गत आदि पुरुष को हजार सिर, हजार नेत्र एवं हजार पैर वाला बतलाते हुये, उस आदि पुरुष को ही सृष्टि का मूल कारण स्वीकार किया गया है। इस सूक्त में सृष्टि उत्पत्ति के क्रम में यह बतलाया गया है कि सर्वप्रथम आदि पुरुष से ब्रह्माण्ड रूपी विराट् उत्पन्न हुआ और उस विराट् से अनेक पुरुष एवं उनके शरीर उत्पन्न हुये।

पुरुषसूक्त के पश्चात् ऋग्वेद के दशम मण्डलान्तर्गत ही हिरण्यगर्भसूक्त² प्राप्त होता है, जिसे प्रजापतिसूक्त भी कहा जाता है। इस सूक्त में भी सृष्टि विषयक वर्णन प्राप्त होता है। इसके अनुसार सर्वप्रथम परमात्मा से प्रजापति उत्पन्न हुये और उत्पन्न होते ही सम्पूर्ण जगत् के स्वामी बनकर पृथ्वी एवं अन्तरिक्ष को धारण किया। पुनः उनसे जल उत्पन्न हुआ और जल से अग्नि एवं आकाशादि उत्पन्न हुये।

ऋग्वेद के सृष्टि विषयक सूक्तों की श्रृंखला में अगला क्रम नासदीयसूक्त³ का है, जिसमें प्रलय की अवस्था के वर्णन से आरम्भ करते हुये, सृष्टि उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। इस सूक्त के अनुसार प्रलय की अवस्था में न असत् था और न सत् ही था। उस समय न लोक थे और न ही अन्तरिक्ष था। न कोई आवरण था और न कोई ढकने योग्य पदार्थ था। न कोई प्राणी था और न कोई सुख पहुँचाने वाला भोग ही था। उस समय गहन गम्भीर जल भी नहीं था। उस समय न मृत्यु थी और न अमृत ही था, न रात्रि थी और न दिन का ही ज्ञान था। उस प्रलयावस्था में सब कुछ अन्धकारमय था, उसी समय कार्य—कारण से रहित 'ब्रह्म' उत्पन्न हुआ।⁴ आगे बताया गया है कि उस ब्रह्म के मन में सर्वप्रथम सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा हुई और वही इच्छा सृष्टि का बीज बनी। इसके आगे विद्वानों ने बुद्धि पूर्वक हृदय में विचार किया और असत् में सत् के कारण को खोजा। इसके आगे के वर्णन से ज्ञात होता है कि आकाशादि पंचमहाभूतों को उत्पन्न करने वाला ब्रह्म ही है।⁵

ऋग्वेदीय सृष्टि विषयक सूक्तों के क्रम में अगला सूक्त 'सृष्टिसूक्त' है, जिसे अघमर्षण सूक्त भी कहा जाता है। इसमें उत्पत्ति के क्रम को इस प्रकार बतलाया गया है कि प्रज्ज्वलित ताप से यज्ञ और सत्य उत्पन्न हुये। उससे रात और दिन उत्पन्न हुये और उससे जल पूर्ण सागर उत्पन्न हुआ। जल पूर्ण सागर से संवत्सर उत्पन्न हुये और पलक झपकने में संसार

के स्वामी ईश्वर ने दिन एवं रात बनाये । इसके बाद पूर्वकाल के अनुसार सूर्य और चन्द्रमा को बनाया तत्पश्चात् द्युलोक, पृथिवी एवं अन्तरिक्ष को बनाया ।⁶

उपरोक्त वर्णन से यह ज्ञात होता है कि वेदों के अनुसार सृष्टि का मूल कारण ब्रह्म ही है । उसी एक ब्रह्म से सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति, विस्तार एवं पालन होता है । उत्पत्ति का क्रम अवश्य भिन्न-भिन्न दृष्टिगोचर होता है, परन्तु मूल कारण की दृष्टि से ब्रह्म ही एक मात्र सृष्टि का कारण है ।

उपनिषदों में सृष्टि-प्रक्रिया एवं क्रम-विकास पर पर्याप्त विचार किया गया है । उपनिषदों में अधिकांशतः सृष्टि की रचना का मूल ब्रह्म को ही स्वीकार किया गया है । उपनिषदों की सृष्टि रचना पर विचार करते समय दो प्रकार के सिद्धान्त प्राप्त होते हैं — पौरुषेय तथा अपौरुषेय । प्रोफेसर रानाडे पौरुषेय तथा अपौरुषेय दोनों ही सिद्धान्तों का उल्लेख करते हैं । यहाँ पर उनका कथन द्रष्टव्य है —

“हम प्रारम्भ में ही उपनिषदीय सृष्टि-शास्त्र के सिद्धान्तों को दो प्रधान समूहों में विभाजित कर सकते हैं दृ अपौरुषेय तथा पौरुषेय । अपौरुषेय विभाग के अन्तर्गत ऐसे सिद्धान्त आ सकते हैं जो पंच-महायज्ञों को वस्तुजगत् का चरम तत्त्व मानते हैं अथवा जो असत्, सत् अथवा ऐसी ही सूक्ष्म कल्पनाओं को सम्पूर्ण वस्तुओं का मूल मानते हैं । पौरुषेय विभाग के अन्तर्गत वे सिद्धान्त आते हैं, जो सृष्टि के उद्भव को आत्मा अथवा परमात्मा के आधार पर सिद्ध करना चाहते हैं और विविध रूपों में सृष्टि की उत्पत्ति के द्वैत-तत्त्व मूलक अथवा उद्गम मूलक अथवा परम तात्त्विक ईश्वर मूलक पक्ष का प्रतिपादन करते हैं ।”⁷

प्रमुख उपनिषदों में प्रतिपादित सिद्धान्त उपरोक्तानुसार ही प्राप्त होते हैं । सर्वप्रथम बृहदारण्यकोपनिषद् का प्रसंग लेते हैं, जहाँ पर सृष्टि का मूल तत्त्व जल को बताया गया है ।⁸ जल से सत्य की, सत्य से ब्रह्म की, ब्रह्म से प्रजापति की और प्रजापति से देवता की उत्पत्ति हुई तत्पश्चात् समस्त सृष्टि की उत्पत्ति हुई । कठोपनिषद् के अनुसार अग्नि सृष्टि-प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है; क्योंकि इस सृष्टि के सम्पूर्ण पदार्थों में किसी न किसी रूप में अग्नि प्रविष्ट है ।⁹ छान्दोग्योपनिषद् में सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति का मूल स्रोत सत् को कहा गया है । छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार है

— सत् से तेज की, तेज से जल की, जल से अन्न की, अन्न से अण्डज, जीवज और उद्भिज की उत्पत्ति हुई।¹⁰ श्वेताश्वतरोपनिषद् में सृष्टि—प्रक्रिया के छः महत्त्वपूर्ण अंग हैं — काल, स्वाभाव, नियति, यदृच्छा, पंचमहाभूत तथा पुरुष।¹¹ इन्हीं तत्त्वों को समस्त भूतों की योनि कहा जाता है।

उपरोक्त वर्णन के आधार पर कहा जा सकता है कि उपनिषदों में सृष्टि विषयक दोनों पक्ष के सिद्धान्त उपलब्ध हैं। इस सन्दर्भ में माण्डूक्यकारिका में आचार्य गौडपाद ने कहा है कि सृष्टि सत् से होती है या असत् से, इस सन्दर्भ में उपनिषदों की आख्यायिकायें निर्णायक नहीं हैं, क्योंकि उपनिषदों में दोनों पक्षों के सिद्धान्त उपलब्ध हैं। अतः जो पक्ष जहाँ युक्तिसंगत हो वही उपनिषदों का सृष्टि विषयक सिद्धान्त युक्तियुक्त है।

इस प्रकार वैदिक साहित्य में सृष्टि—क्रम भिन्न—भिन्न प्रतीत होता है, जैसे — कहीं पर आकाश से, कहीं अग्नि से, कहीं किसी अन्य तत्त्व से सृष्टि का आरम्भ बताया गया है, परन्तु सबका मूल कारण ब्रह्म ही है।

5.1.2 महाभारत में सृष्टि—प्रक्रिया एवं क्रम—विकास —

महाभारत ज्ञान—विज्ञान का विशद भण्डार है। वैसे तो सम्पूर्ण महाभारत की ज्ञान का सागर है; परन्तु शांति पर्व विशेष रूप से ज्ञान का केंद्र बिन्दु है। शांति पर्व में ही मुख्य रूप से सृष्टि—प्रक्रिया के सम्बन्ध में विशद वर्णन प्राप्त होता है।

इस सन्दर्भ में व्यास जी द्वारा शुकदेव जी को सृष्टि—क्रम के सन्दर्भ में दिये गए उपदेश का प्रसंग है, जहाँ पर व्यास जी कहते हैं कि तेजोमय 'ब्रह्म' ही सबका बीज है, उसी ब्रह्म से सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है। उस एक ही ब्रह्म से स्थावर और जंगम दोनों उत्पन्न होते हैं। उस ब्रह्म के द्वारा अविद्या या प्रकृति से सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि होती है। सबसे पहले 'महत्' तत्त्व प्रकट होता है और उससे स्थूल सृष्टि का आधारभूत 'मन' उत्पन्न होता है। वह मन दूर तक गति करने वाला होता है तथा संशय वृत्ति वाला होता है। पुनः सृष्टि की इच्छा से प्रेरित होकर वह मन नाना प्रकार की सृष्टि करता है। उस मन से 'आकाश' की उत्पत्ति होती है। आकाश का गुण शब्द माना गया है। तत्पश्चात् जब आकाश में विकार उत्पन्न होता है, तब उससे पवित्र और सम्पूर्ण गन्ध को वहन करने वाला 'वायु' तत्त्व उत्पन्न

होता है। उस वायु का गुण स्पर्श माना गया है। फिर वायु में विकार स्वरूप 'अग्नि' तत्त्व प्रकट होता है। उस अग्नि तत्त्व का गुण रूप कहा गया है। पुनः अग्नि तत्त्व में विकार होने पर रसमय 'जल' तत्त्व की उत्पत्ति होती है। जल से गन्ध युक्त 'पृथ्वी' का प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार पंचमहाभूतों की सृष्टि होती है।¹²

ये नाना प्रकार की शक्ति वाले 'महत्', 'मन' और 'पंचमहाभूत' पृथक्-पृथक् रहते हुये प्रजा की सृष्टि करने में असमर्थ होते हैं; परन्तु ईश्वर की इच्छा से संयुक्त होकर विभिन्न प्रकार के शरीरों में परिणत हो जाते हैं।¹³

इसी सन्दर्भ में एक अन्य स्थल पर भी वर्णन प्राप्त होता है, जिसमें याज्ञवल्क्य का जनक के प्रति उपदेश के क्रम में सांख्य सम्मत चौबीस तत्त्वों और नौ प्रकार के सर्गों का निरूपण किया गया है। सर्वप्रथम जनक ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न किये कि इन्द्रियाँ कितनी हैं ? प्रकृति के कितने भेद माने गए हैं ? अव्यक्त क्या है ? सृष्टि और प्रलय क्या हैं ? इत्यादि।¹⁴

इन प्रश्नों के उत्तर में याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे राजन् ! तू जो कुछ पूछते हो, वह योग और विशेषतः सांख्य का ज्ञान तुम्हें बताता हूँ। प्रकृतियाँ आठ प्रकार की बतायी गई हैं और विकार सोलह। इनमें आठ प्रकृतियाँ हैं — अव्यक्त, महत्तत्त्व, अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी। सोलह विकार हैं — श्रोत, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, वाणी, हाथ, पैर, लिंग और गुदा। ये पंद्रह और इनके साथ सोलहवाँ 'मन' है।

अब आगे नौ प्रकार की सृष्टि के सम्बन्ध में बताते हुये कहते हैं कि इनमें से 'अव्यक्त' से 'महत्तत्त्व' की उत्पत्ति होती है। इसे विद्वान् प्रथम और 'प्राकृत-सृष्टि' कहते हैं। 'महत्' से 'अहंकार' प्रकट होता है। इसे द्वितीय और 'बुद्ध्यात्म-सृष्टि' कहा गया है। 'अहंकार' से 'मन' उत्पन्न हुआ, जो पंचभूत और शब्दादि गुण स्वरूप है। इसे तृतीय और 'अहंकारिक-सृष्टि' कहा जाता है। 'मन' से पाँच सूक्ष्म 'महाभूत' उत्पन्न हुये। इनको चतुर्थ और 'मानसी-सृष्टि' समझना चाहिए। महाभूतों से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध यह पाँच विषय उत्पन्न हुये। विद्वान् इसको पंचम और 'भौतिक-सृष्टि' कहते हैं। श्रोत, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका, इनको छठवीं और 'बहुचिन्तात्मक-सृष्टि' माना गया है। इन ज्ञानेन्द्रियों के पश्चात् कर्मेन्द्रियों

की उत्पत्ति होती है। इसे सातवीं और 'एन्द्रिक-सृष्टि' कहते हैं। ऊपर की ओर प्रवाह वाले 'प्राण' तथा तिरछे चलने वाले 'सामान' को आठवीं और 'आर्जावक-सृष्टि' कहा जाता है। तत्पश्चात् जिनका प्रवाह तिरछा चलता है, वे व्यान और उदान, अपान के साथ निम्न भागों में प्रकट हुये। इसे नौवीं और 'आर्जावक-सृष्टि' ही कहा जाता है।¹⁵

इस प्रकार महाभारत में भी स्थल-स्थल पर सृष्टि-क्रम की भिन्नता प्रतीत होती है, कहीं पर यह सांख्य दर्शन के अनुकूल प्रतीत होती है, तो कहीं पर प्रतिकूल ।

5.1.3 पुराणों में सृष्टि-प्रक्रिया एवं क्रम-विकास –

प्राचीन भारतीय साहित्य में पुराणों का विशेष महत्त्व है; क्योंकि वैदिक साहित्य के ज्ञान को प्रसारित करने में पुराणों की महती भूमिका रही है। पुराणों के प्रतिपाद्य विषयों, सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित में 'सर्ग' या 'सृष्टि' एक प्रमुख विषय है। जिसके सम्बन्ध में प्रायः सभी पुराणों में वर्णन प्राप्त होता है।

इस सन्दर्भ में भागवत पुराण में एक प्रसंग मिलता है, जहाँ पर नारद जी के सृष्टि विषयक प्रश्नों के समाधान स्वरूप ब्रह्मा जी द्वारा सृष्टि के सन्दर्भ में उपदेश दिया गया है। ब्रह्मा जी कहते हैं कि मायापति भगवान् ने एक से बहुत होने की इच्छा होने पर अपनी माया से अपने स्वरूप में स्वयं प्राप्त काल, कर्म और स्वाभाव को स्वीकार कर लिया । भगवान् की शक्ति से ही काल ने तीनों गुणों में क्षोभ उत्पन्न कर दिया, स्वाभाव ने उन्हें रूपान्तरित कर दिया और कर्म ने 'महत्तत्त्व' को जन्म दिया। रजोगुण और सत्त्वगुण की वृद्धि होने पर महत्तत्त्व में ज्ञान, क्रिया और द्रव्य रूप तमःप्रधान विकार उत्पन्न हुआ। वह विकार 'अहंकार' कहलाया और स्वयं भी विकार को प्राप्त होकर तीन प्रकार का हो गया। उस अहंकार के भेद हैं – वैकारिक, तैजस और तामस । वे तीनों क्रमशः ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति एवं द्रव्यशक्ति प्रधान हैं।

जब तामस अहंकार में विकार उत्पन्न हुआ, तब उससे 'आकाश' की उत्पत्ति हुई। आकाश की तन्मात्रा और गुण 'शब्द' है। इस शब्द के द्वारा ही द्रष्टा और दृश्य का बोध होता है। जब आकाश में विकार उत्पन्न हुआ, तब उससे 'वायु' की उत्पत्ति हुई। उस वायु का गुण 'स्पर्श' है एवं अपने कारण का गुण आ जाने से वह शब्द गुण वाला भी है। इन्द्रियों में स्फूर्ति, शरीर में जीवनी शक्ति, ओज और बल इसी के रूप हैं। काल, कर्म और स्वाभाव के

द्वारा वायु में भी विकार उत्पन्न हुआ। उससे 'तेज' की उत्पत्ति हुई। इसका प्रधान गुण 'रूप' है तथा अपने कारण, आकाश और वायु के गुण शब्द एवं स्पर्श भी इसमें हैं। तेज के विकार स्वरूप 'जल' की उत्पत्ति हुई। इसका मुख्य गुण 'रस' है तथा अपने कारण—तत्त्वों के गुण शब्द, स्पर्श एवं रूप भी इसमें होते हैं। जल के विकार से 'पृथिवी' की उत्पत्ति हुई। इसका प्रधान गुण 'गन्ध' है तथा कारण—कार्य न्याय से शब्द, स्पर्श, रूप और रस गुण भी इसमें विद्यमान होते हैं। वैकारिक अहंकार से 'मन' एवं इन्द्रियों के दस अधिष्ठाता देवताओं की उत्पत्ति हुई। उनके नाम हैं — दिशा, वायु, सूर्य, वरुण, अश्विनी कुमार, अग्नि, इंद्र, विष्णु, मित्र और प्रजापति। तैजस अहंकार से श्रोत, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और घ्राण, ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं वाक्, हस्त, पाद, गुदा और जननेन्द्रिय ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं। साथ ही ज्ञानशक्ति रूप 'बुद्धि' एवं क्रियाशक्ति रूप 'प्राण' भी तैजस अहंकार से ही उत्पन्न हुये।¹⁶

जिस समय ये पाँच महाभूत, दस इन्द्रियाँ, मन और सत्त्व आदि तीनों गुण संगठित नहीं थे, तब अपने रहने के लिये भोगों के साधन रूप शरीर की रचना नहीं कर सके। जब भगवान् ने इन्हें अपनी शक्ति से प्रेरित किया, तब ये तत्त्व परस्पर एक दूसरे के साथ मिल गये और आपस में कार्य—कारण भाव स्वीकार करके व्यष्टि—समष्टि रूप पिण्ड और ब्रह्माण्ड की रचना की। वह ब्रह्माण्ड रूपी अण्डा एक सहस्र वर्ष तक निर्जीव रूप से जल में पड़ा रहा फिर काल, कर्म और स्वभाव को स्वीकार करने वाले भगवान् ने उसे जीवित कर दिया। उस अण्डे को फोड़कर उसमें से वही विराट् पुरुष निकला, जिसकी जंघा, चरण, भुजाएँ, नेत्र, मुख और सिर हजारों की संख्या में हैं। विद्वान् पुरुष, उपासना हेतु उसी के अंगों में समस्त लोक और उनमें रहने वाली वस्तुओं की कल्पना करते हैं। उसकी कमर से निचे के अंगों में सातों पातालों की और पेड़ू से ऊपर के अंगों में सातों स्वर्गों की कल्पना की जाती है। ब्राह्मण इस पुरुष के मुख से, भुजाओं से क्षत्रिय, जांघों से वैश्य और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुये हैं। पैरों से लेकर कटिपर्यन्त सातों पातल और भूलोक की कल्पना की गई है, नाभि में भुवर्लोक की, हृदय में स्वर्ग लोक की और वक्ष स्थल में महर्लोक की कल्पना की गयी है। उसके गले में जनलोक, दोनों स्तनों में तपो लोक और मस्तक में सत्य लोक है।¹⁷

सृष्टि के सन्दर्भ में अग्नि पुराण के बीसवें अध्याय में भी अग्नि देव द्वारा नौ प्रकार की सृष्टि बतायी गई है। अग्नि देव कहते हैं कि सर्वप्रथम 'महत्' तत्त्व की सृष्टि हुई, उसे ब्रह्मा की सृष्टि समझनी चाहिये। दूसरी सृष्टि 'तन्मात्राओं' की हुई, उसे भूतसर्ग समझना चाहिये।

तीसरी सृष्टि 'इन्द्रियों' की हुई और वह वैकारिक अहंकार जन्य है। यही 'प्राकृत-सृष्टि' है, जो बुद्धि पूर्वक है अर्थात् इसमें सर्वप्रथम बुद्धि की उत्पत्ति हुई है। चौथी सृष्टि 'मुख्य-सृष्टि' है। मुख्य शब्द का अभिप्राय वृक्ष, पर्वतादि स्थावरों से है। पांचवीं सृष्टि, जिसे 'तिर्यकस्रोत' कहा जाता है, उसमें तिर्यग्योनि के जीव उत्पन्न हुये। छठवीं सृष्टि 'ऊर्ध्वस्रोतों' की है, उसे ही 'देवसर्ग' कहा जाता है। सातवीं सृष्टि अधःस्रोत वाले जीवों की हुई, उसे 'मानवी-सृष्टि' कहते हैं। आठवीं सृष्टि 'अनुग्रह-सृष्टि' है, उसके दो भेद हैं – सात्विक तथा तामस । इन आठों सृष्टि में प्रथम तीन 'प्राकृत-सृष्टि' हैं अर्थात् प्रकृतिजन्य सृष्टि हैं तथा शेष पाँच प्रकार की सृष्टियाँ 'वैकृत' हैं अर्थात् विकारों से उत्पन्न हैं। प्राकृत-वैकृत इन सभी से भिन्न नवां 'कौमार-सर्ग' है, जिसके कर्ता ब्रह्मा जी हैं। ये नौ प्रकार के सर्ग ही जगत् के मूल कारण हैं।¹⁸

इस प्रकार पुराणों का सृष्टि-क्रम भी भिन्न-भिन्न है, जिसमें कहीं सांख्य दर्शन से साम्यता अधिक दिखती है, तो कहीं पर वैषम्य अधिक प्रतीत होता है।

5.1.4 आयुर्वेदशास्त्र में सृष्टि-प्रक्रिया एवं क्रम-विकास –

आयुर्वेदशास्त्र प्राचीनतम भारतीय चिकित्सा पद्धति है। चूँकि चिकित्साशास्त्र प्राणियों से सम्बद्ध होता है; इसलिए यहाँ पर प्राणियों की चिकित्सा के साथ-साथ यह भी वर्णन किया गया है कि सम्पूर्ण जगत् एवं प्राणियों की उत्पत्ति कैसे होती है। इस क्रम में आयुर्वेदशास्त्र के प्रमुख ग्रन्थ चरकसंहिता की एक उक्ति द्रष्टव्य है –

“जायते बुद्धिरव्यक्ताद्बुद्धयाऽहमिति मन्यते।

परं खादीन्यहंकारादुत्पद्यन्ते यथाक्रमम्॥

ततः संपूर्णसर्वांगो जातोऽभ्युदित उच्यते॥”¹⁹

अर्थात् – अव्यक्त से बुद्धि, बुद्धि से अहंकार, अहंकार से पंचमहाभूत यथा क्रम में उत्पन्न होते हैं और उनसे सम्पूर्ण सर्वांग की उत्पत्ति होती है। यहाँ पर सांख्य दर्शन की भांति ही 'अव्यक्त' पद से 'प्रकृति' को सम्बोधित किया गया है।

सृष्टि के सन्दर्भ में सुश्रुतसंहिता के शरीरस्थान में भी वर्णन प्राप्त होता है। जहाँ पर सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम बताते हुये कहा गया है कि 'अव्यक्त' सब भूतों का कारण है, किन्तु

स्वयं अकारण है अर्थात् उसका कोई कारण नहीं है। वह सत्त्व, रज एवं तम गुण वाला तथा अष्टप्रकृति से सम्पन्न है। अव्यक्त ही समस्त जगत् की उत्पत्ति का कारण है। जैसे – समुद्र जलीय वस्तुओं का आधार है, उसी प्रकार यही एक अव्यक्त सभी जीवों का आधार है। उस अव्यक्त से 'महत्तत्त्व' की उत्पत्ति होती है। यह तीनों गुणों से युक्त होता है। इस प्रकार के महत्तत्त्व से अहंकार की उत्पत्ति होती है। यह अहंकार भी त्रिगुणात्मक होता है। इन्हीं गुणों के आधार पर अहंकार तीन प्रकार का होता है – वैकारिक, तैजस और भूतादि।²⁰

वैकारिक अहंकार द्वारा तैजस अहंकार की सहायता से ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, जो कि सात्विक रूप होती हैं। इन्द्रियाँ इस प्रकार हैं – श्रोत, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वाक्, हस्त, उपस्थ, पायु, पाद और मन। इनमें से पहली पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और दूसरी पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं तथा मन उभयात्मक है। भूतादि अहंकार द्वारा तैजस अहंकार की सहायता से पाँच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध – ये पाँच तन्मात्राएँ होती हैं। इन तन्मात्राओं से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार चौबीस तत्त्वों की व्याख्या बतायी गई है।²¹

इस प्रकार आयुर्वेदशास्त्र के अन्तर्गत, जहाँ चरकसंहिता का सृष्टि-क्रम सांख्य दर्शन के प्रतिकूल प्रतीत होता है, तो वहीं सुश्रुतसंहिता का वर्णन सांख्य दर्शन के सामान प्रतीत होता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय साहित्य की सृष्टि-प्रक्रिया एवं क्रम-विकास की सांख्य दर्शन से साम्यता न के बराबर प्रतीत होती है और वैषम्यता अत्यधिक प्रतीत होती है।

5.2 सांख्येतर भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में सृष्टि-प्रक्रिया एवं क्रम-विकास –

दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत मानव जीवन से सम्बन्धित अनेकानेक जिज्ञासाओं पर विमर्श किया जाता है, इन्हीं जिज्ञासाओं के समाधान में ही प्राचीन भारतीय दार्शनिकों द्वारा भी विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं। इसी क्रम में 'सृष्टि की उत्पत्ति' विषयक जिज्ञासा भी सम्मिलित है। 'सृष्टिशास्त्र' दार्शनिक जिज्ञासा का महत्त्वपूर्ण पहलू है, इसीलिये दार्शनिक चिन्तन में इसका बड़ा महत्त्व है। दर्शनशास्त्र में सृष्टि-उत्पत्ति से सम्बन्धित मुख्य

सिद्धान्त 'कार्य-कारणवाद' है। अतः कोई भी दर्शन 'कार्य-कारणवाद' को स्वीकार किये बिना प्रगति के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता। प्राकृतिक घटनाओं एवं लौकिक व्यवहार में भी बौद्धिक आधार पर 'कारणता' का सिद्धान्त दृष्टिगोचर होता है। कोई भी प्राकृतिक घटना बिना कारण के नहीं होती। 'कार्य-कारणवाद' प्रकृति का अबाध्य नियम है। सृष्टि की उत्पत्ति किस कारण से होती है ? वह कारण एक है अथवा अनेक ? उसका स्वरूप क्या है ? वह प्रधान कारण जड़ है अथवा चेतन ? क्या कारण एवं कार्य एक दूसरे से पृथक् हैं ? क्या कारण से पृथक् कार्य एक नवीन सृष्टि है अथवा कार्य पहले से ही कारण में विद्यमान है ? क्या कार्य कारण का अवस्था परिवर्तन मात्र है ? ऐसे अनेक प्रश्न 'कार्य-कारणवाद' की समस्या में विद्यमान रहते हैं। इसी 'कार्य-कारणवाद' के आधार पर ही प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय अपनी तत्त्वमीमांसा के अनुसार 'सृष्टि-प्रक्रिया एवं क्रम-विकास' की व्याख्या प्रस्तुत करता है।

5.2.1 चार्वाक दर्शन में सृष्टि-प्रक्रिया एवं क्रम-विकास —

चार्वाक दर्शन ने जगत् रचना के सन्दर्भ में भौतिकवाद का प्रतिपादन किया है। पृथ्वी, जल तेज तथा वायु, यही चार जगत् के मूल कारण हैं। बौद्धों के ही समान चार्वाकों का भी मत था कि आवरणाभाव के कारण आकाश शून्य ही है, कोई सत्तात्मक पदार्थ नहीं। ये ही चार पदार्थ अपनी आप्णिक अवस्था में जगत् के मूलकारण हैं। बाह्य जगत्, इन्द्रियाँ तथा भौतिक शरीर इन्हीं चार मूलभूतों से उत्पन्न होते हैं, पर इनकी उत्पत्ति कैसे होती है ? इसका उत्तर चार्वाक ने कहीं नहीं दिया है। दृष्ट और अदृष्ट कारण के साक्षात् निषेध करने से तथा इस जगत् के किसी चेतन अन्तर्यामी की सत्ता न मानने से यह विश्व चार्वाकों की दृष्टि में अकस्मात् सम्मिलित होने वाले भूतचतुष्टय का एक संग्रहमात्र है। साक्षात् इन्द्रिय सन्निकर्ष से जिसकी प्रतीति होती है, चार्वाक मत में वही सत्य है। अतः चार्वाक के चिन्तन का केन्द्र यह दृश्यमान भौतिक जगत् ही है। प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत न आने वाले तत्त्वों का अस्तित्व वह स्वीकार नहीं करता।

चार्वाक की विचारधारा से सम्बद्ध कोई भी मूल ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है, किन्तु इसके प्रमुख सिद्धान्त अन्य दार्शनिक तथा साहित्यिक ग्रन्थों में इतस्ततः विकीर्ण रूप में मिलते हैं। बौद्ध धर्म के प्राचीन ग्रन्थों में चार्वाक मत का यत्र-तत्र निदर्शन किया गया है। जैसे —

मनुष्य चार तत्त्वों के संयोग से ही निर्मित है, जब मनुष्य मर जाता है तो पृथ्वी के तत्त्व पृथ्वी में जा मिलते हैं, जल के तत्त्व जल में, वायु के तत्त्व वायु में तथा अग्नि के तत्त्व अग्नि में विलीन हो जाते हैं। बुद्धिमान और मूर्ख दोनों का शरीर समान रूप से नष्ट हो जाता तथा फिर उसकी किसी भी प्रकार की सत्ता नहीं रहती।

बृहस्पति के नाम से उद्धृत कुछ सूत्र अन्य ग्रन्थों में प्रकीर्णावस्था में प्राप्त होते हैं।²² उनमें कहा गया है कि “पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा”²³ अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु ये चार ही तत्त्व हैं। इन चार तत्त्वों के यथोचित मात्रा में संयुक्त हो जाने की ही शरीर, इन्द्रिय तथा विषय संज्ञा होती है। अतः चार्वाक मत से यह शरीर, इन्द्रियाँ तथा जगत् के समस्त विषय इन्हीं चार तत्त्वों के संयोग से ही निर्मित हैं।

5.2.2 जैन दर्शन में सृष्टि—प्रक्रिया एवं क्रम—विकास —

जैन दर्शन के अनुसार समस्त भौतिक जगत् का ढांचा पुद्गलों से निर्मित है। पुद्गल प्रचयरूप से जड़द्रव्यों का निर्माण करते हैं। इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के गोलक, जीवों के शरीर तथा जो भी आकृतिमान् पदार्थ हैं, वे सब पुद्गल हैं। ‘पुद्गलास्तिकाय’ यह संज्ञा जैन शास्त्र में ही प्रसिद्ध है, अन्य दर्शनों में ‘पुद्गल’ स्थानीय तत्त्व को प्रधान, प्रकृति, परमाणु आदि शब्दों को पुकारते हैं। सर्वदर्शन—संग्रह में पुद्गल शब्द की निरुक्ति बतलाई गई है — “पूरयन्ति गलन्ति च” अर्थात् जो पूर्ण हो जाये तथा गल जाये। पुद्गल उन द्रव्यों की संज्ञा है, जो प्रचय रूप से शरीर का निष्पादन करने वाले होते हैं तथा प्रचय के विनाश होने पर जो छिन्न—भिन्न हो जाते हैं। पुद्गल के दो रूप उपलब्ध होते हैं — अणु तथा संघात । पुद्गल के सूक्ष्मतम निरवयव अंश जिनका और सूक्ष्म रूप में विभाजन नहीं किया जा सकता वह ‘अणु’ कहलाते हैं। दो या दो से अधिक इन सूक्ष्म अंशों के परस्पर एकत्र होने से ‘संघात’ बनता है। इन्हीं संघातों के द्वारा हमारे शरीर तथा उसके भिन्न—भिन्न अंग, मन एवं प्राण की सृष्टि होती है।²⁴

पौद्गलिक पदार्थों में चार गुण पाये जाते हैं — स्पर्श, रस, गन्ध तथा रूप । ये गुण उनके द्विविध रूपों में विद्यमान रहते हैं। ‘अणु’ और ‘संघात’ इन दोनों में, ये चारों गुण पाये जाते हैं। अन्य दार्शनिक ‘शब्द’ को भी भूतों का गुण विशेष स्वीकार करते हैं; परन्तु जैन दार्शनिक ‘शब्द’ को मूलभूत गुण नहीं मानते; अपितु सूक्ष्मत्त्व, स्थूलत्त्व, अन्धकार, छाया आदि

के समान होने वाला अवान्तर परिणाम बतलाते हैं।²⁵ सांख्य दर्शन के समान ही जैन दर्शन भी जड़ पदार्थ 'पुद्गल' से जगत् की उत्पत्ति मानता है तथा सांख्य के समान भूत चतुष्टय को स्वीकार करता है, केवल महाभूतों में से आकाश को भौतिक नहीं माना है।

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु; उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य युक्त है।²⁶ अर्थात् पदार्थ उत्पन्न होने वाला, नष्ट होने वाला तथा स्थिर रहने वाला होता है। उत्पत्ति तथा विनाश शब्द, द्रव्य के बदलते स्वरूप के द्योतक हैं। जैन दार्शनिकों ने सत्ता के स्थायी तथा एकतत्त्व को ध्रुव नाम दिया है। जैनों का प्रमुख तर्क यह है कि किसी वस्तु में होने वाले परिवर्तनों को समझने के प्रयास का अर्थ ही यह है कि परिवर्तनों को उत्पाद तथा व्यय कहा गया है।²⁷ जैन दार्शनिकों के अनुसार अपनी जाति से च्युत न होना ही नित्यत्व का लक्षण है। वस्तु में परिवर्तन होने पर भी उसकी जातिगत एकता बनी रहती है। अनुभव से इसकी पुष्टि होती है। सुवर्ण में कुण्डलत्व, अंगुलीयकत्व आदि विभिन्न परिणामों के उत्पन्न होने पर भी वह सुवर्णत्व जाति से च्युत नहीं होता। वस्तु के जो सतत् विद्यमान रहने वाले धर्म हैं, वे 'गुण' होते हैं तथा देश-काल जन्य परिणामशाली धर्म 'पर्याय' कहे जाते हैं। गुण तथा पर्याय विशिष्ट वस्तु को ही जैन दर्शन में 'द्रव्य' संज्ञा दी गई है।²⁸ अतः द्रव्य ऐसी गतिशील यर्थाथता है, जो ध्रुव होते हुए भी परिवर्तित होती रहती है। जैन दर्शन में भौतिक वस्तुओं के द्योतक शब्द 'पुद्गल' में भी यही भाव निहित है। वस्तुओं में जो परिवर्तन दिखाई देते हैं, वे उनके परमाणुओं के संयोजन के विभिन्न पर्यायों के कारण हैं और इन्हें ही वस्तुओं के पर्याय कहते हैं; परन्तु इन सभी पर्यायों के मूल में चरम घटकों अर्थात् परमाणुओं का तादात्म्य भी अन्तर्निहित रहता है। स्वयं परमाणुओं में कोई परिवर्तन नहीं होता। केवल उनके संयोजन के पर्यायों में ही परिवर्तन होता है, जिससे वस्तुओं के विविध पर्याय जन्म लेते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि वास्तविकता के तादात्म्य-तत्त्व के दर्शन हमें चरम घटकों अर्थात् परमाणुओं में होते हैं और स्कन्ध (संघात) में इनके संयोजन तथा स्कन्ध के विभाजन और संयोजन में हम परिवर्तन-तत्त्व के दर्शन करते हैं।²⁹ जैन दर्शन में नित्य काल तथा सापेक्ष काल में भेद किया जाता है। सापेक्ष समय का निर्णय वस्तुओं के परिवर्तन द्वारा होता है। जैन साधना पद्धति में भी समस्त वस्तुओं की अनित्यता पर विचार करने का निर्देश किया गया है। एक चीज जो प्रातः काल थी, दोपहर में नहीं रहेगी, वह जो दोपहर में थी, रात को नहीं रहेगी। समस्त पदार्थ अनित्य और परिवर्तनशील हैं। साधक को इस प्रकार की भावना दृढ़ करनी चाहिए।³⁰

जगत् की व्याख्या में जैन दर्शन का विचार है कि इसका न कोई आरम्भ है, न कोई अन्त; इसीलिए जैन दर्शन में सृष्टि का कोई निर्माता नहीं माना है। जैन दार्शनिकों का तर्क है कि निराकार निर्द्रव्य ईश्वर, द्रव्यमय जगत् की रचना कैसे कर सकता है। जैनमत के अनुसार यह विश्व स्वतः सिद्ध है, इसका न कभी निर्माण हुआ है और न अन्त होने वाला है।³¹

5.2.3 बौद्ध दर्शन में सृष्टि-प्रक्रिया एवं क्रम-विकास –

बौद्ध दर्शन के अनुसार जगत् के समस्त पदार्थों की सत्ता क्षणिक है। सम्पूर्ण जगत् प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। नदी के जिस जल में हम एक बार स्नान कर लेते हैं, दुबारा उसी जल में स्नान करना सम्भव नहीं। दीपशिक्षा प्रतिक्षण निकलकर समाप्त हो जाती है और दूसरी लौ उत्पन्न हो जाती है। दूध दुहे जाने के कुछ समय बाद दही बन जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व प्रवाह रूप है, उसमें एक अवस्था की उत्पत्ति होती है और एक अवस्था का लय होता है; किन्तु इस स्थिति में प्रश्न यह उठता है कि यह वस्तु वही है, जो भूतकाल में थी ? वस्तुओं की इस प्रकार की पहचान कैसे हो सकेगी ? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि जिन दो क्षणों में वस्तुओं का प्रत्यक्ष किया जाता है, उस समय वस्तुएँ मात्र सदृश होती हैं और इस सादृश्य को भ्रमवश तादात्म्य समझ लिया जाता है। अनित्यता तथा नैरात्म्य के सिद्धान्त बुद्ध के द्वारा स्वयं उपदिष्ट हैं। बुद्ध का अपूर्व उपदेश कुछ परस्पर पृथक् तत्त्वों को आधारभूत मानकर चलता है तथा सम्पूर्ण जगत् को उनसे निर्मित बताता है। इन तत्त्वों को धर्म कहा गया है, जोकि भूत तथा चित्त के अत्यन्त सूक्ष्म अन्तिम तत्त्व है, जिनका और पृथक्करण नहीं किया जा सकता। ये मूलतत्त्व भी क्षणिक हैं तथा इनसे निर्मित वस्तुएं भी क्षणिक हैं। अन्तर यही है कि तत्त्व सरल हैं तथा अनुभव की वस्तुओं के विश्लेषण की अन्तिम अवस्था को प्रस्तुत करते हैं, जबकि वस्तुएँ इन तत्त्वों का संघात मात्र हैं तथा इनकी कोई नयी सत्ता नहीं।³²

बुद्ध के उपदेशों के आधार पर कालान्तर में बौद्धों के विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के आचार्यों ने जगत् को समान रूप से क्षणिक मानते हुए भी जगत् की सत्ता तथा इसके मूल तत्त्वों के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत की है।

वैभाषिक सम्प्रदाय बाह्य जगत् की सत्ता स्वीकार करता है तथा इसे परमाणुओं का संघात मानता है, जबकि सौत्रान्तिक बाह्य जगत् की सत्ता को मानते हुए भी उसे प्रत्यक्ष का विषय नहीं मानते । उनके मत में बाह्य जगत् की सत्ता प्रत्यक्ष सिद्ध न होकर अनुमानगम्य है, क्योंकि समस्त पदार्थ क्षणिक है, अतः जिस क्षण किसी वस्तु से इन्द्रियों का सन्निकर्ष होता है, उस क्षण वह अतीत की वस्तु हो जाती है, केवल विज्ञान शेष रहता है। पदार्थों के विभिन्न चित्र चित्त पर अंकित हो जाते हैं, इन्हीं के द्वारा इनको उत्पन्न करने वाले बाह्य पदार्थों का अनुमान होता है।

विज्ञानवादियों के मत में बाह्य जगत् की सत्ता प्रतीतिमात्र है, क्योंकि बाह्यार्थ की चित्त पर अंकित होने वाले आकारों के ज्ञान के द्वारा ही हम जान पाते हैं। अतः स्पष्ट है कि बाह्यार्थ की सत्ता ज्ञान पर ही अवलम्बित है, इसलिए विज्ञान ही एकमात्र परमार्थ है। विज्ञान के ही सामान्यतः; चित्त, मन तथा विज्ञप्ति पर्याय हैं।³³ चित्त एकाकार है, वही इस जगत् में विचित्र रूपों में दिखाई देता है। कभी वह देह के रूप में, कभी भोग के रूप में प्रतिष्ठित रहता है। अतः चित्त की ही वास्तविक सत्ता है, जगत् उसी का परिणाम है।

माध्यमिक सम्प्रदाय को विज्ञान की भी सत्ता स्वीकृत नहीं है। माध्यमिक अन्तिम प्रकार की विधि तथा अन्तिम रूप के निषेध के मध्य मार्ग को स्वीकार करते हैं। किसी भी पदार्थ का वर्णन चार प्रकार से हो सकता है — वह 'है' या 'नहीं है' या 'न तो है' और 'न नहीं है', किन्तु वस्तु तत्त्व के विषय में इस प्रकार कुछ भी कहना असम्भव है, वह चतुष्कोटि विनिर्मुक्त है। यदि संसार की सत्ता यथार्थ हो तो उसमें कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए। सभी वस्तुएँ प्रतीत्य समुत्पन्न हैं, अतः उनका वास्तविक अस्तित्व नहीं माना जा सकता। संसार न सत् है, न असत् है, न सदसद् तथा न सदसद्विलक्षण है; बल्कि संसार अनिर्वचनीय है। वस्तु का न तो भाव है न अभाव, इसलिए वह शून्य ही है।

जगत् की यथार्थता को स्वीकार करने वाले वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक, दोनों ही जगत् के मूल तत्त्व अणुमय मानते हैं। परमाणु चौदह प्रकार के होते हैं — पाँच विज्ञानेन्द्रिय, पाँच विषय तथा चार महाभूत । परमाणु की उपलब्धि नहीं होती, यह अनिदर्शन है। सात परमाणुओं का एक अणु होता है, सात अणुओं का लोहरज, सात लोहरज का एक अव्रज सात अव्रज का एक शशरज, सात शशरज का एक अविरज, सात अविरज का एक गोरज, सात गोरज

का एक छिद्ररज (जैसा वैशेषिक का त्रसरेण) होता है।³⁴ परमाणु अविभाज्य, अविश्लेष्य तथा अदृश्य है। वह श्रवण का विषय नहीं है, अस्थायी एवं अस्पर्शनीय है। इन्द्रियगोचर होने वाले शरीर अणुओं के एकत्रीकरण से ही निर्मित हैं। समस्त भौतिक पदार्थ रूप की आधार भूमि, वर्ण, गन्ध, स्वाद एवं स्पर्श के संग्रह हैं। इन चार प्रकार के गुणों को धारण करने वाली इकाई ही परमाणु हैं, जिनका और विश्लेषण नहीं किया जा सकता। परमाणु जब संयुक्त हो जाते हैं, तो दृष्टिगोचर हो सकते हैं। दृष्टिगोचर हो सकने योग्य आणविक इकाई 'अणु' है जो परमाणुओं का एकत्रीकरण है। सौत्रान्तिकों ने भी वैशेषिकों की आणविक कल्पना को बहुत थोड़े भेद से स्वीकार कर लिया है।³⁵

बौद्ध दर्शन में वैशेषिक तथा सौत्रान्तिक सम्प्रदायों में भूत-चतुष्टय को स्थान दिया गया है। रूप धर्मों का वर्णन करते हुए उनमें चार महाभूतों की भी गणना की गयी है। बौद्ध दर्शन में साधकों के लिए निर्देश किया गया है कि शरीर के विषय में इस प्रकार का ध्यान करना चाहिए कि यह शरीर क्षिति, जल, तेज, वायु इन चार तत्त्वों से बना हुआ। यह शरीर ऐसा ही है, जैसे — कसाई के यहाँ पड़ा हुआ गाय का मृत शरीर। इसको बौद्ध दर्शन में 'चतुधातुववत्थान भावना' के नाम से पुकारा गया है, जिसका तात्पर्य है, इस प्रकार का ध्यान कि यह शरीर चार महाभूतों से निर्मित है।

बौद्ध दर्शन में असंस्कृत धर्मों के अन्तर्गत आकाश की गणना हुई है। आकाश नित्य अपरिवर्तन शील असंस्कृत धर्म है। योगाचार मतानुयायी आचार्यों ने भी आकाश को असंस्कृत धर्मों में स्थान दिया है। वसुबन्धु ने आकाश का वर्णन 'अनावृत्ति' शब्द के द्वारा किया है। अनावृत्ति का तात्पर्य है कि आकाश न तो दूसरो का आवरण करता है, न अन्य धर्मों द्वारा आवृत होता है।³⁶

संसार अथवा जीवन मरण के चक्र का कोई प्रारम्भ निश्चित नहीं किया जा सकता। बुद्ध इस तथ्य को घास, आंसू आदि के उदाहरण देकर समझाते हैं। वे कहते हैं कि भिक्षुओं! कोई व्यक्ति सम्पूर्ण जम्बूद्वीप की घास, लकड़ी, शाखाएं और पत्तों को एक स्थान पर एकत्रित करें और चार-चार अंगुल नाप के खण्ड-खण्ड करके फेंकता जाए कि यह मेरी माता हुई, यह मेरी माता की माता हुई इत्यादि, तो यह माताओं का चक्र समाप्त नहीं होगा; किन्तु सम्पूर्ण जम्बूद्वीप की घास, लकड़ी, शाखाएं और पत्ते समाप्त हो जाएंगे। ऐसे ही कोई व्यक्ति

इस महापृथ्वी के बेर के बराबर खण्ड-खण्ड करके फेंकता जाये कि यह मेरे पिता, यह मेरे पिता के पिता, यह मेरे पितामह के पिता तो यह पिता का सिलसिला कभी समाप्त नहीं होगा, किन्तु यह महापृथ्वी समाप्त हो जाएगी। ऐसा इस कारण कि इस संसार का कोई प्रारम्भ निर्धारित नहीं किया जा सकता।

5.2.4 न्याय-वैशेषिक दर्शन में सृष्टि-प्रक्रिया एवं क्रम-विकास –

भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में जगत् के मूल कारण विषयक विचार कार्य-कारण सिद्धान्त के अन्तर्गत किया गया है। न्यायदर्शन के अनुसार कार्य-कारण से भिन्न एक स्वतन्त्र पदार्थ होता है। मिट्टी से जो घट का निर्माण होता है, वह सर्वथा एक नया पदार्थ है। उत्पत्ति से पूर्व घट मिट्टी में असत् था। इसी प्रकार जगत् की उत्पत्ति नया कार्य है, जगत् उत्पत्ति से पूर्व अपने मूल-कारण में विद्यमान नहीं था।

न्यायदर्शन के अनुसार जगत् का मूल कारण परमाणु है। जगत् परमाणुओं से बना हुआ है। कारण रूप है नित्य परमाणुओं से कार्य रूप जगत् की उत्पत्ति होती है। अतः परमाणु जगत् की सृष्टि में मूल (उपादान) कारण हैं, अचेतन परमाणुओं से चेतन जगत् की उत्पत्तिरूप क्रिया किस प्रकार होती है ? इस प्रकार की शंका होने पर कहते हैं कि परमाणुओं में क्रिया ईश्वर की इच्छा से होती है, जो प्राणियों के धर्माधर्म रूप कर्मफल को देने के लिए होती है। जब प्राणियों के फलोन्मुख होते हैं, तब अदृष्ट कार्य करता है और परमेश्वर की सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा से दो परमाणुओं का संयोग होने पर द्वयणुक बनता है। तीन द्वयणुकों का संयोग होने पर त्रसरेणु, चार त्रयणुकों से चतुरणुक होता है, फिर क्रमशः स्थूल सृष्टि का आविर्भाव होता है। अतः परमाणु सृष्टि उत्पत्ति में मूल कारण है। ईश्वर की इच्छा निमित्त कारण है।

परमाणु के सम्बन्ध में न्यायदर्शन कहता है कि "परं वा त्रुटेः"³⁷ अर्थात् जो परम तत्त्व से युक्त अणु है अथवा जिससे छोटा और कोई हिस्सा नहीं हो सकता, वही परमाणु है। परमाणु निरवयव एवं नित्य है। परमाणु को वह छोटा सा अणु कहा गया है, जो अल्पतर और अल्पतम भेद से रहित है।³⁸ यदि परमाणु को अल्पतर अथवा अल्पतम स्वीकार करें, तो अनवस्था हो जाएगी अर्थात् अल्पतम परमाणु की ओर फिर उससे अन्य अल्पतम परमाणु की कल्पना करते-करते अनवस्था दोष पैदा होगा।

अतः यह शंका होना स्वाभाविक है कि परमाणु की सत्ता में प्रमाण क्या है ? इसका उत्तर यह है कि अनुमान प्रमाण से इसको सिद्ध किया जा सकता है। सूर्य की किरणों में जो अत्यन्त सूक्ष्म धूलि कण दिखाई देते हैं, उनमें प्रत्येक कण अपने परिमाण से अल्प परिमाण वाले द्रव्य से उत्पन्न होता है; क्योंकि वह कार्य-द्रव्य है। जो कार्य-द्रव्य होता है, वह अपने परिमाण से अल्प परिमाण वाले द्रव्य से उत्पन्न होता है, जैसे कि घट । धूलि कण भी कार्य-द्रव्य है। इसलिए वह भी घट के समान ही अपने परिमाण से अल्प परिमाण वाले द्रव्य से उत्पन्न होता है। परमाणु से सूक्ष्म कोई अन्य कारण द्रव्य नहीं है, जिसका उसे कार्य माना जाये।

द्वयणुक भी अपने से अल्प-परिमाण वाले द्रव्य से उत्पन्न होते हैं; क्योंकि वे भी कार्य-द्रव्य हैं। सभी कार्य-द्रव्य अपने से अल्प परिमाण वाले द्रव्य से उत्पन्न होते हैं। अतएव जो अल्प-परिमाण से युक्त है, वही परमाणु है। इन दो अनुमानों द्वारा परमाणुओं की सत्ता सिद्ध होती है।³⁹

यह परमाणु संख्या में कितने हैं ? इसका उत्तर न्याय दर्शन में नहीं मिलता । केवल नित्य पदार्थों की गणना के प्रसंग में भाष्यकार ने पृथ्वी आदि के सूक्ष्म अर्थात् परमाणुरूप तथा आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन को नित्य स्वीकार किया है। न्यायदर्शन में आत्मादि प्रमेय प्रदार्थों में मिथ्याज्ञान को ही संसार (सृष्टि) में प्रवृत्ति का कारण कहा गया है। मिथ्याज्ञान के कारण ही किसी विषय में राग एवं अन्य पदार्थों में द्वेष होता है, जिससे दोष उत्पन्न होते हैं। माया, लोभादि दोषों के कारण शरीर में प्रवृत्ति होती है, जो धर्माधर्म रूप से दो प्रकार की होती है। हिंसा, चोरी आदि से अधर्म एवं पापात्मिका प्रवृत्ति होती है तथा दया, दान, परित्राण होती है। धर्माधर्मरूप प्रवृत्ति से इनके फल की उत्पत्ति होती है। जन्म से बांधना, पीड़ा, ताप एवं दुःख होता है। इस प्रकार मिथ्याज्ञान से लेकर दुःख पर्यन्त मिथ्या प्रवृत्ति को ही संसार कहते हैं। डा. देवराज के अनुसार आत्मा के मिथ्याज्ञान, दोष, प्रवृत्ति, धर्माधर्म, जन्म और दुःख इन्हीं के कार्य-कारण भाव की परम्परा को संसार कहते हैं।⁴⁰

सृष्टि के बाद प्रलय और प्रलय के बाद सृष्टि यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। ईश्वरेच्छा होने पर अदृष्ट की सहायता से परमाणुओं में गति उत्पन्न होती है। जिससे द्वयणुकादि क्रम क्रमशः वायु, जल, तेज और पृथ्वी नामक चार भूत-द्रव्यों की उत्पत्ति होती

है। इस प्रकार परमाणुओं से समस्त विश्व की उत्पत्ति होती है। चार महाभूतों की उत्पत्ति के बाद ईश्वर के ध्यान मात्र से तैजस् और पार्थिव परमाणुओं के संयुक्त बीज रूप अणु से हिण्यगर्भ और उससे चतुर्मुख ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। यही ब्रह्मा या विश्वात्मा इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति कारण होने से पितामह कहलाए। उस पितामह को अनन्त ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य का आगार कहा गया।

उस महाभाग से बुद्धि (महत्तत्त्व) और तत्पश्चात् अहंकार उत्पन्न हुआ। उसी को 'मन' कहा गया है। महत्तत्त्व और अहंकार जिनको सांख्य तथा योग में प्रकृति का परिणाम माना गया है, न्याय-वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त में उन्हें क्षुब्ध प्रकृति का भाग विशेष कहा गया है। बाद में ईश्वर की इच्छा अहंकार के सत्त्व गुण विशेष भाग से प्रत्येक जीव को एक-एक मन दिया गया। इस प्रकार क्रमशः मनु, ऋषि, पितर, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि विभिन्न कोटि के जीवों की रचना हुई।

सृष्टि के आरम्भ में किसी भी जीव का कोई स्वरूप नहीं था। चेतन परमात्मा के संकल्प से इस जगत् की उत्पत्ति हुई। इसीलिए इस सृष्टि से उत्पन्न होने वाले मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट पतंग आदि को परमात्मा के संकल्प से उत्पन्न होने के कारण सांकल्पिक कहा गया।

जीव का यह जो मनुष्य, पशु, पक्षी के रूप में भिन्न-भिन्न शरीर दिखाई दे रहा है, उसका कारण पूर्वजन्म के किए गए धर्माधर्म का परिणाम है। जीवों के पाप पुण्य आदि प्राक्तन कर्मों के अनुसार ही ईश्वर ने उनको भिन्न-भिन्न शरीर दिये, इसीलिये कर्म को उत्पत्ति का हेतु कहा है।

जिस प्रकार सृष्टि-प्रक्रिया परमेश्वर की इच्छा पर निर्भर है, उसी प्रकार प्रलय प्रक्रिया भी उसके अधीन है। उसी परमेश्वर की इच्छा से नाना नामरूप धारी जीव अनेक योनियों में जन्म लेकर और प्रत्येक जीवन के सुख-दुःखों का उपभोग करके अन्त में अपनी उस अवस्था में लौट आते हैं, जहाँ वे निश्चेष्ट अवस्था में लीन थे। सृष्टि के बाद प्रलयावस्था की यह निश्चेष्टता प्राणियों की विश्रामावस्था कही गई है। पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणुओं से निर्मित विश्व के समस्त कार्यरूप द्रव्य विनष्ट हो जाते हैं। शरीर से आत्मा अलग हो जाता है। जीवों के सारे अदृष्ट अवरुद्ध हो जाते हैं। शरीर और इन्द्रियों के निर्माता परमाणु विच्छिन्न

हो जाते हैं। सभी परमाणु अलग-अलग हो जाते हैं। इस अवस्था को कल्पान्तर, संहार या प्रलय कहते हैं।

इस प्रलय काल में सारे जीव थक कर सो जाते हैं। ऐसी अवस्था में पृथ्वी, जल, तेज, वायु के परमाणु दिक्, काल, आकाश, मन और आत्मा ये नित्य द्रव्य और जीवात्माओं ने सृष्टिकाल में जो धर्माधर्म किए थे, उनके संस्कार बच जाते हैं। ये चार महाभूत, पाँच नित्य द्रव्य और संस्कार ही अगली सृष्टि की रचना करते हैं, जब जीवों के कुछ काल तक विश्राम करने के बाद परमेश्वर की सृष्टि रचना के लिए पुनः इच्छा होती है। इस प्रकार सिद्ध है कि सृष्टि और प्रलय की प्रक्रिया एक ऐसा चक्र है, जो निरन्तर घूमता रहता है और जिसका न आदि है और न अन्त है।

न्याय के समान वैशेषिक दर्शन में भी जगत् की उत्पत्ति में 'परमाणु' ही मूल कारण स्वीकार किए गए हैं। ईश्वर निमित्त कारण है। सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा होने पर ईश्वर जगत् के नित्य परमाणुओं से अदृष्ट के आधार पर गति उत्पन्न करता है, जिससे दो परमाणुओं का संयोग होने पर द्वयणुक, तीन द्वयणुकों से त्रसरेणु फिर क्रमशः चतुरणुक बनते हैं। इस प्रक्रिया में सर्वप्रथम वायु परमाणुओं के संयोग से वायु महाभूत, तदनन्तर जल परमाणुओं के संयोग से पृथ्वी महाभूत से तेज महाभूत की उत्पत्ति होती है।

वैशेषिक का मत है कि सृष्टि और लय, इन दोनों का आदि अंत नहीं है। प्रत्येक सृष्टि से पहले लय की अवस्था थी और प्रत्येक लय से पूर्व सृष्टि की अवस्था थी; इसलिए किसी भी सृष्टि-लय को प्रथम या अन्तिम नहीं कहा जा सकता। वैशेषिक दर्शन के अनुसार पूर्व शरीर से प्राण तथा मन का उत्क्रमण, प्रवेश, खान-पान रूप संयोग के हेतुमत् कर्म द्वारा दूसरे प्राण तथा मन का संयोग, सब अदृष्ट जन्म है अर्थात् अदृष्टरूप कर्म फल शरीरोत्पत्ति में कारण है।⁴¹

5.2.5 मीमांसा दर्शन में सृष्टि-प्रक्रिया एवं क्रम-विकास —

मीमांसासूत्रकार जैमिनि और भाष्यकार आचार्य शबर ने सृष्टि की सत्ता को स्वीकार किया है, लेकिन स्पष्ट रूप से कहीं भी सृष्टि के मूलकारण अथवा प्रक्रिया पर विचार नहीं

किया है। अतएव मीमांसासूत्र सृष्टि की सत्ता को स्वीकार तो करता है, लेकिन उसका विस्तृत विवेचन टीकाओं में ही मिलता है।

मीमांसा दर्शन के अनुसार इस जगत् में नित्य परिवर्तन होता है। इनके अनुसार जगत् की उत्पत्ति और विनाश नहीं होते। केवल व्यक्ति उत्पन्न होते रहते हैं तथा विनाश को प्राप्त करते हैं। इनके अनुसार यदि सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय स्वीकार की जाए तो एक ही साथ उत्पत्ति और विनाश होगा, जो कि सम्भव नहीं है।⁴² जगत् में जो भी परिवर्तन होता है, उसकी प्रेरणा उस समय के जीवों के पिछले कर्मों से मिलती है, अर्थात् जगत् की उत्पत्ति का मूल कारण कर्म हैं।

कर्म से सृष्टि कैसे उत्पन्न होती है ? इसके समाधान हेतु कहा है कि कर्म में विद्यमान शक्ति से ही सृष्टि उत्पन्न होती है। किए गए प्रत्येक कर्म में एक शक्ति होती है, जो कर्म फलों को उत्पन्न करती है। कर्म में इतनी शक्ति है कि वह स्वयं अपनी शक्ति के बल पर फल देने में समर्थ है।⁴³

डा. राधाकृष्णन के अनुसार कर्म और उसके परिणाम के बीच एक प्रकार का सम्बन्ध रखना आवश्यक है, कर्म जो आज किया गया है, किसी भविष्यत काल में अपना परिणाम उत्पन्न नहीं कर सकता, जब तक कि वह समाप्त होने से पूर्व किसी अदृष्ट परिणाम को जन्म न दें।⁴⁴ इसी अदृष्ट परिणाम रूप शक्ति को जैमिनि ने 'अपूर्व' नाम दिया है।⁴⁵ लौकिक अथवा वैदिक जो भी कर्म किया जाये, वह फल अवश्य देता है।⁴⁶

यह कर्मफल एक ही जन्म के समय मिलना जरूरी नहीं है, अपितु दूसरे जन्म में भी यह कर्म अपूर्व के माध्यम से फल देता है। अतः अपूर्व कार्य और उसके परिणाम के मध्य एक अलौकिक कड़ी का काम देता है। शक्ति एक ऐसा गुण है, जो द्रव्य गुण तथा कर्म में रहता है और श्रुति तथा अर्थापत्ति से इसका ज्ञान होता है।

कर्मों से उत्पन्न सृष्टि किस प्रकार की होती है अथवा कर्मों से किन-किन पदार्थों की उत्पत्ति होती है, ऐसी शंका के उत्तर में कहते हैं कि कर्मों से उत्पन्न सृष्टि में इन्द्रियाँ बाहरी वस्तु को प्राप्त करने का साधन बनती है। "तस्माद् यद् गृह्यते वस्तु येन रूपेण सर्वदा।।" — इन्द्रियों के द्वारा जिस रूप में जगत् की प्रतीति होती है, वही सत्य है। संसार में हमें तीन

प्रकार की वस्तुओं का ज्ञान होता है। प्रथम शरीर है — जिसमें रहकर सुख—दुख का अनुभव होता है, द्वितीय — इन्द्रियाँ सुख—दुःख रूप भोग का साधन हैं और तृतीय — भोग विषय अर्थात् पदार्थ हैं। विभिन्न प्रकार के पदार्थों की उत्पत्ति ही सृष्टि है, जिनका भोग शरीर तथा इन्द्रियों की सहायता द्वारा किया जाता है।

इस प्रकार मीमांसा में आत्मा और पदार्थ का उल्लेख करके सृष्टि की सत्ता को तो स्वीकार किया है, लेकिन सृष्टि—प्रक्रिया के क्रम का कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। बाद में टीकाकारों ने भी सृष्टि के कारण विषयक प्रश्नों, कर्म, कर्मफल, आत्मा, पदार्थ आदि का विवेचन तो किया है; लेकिन इन सबके द्वारा सृष्टि किस क्रम से उत्पन्न होती है ? इसका उल्लेख न के बराबर ही है।

5.2.6 अद्वैत—वेदान्त में सृष्टि—प्रक्रिया एवं क्रम—विकास —

अद्वैत—वेदान्त शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित होने के कारण शांकरवेदान्त भी कहा जाता है। शंकराचार्य ने उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता एवं ब्रह्मसूत्र को प्रस्थानत्रयी के रूप में स्वीकृत करते हुये, इन पर भाष्य की रचना कर 'अद्वैत—वेदान्त' मत का प्रतिपादन किया है। अद्वैत—वेदान्त के अनुसार सृष्टि—प्रक्रिया के पूर्व अनादि तत्त्व के रूप में एक मात्र विशुद्ध चैतन्य 'ब्रह्म' तत्त्व ही विद्यमान था। सदानन्द के अनुसार यही विशुद्ध चैतन्य 'ब्रह्म' अज्ञान से उपहित होकर 'ईश्वर' की उपाधि को प्राप्त हुआ और यही उपाधिभूत 'ईश्वर' ही सृष्टि का कारण है।⁴⁷ अब यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि यह सृष्टि का उपादान कारण है या निमित्त कारण ? इसका उत्तर है कि आवरण एवं विक्षेप रूप दो शक्तियों से युक्त यह ईश्वर, अपनी चैतन्यता की प्रधानता से तो सृष्टि का निमित्त कारण तथा अपनी उपाधि की प्रधानता से सृष्टि का उपादान कारण होता है। जैसे — मकड़ी अपने जाले के प्रति अपनी चैतन्यता की प्रधानता से निमित्त तथा अपने शरीर की प्रधानता से उपादान कारण होती है।⁴⁸ सृष्टि के प्रायोजन के विषय में अद्वैत—वेदान्त का मानना है कि सृष्टि का कोई विशेष प्रयोजन नहीं, अपितु ईश्वर केवल लीला मात्र के लिए ही सृष्टि करता है। यह इसका स्वभाव है, जैसे — मनुष्य के शरीर में श्वास—प्रश्वास चलते रहते हैं। उसी प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति और विनाश होते रहते हैं। महर्षि वादरायण कृत ब्रह्मसूत्र "लोकवत्तु लीला कैवल्यम्"⁴⁹ से यह बात पूर्णतः पुष्ट हो जाती है। ईश्वर की इस 'सृष्टि' रूपी लीला का आदि एवं अवसान बिन्दु ब्रह्म ही

है। इस सम्बन्ध में तैत्तिरीयोपनिषद् की उक्ति द्रष्टव्य है – “यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।”⁵⁰ अर्थात् निश्चय ही ये सभी प्रत्यक्ष दिखने वाले प्राणी, जिससे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके सहारे जीवित रहते हैं तथा इस लोक से प्रयाण करते हुये, जिसमें प्रवेश करते हैं, उसे तत्त्वज्ञान से जानने की इच्छा करो, वही ‘ब्रह्म’ है। अद्वैत-वेदान्त का सृष्टि विषयक यही मत है।

अद्वैत-वेदान्त के अनुसार सृष्टि का क्रम इस प्रकार है – उपाधि भूत चैतन्य ‘ईश्वर’ से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। इन आकाशादि पाँचों तत्त्वों में जड़ता का प्राधान्य दिखाई पड़ता है, इसलिये इनके कारण ईश्वर को भी तमोगुण प्राधान्य माना जाता है। सत्त्व, रजस् एवं तमस् ये तीनों ही गुण न्यूनाधिक्य के भेद से ईश्वर में होने के कारण आकाशादि की उत्पत्ति के क्रम से उत्पन्न हो जाते हैं। यही पाँचों सूक्ष्मभूत, तन्मात्र और अपंचीकृत भूत कहे जाते हैं। इनसे सूक्ष्म शरीर और स्थूल भूत उत्पन्न होते हैं।⁵¹

अब उपरोक्त कथनानुसार सर्वप्रथम सूक्ष्म शरीर के अवयव एवं उनकी उत्पत्ति के क्रम का वर्णन करते हैं। अद्वैत-वेदान्त के अनुसार सूक्ष्म शरीर सत्रह अवयव वाला लिंग शरीर है। इन सत्रह अवयवों में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि, मन, पाँच कर्मेन्द्रियाँ एवं पाँच प्राण शामिल हैं। श्रोत, त्वक्, चक्षु, जिह्वा एवं घ्राण ये ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। ये ज्ञानेन्द्रियाँ अकाशादि सूक्ष्म भूतों के सात्विक अंश से पृथक्-पृथक् क्रम में उत्पन्न होती हैं। जैसे – आकाश के सात्विक अंश से श्रोत, वायु के सात्विक अंश से त्वक्, अग्नि के सात्विक अंश से चक्षु, जल के सात्विक अंश से जिह्वा एवं पृथ्वी के सात्विक अंश से घ्राण उत्पन्न होता है। बुद्धि निश्चय करने वाली अन्तःकरण वृत्ति है। मन संकल्प-विकल्प करने वाली अन्तःकरण वृत्ति है। चित्त एवं अहंकार नामक अन्तःकरण वृत्तियों का, इन्हीं बुद्धि एवं मन में अन्तर्भाव हो जाता है। ये बुद्धि एवं मन अकाशादि पाँचों के सम्मिलित सात्विक अंश से उत्पन्न होते हैं। ये सभी ज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि एवं मन स्वरूप से प्रकाशक या ज्ञान कारक होने के कारण सूक्ष्म भूतों के सत्त्वांश के कार्य कहे जाते हैं।⁵² यह बुद्धि, ज्ञानेन्द्रियों के साथ मिलकर विज्ञानमय कोश कहलाती है। यह कोश अर्थात् इससे अवच्छिन्न चैतन्य ही कर्ता, भोक्ता, सुखी एवं दुखी आदि व्यवहार का अभिमान करने वाला ‘जीव’ कहलाता है। इसी अभिमान के कारण यह इहलोक तथा परलोक में संचरण करता है। मन एवं ज्ञानेन्द्रियाँ मिलकर मनोमय कोश कहलाती हैं।⁵³ वाक्, पाणि, पाद, पायु

एवं उपस्थ, यह पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं एवं यह आकाशादि पाँचों सूक्ष्म भूतों के राजसिक अंश से पृथक्-पृथक् क्रम में उत्पन्न होती हैं। जैसे – आकाश के राजसिक अंश से वाक्, वायु के राजसिक अंश से पाणि, अग्नि के राजसिक अंश से पाद, जल के राजसिक अंश से पायु एवं पृथ्वी के राजसिक अंश से उपस्थ की उत्पत्ति होती है। प्राण, अपान, व्यान, उदान एवं सामान, यह पाँच प्रकार की वायु हैं। (इनके आदि में प्राण होने के कारण ये 'पंचप्राण' भी कहलाती हैं।) इनमें ऊर्ध्व गमन करने वाले तथा नासिकाग्र में स्थान वाले वायु का नाम प्राण है। अधः गमन करने वाले तथा पायु आदि में स्थान वाले वायु का नाम अपान है। चारों ओर गमन करने वाले तथा सम्पूर्ण शरीर में रहने वाले वायु का नाम व्यान है। ऊर्ध्व गमन एवं उत्क्रमण करने वाले तथा कण्ठ में स्थान वाले वायु का नाम उदान है एवं शरीर के अन्दर गये हुये, खाये-पिये हुये अन्न-जलादि का समीकरण अर्थात् भोजन को शरीरगत रस, रक्त आदि धातुओं के रूप में परिणित करने वाले वायु का नाम सामान है।⁵⁴ यह प्राण आदि पाँचोंय अकाशादि पाँचों के सम्मिलित राजसिक अंश से उत्पन्न होते हैं और कर्मेन्द्रियों के साथ मिलकर प्राणमाय कोश कहलाते हैं। इसके क्रियात्मक होने के कारण ही राजसिक अंश का कार्य कहा जाता है।⁵⁵

उपर्युक्त कोशों में से विज्ञानमय कोश ज्ञानशक्ति से युक्त एवं कर्तारूप है। मनोमय कोश इच्छाशक्ति से युक्त एवं करणरूप है तथा प्राणमय कोश क्रियाशक्ति से युक्त एवं कार्यरूप है। यह तीनों कोश मिलकर सूक्ष्म शरीर कहलाते हैं।⁵⁶

सूक्ष्म शरीर के निरूपण के पश्चात् अब स्थूल भूतों की उत्पत्ति का वर्णन करते हैं। तत्पश्चात् पंचीकृत स्थूल भूतों द्वारा उत्पन्न स्थूल सृष्टि की चर्चा करेंगे। अपंचीकृत आकाशादि सूक्ष्म भूत ही पंचीकरण-प्रक्रिया द्वारा, पंचीकृत होने के पश्चात् स्थूल भूत या पंचमहाभूत कहलाते हैं। अब प्रश्न है कि यह पंचीकरण-प्रक्रिया क्या है ? इसके उत्तर में पंचदशी की उक्ति द्रष्टव्य है –

“द्विधा विधाय चौकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।

स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात्पंच पंच ते।।”⁵⁷

अर्थात् – प्रत्येक सूक्ष्म भूत को दो सामान भागों में विभक्त करके, पुनः प्रत्येक के प्रथम आधे भाग को चार समान भागों में विभक्त करके, अपने से भिन्न शेष चार भूतों के द्वितीय

भागों में जोड़ देने से, वे पाँच आकाशादि सूक्ष्म भूत पाँच स्थूल भूत या पाँच महाभूत हो जाते हैं। यही पंचीकरण—प्रक्रिया कहलाती है। इस पंचीकरण—प्रक्रिया के पश्चात् ही आकाश में उसका शब्द गुण अभिव्यक्त होता है। वायु में शब्द एवं स्पर्श, अग्नि में शब्द, स्पर्श एवं रूप, जल में शब्द, स्पर्श, रूप एवं रस तथा पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध अभिव्यक्त होते हैं।⁵⁸

इस प्रकार अपंचीकृत सूक्ष्म भूतों द्वारा पंचीकृत स्थूल भूतों की उत्पत्ति के पश्चात् अब इन स्थूल भूतों से उत्पन्न स्थूल सृष्टि का क्रम चलता है। इन्हीं पाँच स्थूल भूतों से क्रमशः ब्रह्माण्ड के ऊपर—ऊपर स्थित भूरु, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः एवं सत्यम् नामों वाले सात लोक तथा क्रमशः नीचे—नीचे स्थित अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल और पताल नामों वाले सात लोक तथा उनमें रहने वाले प्राणियों के चतुर्विध स्थूल शरीर एवं उनके योग्य अन्न—पानादि उत्पन्न होते हैं। जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज एवं स्वेदज ये चार प्रकार के स्थूल शरीर होते हैं। इनमें जो जरायु अर्थात् गर्भाशय को ऊपर से आवृत्त करने वाली झिल्ली से उत्पन्न होने वाले मनुष्य एवं पशु आदि हैं, वे जरायुज हैं। अण्डे से उत्पन्न होने वाले पक्षी, सरीसृप आदि अण्डज हैं। भूमि को भेद कर उत्पन्न होने वाले वृक्ष आदि उद्भिज्ज हैं तथा स्वेद या गन्दगी से उत्पन्न होने वाले जुएँ, मच्छर आदि स्वेदज हैं।⁵⁹ यह स्थूल शरीर अन्न का विकार तथा कोश की भाँति चैतन्य का आच्छादक होने के कारण 'अन्नमय कोश' कहलाता है।⁶⁰

इस प्रकार अद्वैत—वेदान्त सम्मत कारण—सृष्टि, सूक्ष्म—सृष्टि एवं स्थूल—सृष्टि नामक तीन प्रकार की सृष्टि होती हैं। जिस प्रकार सृष्टि का कारण ईश्वर है, उसी प्रकार प्रलय का भी कारण ईश्वर ही है। जैसे — मकड़ी का समेटा हुआ जाल शरीरवत् होकर उसी में विलीन हो जाता है, उसी प्रकार यह दृश्यमान् जगत् भी सिमट कर उसके कारण अज्ञान में लीन हो जाता है। पश्चात् अज्ञान के असत् होने के कारण वह भी नहीं रह जाता है, तब शुद्ध अनुपहित ब्रह्म ही अपने विशुद्ध चैतन्य रूप में शेष रह जाता है।

5.3 सांख्य दर्शन में सृष्टि—प्रक्रिया एवं क्रम—विकास —

सांख्य दर्शन द्वैतवादी दर्शन है, क्योंकि सांख्य दर्शन प्रकृति तथा पुरुष रूपी दो मूल तत्त्वों को स्वीकार करता है। सृष्टि—प्रक्रिया के पूर्व यही दोनों तत्त्व विद्यमान रहते हैं। जिनमें

प्रकृति जड़ तथा परिणामिनी है एवं पुरुष चेतन तथा अपरिणामी है। प्रकृति त्रिगुणात्मक है। सत्त्व, रजस् एवं तमस् ये तीनों गुण प्रकृति के हैं। इन गुणों से अलग प्रकृति कुछ भी नहीं, बल्कि ये तीनों गुण ही प्रकृति हैं। सांख्यसूत्र में कहा गया है कि “सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः”⁶¹ अर्थात् – सत्त्व, रजस् एवं तमस् इन्हीं तीनों गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहा जाता है। जब प्रकृति एवं पुरुष का संयोग होता है, तो चेतन पुरुष की सन्निधि से गुणों की साम्यावस्था भंग होने लगती है और इसके परिणाम स्वरूप गुणों में विक्षोभ उत्पन्न हो जाता है। गुण विक्षोभ के कारण प्रकृति में विकार उत्पन्न होने लगता है और यहीं से सृष्टि-प्रक्रिया का शुभारम्भ होता है।

आगे चलकर ‘सृष्टि-प्रक्रिया’ के क्रम में अव्यक्त प्रकृति से तेईस प्रकार की व्यक्त प्रकृति आविर्भूत होती है। इस प्रकार सांख्य दर्शन में कुल पच्चीस तत्त्व स्वीकृत हैं।⁶² सांख्य दर्शन के अनुसार ‘सृष्टि-प्रक्रिया’ का निमित्त कारण ‘पुरुष’ एवं उपादान कारण ‘प्रकृति’ है तथा यह सम्पूर्ण सृष्टि अव्यक्त प्रकृति का ही परिणाम है। सांख्य दर्शन प्रकृति परिणामवाद को स्वीकार करता है, जो कि विकासवाद का सिद्धान्त है। इस विकासवाद की पृष्ठभूमि में इसका ‘सत्कार्यवाद’ का सिद्धान्त है, जिसके अनुसार सभी कार्य उत्पत्ति के पूर्व भी अपने कारण में अव्यक्त रूप में विद्यमान रहते हैं तथा बाद में कार्य रूप में आविर्भूत हो जाते हैं। इसी प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि उत्पत्ति के पूर्व अव्यक्त प्रकृति में विद्यमान रहती है तथा सृष्टि-प्रक्रिया के क्रम में दृश्य जगत् के रूप में प्रकट हो जाती है।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि सृष्टि होती ही क्यों है ? इसका प्रयोजन क्या है ? इस पर सांख्य दर्शन का कहना है कि प्रकृति अचेतन है, किन्तु वह सक्रिय है। जबकि पुरुष चेतन होते हुए भी निष्क्रिय है। सांख्य दार्शनिक अन्ध-पंगु न्याय द्वारा प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध की विवेचना और प्रयोजन सिद्ध करते हैं। इस अन्ध-पंगु न्याय सिद्धान्त द्वारा प्रकृति एवं पुरुष का अंधे एवं लंगड़े की भांति संयोग होता है। यहाँ पर पुरुष को निष्क्रिय होने के कारण ‘पंगु’ और प्रकृति को अचेतन होने के कारण ‘अंधे’ के रूप में लिया गया है। जिस प्रकार अंधा और लंगड़ा व्यक्ति मिलकर अपना लक्ष्य प्राप्त करते हैं, ठीक उसी प्रकार पुरुष और प्रकृति भी संयोग द्वारा अपना-अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं। पुरुष का प्रयोजन प्रकृति का दर्शन है और प्रकृति का प्रयोजन पुरुष का कैवल्य है। इस प्रकार प्रकृति एवं पुरुष के संयोग से सृष्टि का आरम्भ होता है।⁶³ सांख्य दर्शन के अनुसार सृष्टि-क्रम निम्नवत् है –

“प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः ।

तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ।।”⁶⁴

अर्थात् प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से सोलह तत्त्वों का समूह, जिसमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (चक्षु, श्रोत, घ्राण, रसना तथा त्वचा), पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ), मन तथा पाँच तन्मात्रायें (शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध) शामिल हैं तथा इन सोलह में से भी पाँच तन्मात्राओं से पाँच महाभूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी) आविर्भूत होते हैं।

इस प्रकार उपरोक्तानुसार महत् से लेकर पञ्चमहाभूत पर्यन्त मूल प्रकृति के कार्य रूप सृष्टि का क्रम आचार्य ईश्वरकृष्ण को स्वीकार्य है। अब सांख्यकारिका एवं उसकी टीकाओं के आधार पर उपरोक्तानुसार वर्णित सृष्टि के तत्त्वों का पृथक्-पृथक् वर्णन प्रस्तुत है —

5.3.1 महत् —

सृष्टि के विकास के क्रम में सर्वप्रथम अव्यक्त प्रकृति से महत्तत्त्व आविर्भूत होता है। इसे बुद्धि भी कहा जाता है। “अध्यवसायो बुद्धिः”⁶⁵ निश्चय को अध्यवसाय कहा जाता है। यह वृक्ष है या यह गाय है, इस प्रकार का निश्चय प्रत्येक पदार्थ में होता है। जिसके द्वारा यह निश्चय होता है, वही बुद्धि है। चूँकि प्रकृति त्रिगुणात्मक है और बुद्धि प्रकृति का कार्य है, इसलिये बुद्धि में भी सत्त्व, रजस् एवं तमस् यह तीनों गुण विद्यमान रहते हैं। इन्हीं गुणों के भेद से बुद्धि आठ रूपों वाली होती है। धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य, यह बुद्धि के सात्त्विक रूप हैं तथा इनके विपरीत अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य एवं अनैश्वर्य, यह तामस रूप हैं।

माठरवृत्ति में महान्, बुद्धि, मति, प्रज्ञा, सम्विति, ख्याति, चिति, स्मृति, आसुरी, हरि, हर एवं हिरण्यगर्भय यह बारह महत् तत्त्व के पर्यायवाची शब्द मानें गए हैं।⁶⁶ आचार्य माठर महत् का लक्षण करते हुए कहते हैं कि बुद्धि का असामान्य धर्म अध्यवसाय करना है। ‘अध्यवसाय’ पद को स्पष्ट करते हुए टीकाकार के द्वारा प्रतिपादित किया गया है कि निश्चय प्रतिपत्ति करना ही अध्यवसाय है। जैसे — यह स्थाणु है एवं यह पुरुष है। इस प्रकार का निश्चय करना ही बुद्धि का स्पष्ट लक्षण है। वह बुद्धि सात्त्विक और तामस गुण भेद से अष्टाङ्ग होती है। उसमें बुद्धि का सात्त्विक रूप चार प्रकार का है। धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य।

वर्णाश्रमों के अपने आश्रमानुकूल जो यमनियमादि हैं — वही धर्म है। इनमें पांच यम हैं और पांच नियम हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह्य इनको यम कहते हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान, इनको नियम कहते हैं। इन यम एवं नियमों के द्वारा जो सिद्ध किया जाये, वही धर्म है।

माठराचार्य ने ज्ञान के दो प्रकार स्वीकार किये हैं — बाह्य और आभ्यन्तर । बाह्यज्ञान वीणा, वाद्य, संगीत, चित्र, कला, गणित, व्याकरणादि शास्त्र का ज्ञान है। आभ्यन्तर ज्ञान प्रकृति पुरुष का विवेक ज्ञान है। इस प्रकार का विवेकज्ञान ही मोक्ष का कारण है।

आचार्य माठर ने वैराग्य के भी दो भेद माने हैं — बाह्य और आभ्यन्तर । बाह्य वैराग्य वह है, जिसमें मनुष्य केवल अर्जन, रक्षण, क्षयादि, हिंसा दोष के भयमात्र से दोषों को देखकर विषयों से विरक्त होता है। वह मोक्ष नहीं प्राप्त करता है। इसके अतिरिक्त आभ्यन्तर वैराग्य को आचार्य प्रधान रूप से स्वीकार करते हैं, क्योंकि आभ्यन्तर वैराग्य द्वारा ही मोक्ष प्राप्त होता है।

माठरवृत्तिकार ने 'ऐश्वर्य' का अर्थ 'ईश्वर-भावना' किया है और इसे आठ प्रकार का माना है — अणिमा, लघिमा, गरिमा, महिता, प्राप्ति, प्राक्राम्य, ईशित्व एवं वशित्व ।

यह धर्मादि चार बुद्धि के सात्विक रूप हैं। जब सत्त्वगुण के द्वारा रजोगुण और तमोगुण का अविर्भाव होता है, और सत्त्व गुण की अधिकता रहती है, तब पुरुष ये गुण प्राप्त करता है। इनके ठीक विपरीत अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य एवं अनैश्वर्य हैं, जो तामस बुद्धि के प्रकार हैं।⁶⁷

गौडपादाचार्य ने महान्, बुद्धि, आसुरी, मति, ख्याति, ज्ञान और प्रज्ञा को महत् का पर्याय माना है।⁶⁸ इनके अतिरिक्त उन्होंने प्रकाश, अवगम और भान को भी बुद्धि का पर्यायवाची स्वीकारा है। ज्ञान, प्रकाश, अवगम और भान के अतिरिक्त गौडपादाचार्य के द्वारा कहे गये, महत् के अन्य सभी पर्यायवाची शब्द माठरवृत्ति के अनुरूप ही हैं।

आचार्य गौडपाद के अनुसार अध्यवसाय करना ही बुद्धि का लक्षण है। अध्यवसाय के तात्पर्य को गौडपाद ने स्पष्टतया निरूपित किया है। तदनुसार 'अध्यवसानम्' कर्म ही अध्यवसाय है अर्थात् निश्चय करना ही अध्यवसाय है। जैसे — बीज में भावी अंकुरवृत्ति का

निश्चय होता है, ठीक उसी तरह, यह घट है, यह पट है, इस प्रकार का निश्चय प्रत्येक पदार्थ में होता है। जिस तत्त्व के द्वारा यह निश्चय होता है वही 'बुद्धि' है। बुद्धि को सात्त्विक और तामसिक भेद से गौडपाद ने अष्टाङ्गा कहा है तथा आचार्य माठर की तरह ही बुद्धि के सात्त्विक रूप धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य को स्वीकारा है।

गौडपादाचार्य ने धर्म को दया, दान, यम, नियम लक्षण वाला माना है। पातञ्जल योगसूत्र में दिये गए यम-नियम को ही गौडपाद ने स्पष्ट किया है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये यम हैं तथा शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान, ये नियम हैं।

गौडपादाचार्य ने माठराचार्य का अनुसरण करते हुए ज्ञान के भी बाह्य और आभ्यन्तर दो भेद माने हैं। इनमें बाह्य ज्ञान, वेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष सहित पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र आदि हैं। आभ्यन्तर ज्ञान, प्रकृति-पुरुष का ज्ञान है। इनमें बाह्य ज्ञान से लोकानुराग होता है और आभ्यन्तर ज्ञान से मोक्ष होता है। इसके विपरीत आचार्य तामसिक बुद्धि के भी चार भेद मानते हैं। वे अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य हैं। इस प्रकार सात्त्विक और तामसिक रूप से आठ भेदों वाली बुद्धि त्रिगुणात्मिका प्रकृति से उद्भूत होती है।

गौडपाद ने माठराचार्य के समान ही वैराग्य के भी बाह्य और आभ्यन्तर दो भेद माने हैं। संसार के विषयों का प्रत्यक्ष होने पर उनको प्राप्त करके, प्राप्त का रक्षण करने, रक्षित का भी क्षय हो जाने तथा उसके संग से उन पर आसक्ति और हिंसा आदि दोष देखकर उन विषयों से विरक्त होना, बाह्य वैराग्य है। आभ्यन्तर वैराग्य प्रकृति को आचार्य ने इन्द्रजाल सदृश कहा है, इसलिए मोक्ष चाहने वाले व्यक्ति को जो स्थायी वैराग्य उत्पन्न होता है वह आभ्यन्तर वैराग्य है।

ऐश्वर्य का अर्थ माठर के अनुरूप ही गौडपादाचार्य ने भी 'ईश्वरभाव' किया है तथा इसके भी आठ भेद बताये हैं — अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और यत्रकामावसायित्व । जब सत्त्व उत्कट होकर रजस् और तमस् को अभिभूत कर देता है, तब पुरुष बुद्धि के धर्मादि गुणों को प्राप्त करता है। इन धर्मादि से विपरीत तामस बुद्धि के रूप

हैं — अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य। इस प्रकार सात्त्विक और तामस रूपों से युक्त आठ प्रकार की बुद्धि त्रिगुणात्मक अव्यक्त से उत्पन्न होती है।⁶⁹

कौमुदीकार ने महत् का लक्षण बताते हुये कहा है कि क्रिया और क्रियावान् में अभेद मानकर 'निश्चय' (अध्यवसाय) को ही बुद्धि कहा जाता है। इसी को ग्रन्थकार सिद्ध करते हुए कहते हैं कि प्रत्येक व्यवहार (कार्य) करने वाला व्यक्ति प्रथम कार्य का इन्द्रियों से ग्रहण कर मन के द्वारा उसका संकल्प विकल्प करके 'मैं' इसे करने में अधिकृत हूँ, ऐसा अभिमान करके मुझे यह करना चाहिए यह निश्चय करता है और फिर उस कार्य में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार का जो बुद्धि का 'निश्चय' है और जिसे वह चेतन पुरुष के सानिध्य से चैतन्यवती होकर करती है, वही 'अध्यवास' है। यह बुद्धि का असाधारण कार्य है। अध्यवसाय ही सजातीय अहंकार इत्यादि और विजातीय घट, पट इत्यादि पृथक् करती है।

आचार्य वाचस्पति मिश्र भी अन्य आचार्यों की भांति ही बुद्धि के सात्त्विक और तामस भेद कहते हैं, सात्त्विक बुद्धि के निरूपण के प्रसंग में धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य को सात्त्विक बुद्धि कहा है तथा इसी सात्त्विक रूप के विपरीत अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य इन चारों को तामस रूप कहा है।

धर्म को कौमुदीकार ने अभ्युदय (लौकिक सुख) और निःश्रेयस (पारलौकिक सुख) का कारण कहा है। अभ्युदय को स्पष्ट करते हैं जो यज्ञदान इत्यादि के निष्पादन से उद्भूत धर्म निःश्रेयस (कैवल्य) का कारण होता है। ज्ञान का लक्षण करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि सत्त्व, रजस् एवं तमस् इन तीन गुणों युक्त त्रिगुणात्मक प्रकृति एवं पुरुष की अन्यथाख्याति अर्थात् भेद के साक्षात्कार को ही ज्ञान कहते हैं।

वाचस्पति मिश्र ने राग के अभाव को वैराग्य कहा है। उसकी यतमान, व्यतिरेक, ऐकेन्द्रिय और वशीकार ये चार संज्ञाएँ मानते हैं। चित्त के कषाय मल (राग द्वेषादि) से इन्द्रियाँ स्वविषय में प्रवृत्त होती हैं। इन्द्रियाँ विषयों के प्रति प्रवृत्त न होने के लिए मलों का उपशमन अपेक्षित है। इस कारण किया गया प्रयत्न 'यतमान' संज्ञा युक्त वैराग्य है। मलों के शमन के लिए प्रयत्न करने पर कुछ तत्क्षण शान्त हो जाते हैं एवं कुछ शेष रह जाते हैं, इस तरह इनके उपशमन में पौर्वापर्य क्रम में अवशिष्ट शमन हुए मलों को पृथक् करना अर्थात् अविशिष्ट के लिए अनुष्ठान वैराग्य व्यतिरेकि संज्ञा युक्त होता है। इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति में समर्थ

रहित होने के कारण पक्व अर्थात् निवृत्त किन्तु औत्सुक्यमात्र रूप में मलों को मन में स्थिर रखना एकेन्द्रिय संज्ञक वैराग्य है। अन्नादि लौकिक एवं आनुश्राविक विषयों के उपस्थित रहने पर भी उत्सुकता लेशमात्र भी न होना वशीकार संज्ञक वैराग्य है।

आचार्य वाचस्पति मिश्र ने माठराचार्य की तरह ऐश्वर्य को अणिमादि के रूप में परिभाषित किया है। ये चार बुद्धि के सात्विकधर्म हैं तथा अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य एवं अनैश्वर्य नाम वाले बुद्धि के तामस धर्म इनके विपरीत हैं।⁷⁰

5.3.2 अहंकार —

सृष्टि के क्रम में द्वितीय तत्त्व अहंकार है, जो कि महत्तत्त्व का कार्य है। अभिमान ही अहंकार है।⁷¹ 'मैं' और 'मेरा' यह भाव की अभिमान कहलाता है। अहंकार के कारण ही पुरुष अपने को कर्ता समझने लगता है। यह अहंकार ही संसार के समस्त व्यवहारों का मूल है। त्रिगुणों के प्रभाव से अहंकार भी तीन प्रकार का होता है। सत्त्व गुण की प्रधानता से सात्विक, जिसे 'वैकृत' भी कहते हैं। रजो गुण की प्रधानता से राजसिक, जो 'तैजस' कहलाता है तथा तमो गुण की प्रधानता से तामसिक, जिसे 'भूतादि' के नाम से जाना जाता है। अहंकार से दो प्रकार की सृष्टि होती है। एकादशेन्द्रियाँ वैकृत अहंकार से तथा पंचतन्मात्रायें भूतादि अहंकार से आविर्भूत होती हैं। तैजस अहंकार उभय रूप से दोनों में सहायक होता है।⁷²

आचार्य माठर ने भी ईश्वरकृष्ण की भांति अहंकार को अभिमान धर्म वाला माना है। मैं रूप, रस और गन्ध का अनुभव करने वाला हूँ, मैं पण्डित हूँ, मैं दर्शन योग्य हूँ। इस प्रकार की वृत्ति वाला जो अभिमान है, उसे ही अहंकार कहा जाता है।⁷³

माठराचार्य ने वैकृत, तैजस्, भूतादि, अभिमान एवं अस्मिता को अहंकार का पर्यायवाची स्वीकार किया है तथा कहा कि चौसठ वर्णों से एवं परादि से वैखरी वाणी तक, बुद्धि के द्वारा अध्यवसाय कर, जो कुछ भी उक्त किया जाए। वह सब अकारादि हकारान्त, इन दो वर्णों के ग्रहण से ऊपर स्थित पिण्डाकार युक्त बिन्दु से अलंकृत होकर, प्रत्याहार न्याय के द्वारा वह सब 'अहंकार' इस पद से कहा जाता है।⁷⁴

आचार्य माठर ने चौबीसवीं सांख्यकारिका के कारिकांश को उद्धृत करते हुए अभिमान धर्मक अहंकार से दो प्रकार के सर्ग की उत्पत्ति को माना है। सर्ग को सृष्टि का पर्यायवाची

शब्द कहकर आचार्य ने प्रथम इन्द्रिय सर्ग माना है, जो श्रोत्रादि से मन पर्यन्त एकादशेन्द्रिय हैं तथा द्वितीय सर्ग तन्मात्राओं को कहा है। जो शब्द से प्रारम्भ होकर गन्ध पर्यन्त हैं। इस प्रकार अहंकार से षोडशगण की उत्पत्ति होती है।⁷⁵

अहंकार में जब सत्त्वगुण उत्कृष्ट होता है, तो सत्त्व गुण के द्वारा रजोगुण और तमोगुण अभिभूत हो जाते हैं। इसे सात्त्विक अहंकार कहते हैं। इसी सात्त्विक अहंकार की पूर्वाचार्यो ने वैकृत्रिक संज्ञा की है। वह वैकृतिक अहंकार होकर एकादश इन्द्रियों को उत्पन्न करता है। इसीलिये ये इन्द्रियाँ विशुद्ध सात्त्विक और अपने-अपने विषय ग्रहण में समर्थ होती हैं तथा इसी कारण 'सात्त्विक एकादश' इत्यादि कारिका में भी कहा गया है।

तमोगुण के प्रबल होने से जब सत्त्व और रजोगुण अप्रधान हो जाते हैं उस अहंकार को पूर्वाचार्यो ने भूतादि संज्ञक कहा है। उस तमोगुणात्मक भूतादि नामक अहंकार से तन्मात्रगण अर्थात् शब्दस्पर्शादि पांच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। सत्त्व और तमोगुण को दबाने वाले तैजस संज्ञक राजस अहंकार, जो कि प्रवृत्तिशील है, उससे प्रकाशात्मक एकादशेन्द्रियगण और मोहात्मक तन्मात्रगण उत्पन्न होते हैं, क्योंकि तैजस संज्ञक राजस अहंकार में ही क्रिया शक्ति रहती है। सत्त्व गुण निष्क्रिय और तमोगुण मूढ़ होने से स्वयं निष्क्रिय होने के कारण क्रियात्मक रजोगुण के बिना सृष्टि में समर्थ नहीं होते हैं।⁷⁶

अहंकार के पर्यायवाची शब्दों में अस्मिता शब्द को छोड़कर गौडपादाचार्य ने माठर प्रदत्त शब्दों का ही अनुसरण किया है।⁷⁷ गौडपादाचार्य ने अहंकार की व्याख्या करते हुए कहा है कि अभिमान ही अहंकार है और उससे एकादश इन्द्रियगण और शब्दादि पांच तन्मात्राओं का समूह इन दो प्रकार की सृष्टि होती है। जब सत्त्व प्रबल रहता है और रजस् तमस् उससे दबे रहते हैं, तब वह सात्त्विक अहंकार कहलाता है। उसी को वैकृत् नाम से पूर्वाचार्य कहते हैं। उसी से सात्त्विक विशुद्ध ग्यारह इन्द्रियों का प्रादुर्भाव होता है। जो अपने-अपने शब्दादि विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं। जब तमोगुण से सात्त्विक और राजस् अहंकार अभिभूत होते हैं, तब वह तामस अहंकार कहलाता है। उसी को पूर्वाचार्यो ने भूतादि नाम से कहा है। उसी भूतादि अहंकार से पांच तन्मात्राओं का समूह उत्पन्न होता है। जब रजोगुण से सात्त्विक तथा तामस अहंकार अभिभूत रहते हैं, तब वह अहंकार तैजस कहलाता है। उससे दो प्रकार का सर्ग अर्थात् एकादश इन्द्रियाँ तथा पांच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं।⁷⁸

सात्त्विक अहंकार और तामस अहंकार निष्क्रिय होते हैं, अतः ये तैजस अहंकार से युक्त होकर ही तन्मात्राओं को उत्पन्न कर सकते हैं।

गौडपादाचार्य ने भाष्य में “बुद्धिन्द्रियाणि चक्षुः श्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि” ऐसा पाठ रखा है। ये इन्द्रियाँ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन पांच विषयों का बोधन करती हैं, इसलिए बुद्धिन्द्रियाँ कही जाती हैं तथा वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये पांच कर्मेन्द्रियाँ कही जाती हैं। इनमें वाणी बोलती है, हाथ नाना व्यापार करते हैं, पैरों से गमन—आगमन किया जाता है, पायु से मल त्याग होता है और उपस्थ से सन्तानोत्पत्तिजन्य आनन्द की प्राप्ति होती है।⁷⁹

वाचस्पति मिश्र ने भी अहंकार को अभिमान कहा है तथा यह जो इन्द्रियग्रहित और मन से विचारित विषय हैं, उनमें मैं ही अधिकृत। उन्हें मैं ही करने में समर्थ हूँ। वे विषय मेरे लिये ही हैं, मेरे अतिरिक्त दूसरा कोई उनमें अधिकृत नहीं है। अतः मैं ही प्रवृत्त हूँ। इस तरह का जो भी अभिमान है, वह अहंकार का साधारण कार्य होने के कारण अहंकार ही है।⁸⁰

अहंकार से दो प्रकार के कार्यों का प्रादुर्भाव होता है। पहला एकादश गण जो इन्द्रिय कहे जाते हैं एवं दूसरा पंचतन्त्रमात्राओं का समुदाय है। इन्हीं दो प्रकार के कार्यों का प्रादुर्भाव अहंकार से होता है। जिसका उपादान कारण सात्त्विक अहंकार होता है, वह इन्द्रियाँ होती हैं। इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं — ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ। ये दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ ‘इन्द्र’ अर्थात् आत्मा का चिह्न होने के कारण ‘इन्द्रियाँ’ कहलाती हैं। ज्ञानेन्द्रियों में रूप ग्रहण से जिसकी सत्ता ज्ञात होती है, वह नेत्र है, शब्द ग्रहण जिसका कार्य है वह श्रोत्र, गन्ध ग्रहण करने का कार्य करने वाली नासिका, रस ग्रहण करने वाली जिह्वा और स्पर्श ग्रहण का कार्य करने वाली इन्द्रिय ‘त्वक्’ या त्वचा है।⁸¹ ये ज्ञानेन्द्रियाँ क्रमशः रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्द इन विषयों का आलोचन या संवेदन करती हैं। कर्मेन्द्रियों में वाणी, पाणि, पाद, गुदा एवं उपस्थ इन कर्मेन्द्रियों के व्यापार क्रमशः वचन (भाषण) ग्रहण (आदान) गमन, मलत्याग और रमण है।⁸²

5.3.3 पंचज्ञानेन्द्रियाँ एवं पंचकर्मेन्द्रियाँ –

यह वैकृत अहंकार के कार्य हैं। आँख, कान, नासिका, जिह्वा तथा त्वचाय यह पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। ज्ञान उत्पन्न करने के कारण इन्हें बुद्धि इन्द्रियाँ भी कहा जाता है। वाणी, हाथ, पैर, गुदा तथा लिंगय यह पाँचों कर्मेन्द्रियाँ कहलाती हैं।⁸³ इनमें आँख का व्यापार देखना, कान का सुनना, नासिका का सूँघना, जिह्वा का स्वाद लेना तथा त्वचा का व्यापार स्पर्श करना है। यह सभी केवल अपने-अपने विषयों के ज्ञान में प्रवृत्त होती हैं। इसी प्रकार वाणी का व्यापार बोलना, हाथ का लेना, पैर का चलना, गुदा का मलोत्सर्ग एवं लिंग का व्यापार आनन्द है।⁸⁴

माठराचार्य ने श्रोतादि को बुद्धिन्द्रियाँ कहा है; क्योंकि इनके द्वारा शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध का ज्ञान होता है। वाक्, पाणि, पाद, पायु एवं उपस्थ को आचार्य ने कर्मेन्द्रियाँ कहा है, क्योंकि ये इन्द्रियाँ स्वयं कर्म करती हैं और कराती हैं। आचार्य ने 'इन्द्रिय' पद को स्पष्ट करते हुये कहा है कि 'इन्द्र' (आत्मा का ज्ञान) के ज्ञापक होने से इन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं। 'इन्' यह विषयों का नाम है और जो विषयों के प्रति अभिमुख हों, उन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं।⁸⁵

5.3.4 मन –

यह मन भी वैकृत अहंकार का ही कार्य है। मन को संकल्प करने वाला तथा उभयेंद्रिय कहा जाता है।⁸⁶ इसका संयोग ज्ञान और कर्म के लिए आवश्यक है। इसके अभाव में ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ होती हैं।

आचार्य माठर कारिकांश प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि एकादशेन्द्रियों में मनेन्द्रिय की स्थिति उभयात्मक है। मन कर्मेन्द्रियों में कर्मेन्द्रिय है तथा बुद्धीन्द्रियों में बुद्धीन्द्रिय है। यथा – देवदत्त गोपालों के मध्य गौ सेवा का कर्म करता है एवं पहलवानों के साथ में पहलवानी का कर्म करता है। यह कैसे ? इसका उत्तर देते हुए माठर कहते हैं कि बुद्धिन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय की संकल्पना मन के द्वारा होती है, इसलिये मन को उभयात्मक कहते हैं। साधर्मिक होने से मन इन्द्रिय है। सहधर्म के भाव को 'साधर्म्य' या समान धर्मक कहते हैं। कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय के समान ही मन का भी सात्विक अहंकार से प्रादुर्भाव होता है।⁸⁷

एकादश इन्द्रिय समूह में मन उभयात्मक हैं अर्थात् यह ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों प्रकार का है। सात्विक अहंकार से ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ मन के साथ ही उत्पन्न होती हैं। इसलिए मन से उनकी समान धर्मता है। इसी साधर्म्य के कारण मन भी इन्द्रिय है। आचार्य गौडपाद ने मन को संकल्पात्मक कहा है।⁸⁸

महदादि तेरह करण है, जिसमें महत्, अहंकार और मन ये आभ्यन्तर करण है। इन्हे ही अन्तःकरण की संज्ञा दी गई है। चक्षुरादि पंचज्ञानेन्द्रियाँ, वागादि पंचकर्मेन्द्रियाँ ये दस बाह्यकरण कहलाते हैं। श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियाँ वर्तमान शब्दादि को सुनने में समर्थ है, न कि भूत और भविष्यत् शब्दादि को। इसी तरह समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ भी वर्तमान कालिक विषय का ही ग्रहण करती हैं। वागादि कर्मेन्द्रियाँ वर्तमान शब्दादि का ही उच्चारण करती हैं, न भूत का न भविष्यत् शब्दादि का। इस प्रकार बाह्यकरण साम्प्रतकाल को ग्रहण करने वाला होता है। वही अन्तःकरण त्रिकाल के विषय है। बुद्धि वर्तमान घट को भी जानती है, भूत घट को भी और भविष्यत् घट को भी। अहंकार वर्तमान में भी जानने का अभिमान करता है भूत में भी और भविष्यत् में भी। इसी प्रकार मन भी वर्तमान में संकल्प करता है अतीत में भी और अनागत में भी। इस तरह आभ्यन्तर करण त्रिकाल विषयक होता है।⁸⁹ अन्तःकरण अर्थात् — अहंकार, मन के सहित बुद्धि सम्पूर्ण विषयों का ग्रहण करती है, इसलिए तीन प्रकार का आभ्यन्तर करण प्रधान है।⁹⁰

आचार्य वाचस्पति मिश्र साधारण और असाधारण (विशिष्ट) दो प्रकार से मन की व्याख्या करते हैं। एकादश इन्द्रियों में मन उभयात्मक है, अर्थात् मन ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों है, क्योंकि मन से संयोगाश्रय होकर चक्षु इत्यादि ज्ञानेन्द्रियाँ एव वाक् इत्यादि कर्मेन्द्रियाँ स्व-स्व विषय में प्रवृत्त होती हैं। असाधारण का लक्षण करते हुए आचार्य कहते हैं कि सङ्कल्प करने वाला मन है अतः सङ्कल्प से मन लक्षित होता है। इन्द्रिय के द्वारा किसी वस्तु में 'यह है' इस तरह अविविक्त रूप अर्थात् — सामान्य और विशेष रहित अथवा अस्पष्ट रूप से प्रतीत होने पर मन के द्वारा 'यह वस्तु ऐसी ही है एवं ऐसी नहीं' इस तरह उनका सङ्कल्प (विशेषण-विशेष्य रूप) से स्पष्ट ज्ञान होता है। पूर्वाचार्यों को उद्धृत किया है कि पहले लोगों को अविकल्पित अर्थात् साधारण और विशेष से रहित वस्तु — मात्र का स्पष्ट रहित प्रत्यक्ष है। फिर मन के द्वारा साधारण और असाधारण विकल्पों से युक्त (सविकल्पक) प्रत्यक्ष होता है। जैसे — पहले बालक मूक आदि के ज्ञान के समान हि वस्तु सामान्य विषयक अर्थात् —

विशेष्य-विशेषण भाव से रहित निर्विकल्पक ज्ञान होता है। तत्पश्चात् (नीलत्व, घटत्व इत्यादि) सामान्य धर्मायुक्त वस्तु का स्पष्ट ज्ञान होता है एवं यह भी प्रत्यक्ष है। यह संकल्प लक्षण व्यापार मन को सजातीय अहंकार आदि और विजातीय तन्मात्रा आदि पदार्थों से पृथक् करता हुआ उसे लक्षित करता है।⁹¹

5.3.5 अन्तःकरण एवं बाह्यकरण —

उपरोक्त वर्णित तत्त्वों में से, पंचज्ञानेन्द्रियाँ एवं पंचकर्मेन्द्रियाँ, यह दस बाह्यकारण कहलाते हैं तथा बुद्धि, अहंकार एवं मन, यह तीनों अन्तःकरण कहे जाते हैं। इस प्रकार सांख्य दर्शन को कुल तेरह 'करण' स्वीकार्य हैं। बाह्यकरण एवं अन्तःकरणों के भोग्य होते हैं एवं वर्तमान काल के ही विषय होते हैं तथा अन्तः कारण तीनों कालों के विषय होते हैं।⁹² सांख्य दर्शन इनमें से अन्तःकरणों को प्रधान एवं बाह्यकरणों को अप्रधान मानता है। अन्तःकरणों में भी बुद्धि को प्रधानता माना जाता है, क्योंकि अन्य सभी करण अपने विषयों को प्रकाशित कर बुद्धि को सौंप देते हैं तथा बुद्धि ही पुरुष के लिये सब उपभोगों को संपादित करती है और अंत में प्रकृति एवं पुरुष के सूक्ष्म अन्तर को भी व्यक्त करती है। जिससे पुरुष अपवर्ग को प्राप्त होता है।⁹³

आचार्य माठर ने सांख्यकारिकाकार के अनुरूप ही बुद्धि, अहंकार एवं मन, इन तीनों को अन्तःकरण की संज्ञा दी है तथा पंचकर्मेन्द्रियों एवं पंच ज्ञानेन्द्रियों को बाह्यकरण कहा है।⁹⁴ इस प्रकार पंचज्ञानेन्द्रियाँ एवं पंचकर्मेन्द्रियाँ, बुद्धि, अहंकार और मन, ये तेरह प्रकार के करण (इन्द्रियाँ) होते हैं।⁹⁵

अहंकार और मन सहित बुद्धि को 'सान्तःकरणा बुद्धिः' कहते हैं। यही बुद्धि सम्पूर्ण शब्दादि पंचविध विषयों को ग्रहण करती है। इसलिए मन, बुद्धि और अहंकार युक्त अन्तःकरण को 'करण' अर्थात् 'साधन' कहते हैं। कारिका में आये 'द्वारि' का अर्थ माठर ने बाह्य इन्द्रियाँ किया है।⁹⁶ श्रोत्र, वाक् इत्यादि दशेन्द्रियाँ सान्तःकरणा बुद्धि के विषय ग्रहण के लिये सहायक हैं। ये सभी इन्द्रियाँ परस्पर भिन्न लक्षणवाली होने पर भी प्रदीपतुल्य अपने-अपने विषयों को प्रकाशित कर पुरुष के भोग के लिए बुद्धि को समर्पण कर देती है।⁹⁷ आचार्य माठर ने एक उदाहरण के द्वारा इसे प्रस्तुत किया है। जैसे — मन्त्री सभी कर्मचारियों से तत्तकार्योपलब्धि को प्राप्त कर राजा के लिए निवेदित कर देता है, इसी तरह इन्द्रियाँ भी विषय को प्रकाशित

करके बुद्धि को समर्पित कर देती हैं और बुद्धि भी उसको पुरुष के लिए समर्पण कर देती है।⁹⁸

5.3.6 पंचतन्मात्राएँ एवं पंचमहाभूत —

शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध, ये पंचतन्मात्राएँ हैं तथा यह भूतादि अहंकार का कार्य हैं। इन्हीं पंचतन्मात्राओं से क्रमशः शब्द से आकाश, स्पर्श से वायु, रूप से अग्नि, रस से जल एवं गन्ध से पृथ्वी, ये पंचमहाभूत आविर्भूत होते हैं। इनमें तन्मात्राएँ अविशेष कहलाती हैं, जो सुखप्रद एवं दुःख तथा मोह से रहित देवताओं के विषय हैं तथा महाभूत विशेष कहे जाते हैं, जो शान्त (सुखजनक), घोर (दुःखजनक) और मूढ़ (मोहजनक) मनुष्यों के विषय हैं।⁹⁹

आचार्य माठर ने भूतादि संज्ञा वाले तामस् अहंकार से उद्भूत शब्दादि पंचतन्मात्राओं को ही अविशेष कहा है। यह सुखलक्षण युक्त पंचतन्मात्राएँ देवताओं के विषय हैं। यद्यपि इनमें भी रज और तम गुण रहते हैं। परन्तु सत्त्व गुण उत्कृष्ट होता है। अतः इन्हें अविशेष कहते हैं, क्योंकि ये सत्त्वगुण के आधिक्य से केवल सुखस्वरूप होने के कारण शान्त, घोर और मूढ़ादि धर्मों से पृथक् होते हैं।¹⁰⁰

शब्दादि पंचतन्मात्राओं से आकाशादि पंचमहाभूत, पूर्वपूर्वानुप्रवेश से क्रमशः एक, दो, तीन, चार एवं पांच गुणवाले, उत्पन्न होते हैं। इन्हीं को विशेष कहते हैं। यह मनुष्यों के विषय हैं और ये शान्त, घोर और मूढ़ धर्मों होते हैं। इनमें आकाश शान्त, घोर, मूढ़ धर्म वाला है। शान्त का तात्पर्य है 'सुख लक्षण वाला'। यथा — यदि कोई संकीर्ण बन्द प्रकोष्ठ से बाहर आकाश में आया, तो उसके लिए आकाश के सुखदायक होने से शान्त है तथा वही आकाश शीतोष्ण और वात के संयोग होने से दुःखदायक घोर है और वहीं रास्ते में चलने वाले, भयभीत, मार्ग से अपरिचित, मात्र आकाश का ही सर्वत्र अवलोकन करने वाले पुरुष के लिए मूढ़ है। वायु भी इसी तरह तीन प्रकार का है। यथा — वातायन से प्रवेश करने वाली वायु घर में रहने वाले के लिए शान्त है, पुनः गर्मी में उसी वातायन से प्रवेश करने वाली लू युक्त वायु दुःखदायक होने से घोर है और वही वायु शीतकाल में शीतदायक होने से मूढ़ है। इसी प्रकार अग्नि भी शीतार्त के लिए शान्त है, ग्रीष्मकाल में तापार्त के लिए घोर है और ग्रामादि दाह में प्रवृद्ध हुआ वही अग्नि पुरुष के लिए मोहोत्पादक होने से मूढ़ है। इसी तरह जल भी धर्मार्त के लिए सुखद होने से शान्त है, हेमन्त में दुःखद होने से घोर है और समुद्र

मध्य स्थित तीर को न देखने वाले पुरुष के लिए मोहोत्पादक होने से मूढ़ है। पृथ्वी भी इसी प्रकार नवीन हरी-भरी घास से सम्पन्न होने से वर्षाकाल में सुखोत्पादक होने से शान्त है, ग्रीष्मकाल में गर्म बालुका युक्त होने से घोर है तथा मार्ग से अनभिज्ञ, ग्राम एवं प्राणी समुदाय को नहीं देखने वाले यात्री के लिए मूढ़ है।¹⁰¹

शब्दादि पंचतन्मात्राएं अविशेष कही गयी है, क्योंकि ये देवताओं के विषय सुखप्रद और दुःख तथा मोह से रहित होते हैं। तन्मात्र में मात्र शब्द सूक्ष्मत्व का सूचक है। सूक्ष्म होने से ये और इनसे उत्पन्न पृथ्व्यादि पंचमहाभूत विशेष हैं। ये विशेष मनुष्यों के विषय हैं, क्योंकि ये शान्त अर्थात् सुखप्रद, घोर अर्थात् – दुःखप्रद और मोहजनक हैं। जैसे – आकाश जो कि खाली जगह का नाम है वह घर के भीतर से निकलते हुए व्यक्ति के लिए सुखप्रद है, वही शीत उष्ण वायु और वर्षा से प्रताड़ित व्यक्ति के लिए दुःखजनक होता है, तथा वही राहगीर के लिए घने जंगलों में भटक जाने पर मोहजनक हो जाता है।¹⁰² इसी प्रकार वायु धूप से सताये व्यक्ति के लिए शान्त शीतार्त के लिए घोर तथा धूल आदि उठता हुआ मोहजनक होता है। इसी प्रकार तेजादि को भी समझना चाहिए।

ये महदादि विशेष सूक्ष्म माता पिता से जन्य तथा महाभूतों के साथ तीन प्रकार के होते हैं। उन तीन प्रकार में सूक्ष्म अर्थात् तन्मात्र संज्ञक विशेष नित्य होते हैं। उनसे आरम्भ हुआ शरीर अधर्मवशात् पशु, मृग, सरीसृप, पक्षी, स्थावर, योनियों में जन्म मरण करता है और पुण्यवशात् इन्द्रादि लोको में। इस प्रकार यह नित्य सूक्ष्म शरीर तब तक संसार में चक्कर काटता है जब तक ज्ञान न उत्पन्न हो जाये, ज्ञान उत्पन्न होने पर विद्वान् व्यक्ति शरीर छोड़कर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। इसलिए ये सूक्ष्म विशेष नित्य हैं। सूक्ष्म शरीर को छोड़कर प्राणत्याग के समय ही माता-पिता से जन्य विशेष निवृत्त हो जाते हैं। मृत्युकाल में माता-पिता से जन्य स्थूल शरीर यही निवृत्त होकर पृथ्वी आदि तत्वों में क्रम से लीन हो जाता है।¹⁰³

सूक्ष्म शरीर का संस्मरण (संस्मरण) कैसे होता है ? गौडपादाचार्य इसका उत्तर देते हैं कि जब लोक उत्पन्न नहीं हुए थे तभी प्रारम्भ में प्रधान ने सूक्ष्म शरीर उत्पन्न कर दिया और देव, मनुष्य, पशुपक्षी आदि योनियों में आसक्त नहीं होता, अर्थात् एक ही देवादि योनि में

संयुक्त होकर नहीं रह सकता है। सूक्ष्म होने के कारण कहीं भी उसका प्रसार रोका नहीं जा सकता अर्थात् — पत्थर आदि तक में भी उसका प्रवेश है।¹⁰⁴

प्रतिपक्ष शंका करता है कि सूक्ष्मशरीर में धर्मादिभाव सम्भव नहीं है, इसलिए सूक्ष्मशरीर का संसरण कैसे होता है ? गौडपाचार्य कारिका में “भावैरधिवासितम्”¹⁰⁵ इस पद की के माध्यम से उत्तर देते हैं कि जैसे — सुगन्धित पुष्प यदि किसी वस्त्र में रखें जाये तो वह वस्त्र भी सुगन्धियुक्त हो जाता है, उसी प्रकार बुद्धि में रहने वाले धर्म-अधर्मादि सप्त भावों के संस्कार सूक्ष्मशरीर में भी रह जाते हैं, क्योंकि सूक्ष्मशरीर में एक तत्त्व बुद्धि भी है।

यहां यह ज्ञातव्य है कि गौडपादाचार्य ने महत् अहंकार और पंचतन्मात्राओं इन आठ तत्त्वों को ही सूक्ष्मशरीर माना है।¹⁰⁶ किन्तु अन्य आचार्य इन आठ तत्त्वों के अतिरिक्त दस इन्द्रियों के भी सूक्ष्मांश को मानकर अष्टारह तत्त्वों को सूक्ष्मशरीर मानते हैं।

आचार्य सूक्ष्म शरीर के संसरण का कारण पुरुषार्थ मानते हैं। प्रधान के व्यापक और समर्थ होने के कारण यह सूक्ष्मशरीर के लिए पृथक्-पृथक् देह धारण की व्यवस्था करती है। जैसे — नट परदे में वेश बदल कर आता है, कभी देवता, कभी मनुष्य, कभी विदूषक या अन्य। इसी प्रकार लिङ्ग शरीर निमित्त नैमित्तिक प्रसङ्ग से हाथी, स्त्री, पुरुष आदि रूपों को धारण करता है।¹⁰⁷

शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा एवं गन्धतन्मात्रा ये पांच तन्मात्राएं हैं। इनमें केवल अपने गुण शब्दादि होते हैं, इनका कोई विशेष रूप नहीं होता, अतः इन्हें ‘तन्मात्रा’ और अपने-अपने गुणों के आधार पर शब्दतन्मात्रादि कहा जाता है। तन्मात्राएं आकाशादि भूतों की सूक्ष्मरूप होती हैं, जैसे — शब्दतन्मात्रा आकाश का सूक्ष्म रूप है। अतः इन्हें ‘सूक्ष्म’ या ‘सूक्ष्मभूत’ भी कहा जाता है, इनमें शान्तत्व आदि उपभोग के योग्य विशेषताएं नहीं होती¹⁰⁸ अथवा होने पर भी ऐसे उद्भूत रूप में नहीं होती कि सर्वसाधारण के द्वारा अनुभूत हो सके, अतः इन्हें ‘अविशेष’ कहा जाता है।

शब्दादि तन्मात्राओं में से एक, दो, तीन, चार एवं पांच तन्मात्राओं से क्रमशः आकाश वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी इन पांच भूतों की उत्पत्ति होती है, और इस प्रकार पांच तन्मात्राओं से पांच भूत उत्पन्न होते हैं अर्थात् — एक शब्दतन्मात्रा से आकाश की उत्पत्ति होती है,

शब्दतन्मात्रा और स्पर्शतन्मात्रा, इन दो तन्मात्राओं से वायु की उत्पत्ति होती है, इसी प्रकार आगे तीन, चार और पाँच तन्मात्राओं से अग्नि, जल एवं पृथिवी की उत्पत्ति होती है।

कौमुदीकार ने पंचभूत को ही 'विशेष' संज्ञा दी है; क्योंकि ये शान्त, घोर एवं मूढ़ होते हैं। आकाशादि स्थूल भूतों में कुछ सत्त्वगुण की प्रधानता के कारण शान्त, सुखद, प्रकाशमान एवं लघु होते हैं, कुछ रजोगुण की प्रधानता के कारण घोर, दुःखद, अस्थिर या चञ्चल होते हैं, कुछ तमोगुण की प्रधानता के कारण मोहजनक, विषादयुक्त एवं भारी होते हैं,¹⁰⁹ अतः ये परस्पर पार्थक्य के साथ अनुभूयमान होने के कारण 'विशेष' और 'स्थूल' कहे जाते हैं।

सूक्ष्म शरीर, माता और पिता से उत्पन्न स्थूल शरीर एवं पंच आकाशादि महाभूत ये तीन प्रकार के विशेष होते हैं। इन विशेषों में जो सूक्ष्म शरीर है, वे नियत् अर्थात् – प्रलय पर्यन्त पुरुष के साथ रहते हैं। माता एवं पिता से उत्पन्न होने वाले स्थूल शरीर मृत्यु के साथ निवृत्त हो जाते हैं।¹¹⁰

5.3.7 सूक्ष्म शरीर –

सांख्य दर्शन, तीन अन्तःकरण (बुद्धि, अहंकार, मन), पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (चक्षु, श्रोत, घ्राण, रसन्, त्वक्), पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ) तथा पाँच तन्मात्रायें (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) इन अष्टारह तत्त्वों को सूक्ष्म शरीर के रूप में स्वीकार करता है। यह सूक्ष्म शरीर, मूल प्रकृति द्वारा सर्वप्रथम प्रत्येक पुरुष के लिये आविर्भूत किया गया तथा यह मोक्ष पर्यन्त रहता है। इस बीच कई बार स्थूल शरीरों को धारण और त्यागता रहता है। इस सूक्ष्म शरीर को स्थूल शरीर की अपेक्षा रहती है, क्योंकि स्थूल शरीर के बिना यह भोगापवर्ग रूपी पुरुषार्थ में प्रवृत्त नहीं हो सकता। जैसे – बिना दीवाल के चित्र और खूँटा इत्यादि के बिना छाया नहीं रह सकती, वैसे ही यह सूक्ष्म शरीर बिना स्थूल शरीर के नहीं रह सकता है।¹¹¹

5.3.8 बौद्धिक-सृष्टि –

सांख्य दर्शन में, पाँच प्रकार के विपर्यय, अष्टाईस प्रकार की अशक्ति, नौ प्रकार की तुष्टि तथा आठ प्रकार की सिद्धिय ये सब मिलाकर पचास प्रकार की बौद्धिक सृष्टि को स्वीकार किया जाता है।¹¹²

5.3.9 भौतिक-सृष्टि –

सांख्य दर्शन में चौदह प्रकार की भौतिक सृष्टि को भी स्वीकार किया जाता है। जिनमें आठ प्रकार की देव योनि (ब्राह्म, प्राजापत्य, सौम्य, ऐन्द्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस, पैशाच), पाँच प्रकार की तिर्यक योनि (पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप, स्थावर) तथा एक प्रकार की मनुष्य योनि सम्मिलित हैं। इनमें देव योनि सत्त्व गुण प्रधान, मनुष्य योनि रजो गुण प्रधान तथा तिर्यक योनि तमो गुण प्रधान होती है। यही ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त सृष्टि की स्थिति होती है।¹¹³

इस प्रकार महत् से लेकर पंचमहाभूतों तक, तत्त्वों के आधार पर तीन प्रकार की सृष्टियों (सूक्ष्म या लिंग सृष्टि, बौद्धिक या भाव सृष्टि एवं भौतिक सृष्टि) का प्रतिपादन सांख्य दर्शन में किया गया है। यह सृष्टि जिस क्रम से आविर्भूत होती है, उसी क्रम से अपने कारण में तिरोभूत हो जाती है। इसी को क्रम-संकोच, सरूप परिणाम, प्रतिसर्ग एवं प्रलय आदि नाम से जाना जाता है। इस प्रलयावस्था में प्रकृति त्रिगुणों की साम्यावस्था में आ जाती है। इस प्रकार पुनः प्रकृति एवं पुरुष दो मूल तत्त्व ही शेष रह जाते हैं।

5.4 सांख्याभिमत सृष्टि-प्रक्रिया की समीक्षा –

उपरोक्तानुसार सांख्य दर्शन सहित सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय किसी न किसी रूप में सृष्टि उत्पत्ति विषयक विचार अवश्य ही प्रकट करते हैं। उन्हीं विचारों के आधार पर यहाँ सांख्य दर्शन की सृष्टि-प्रक्रिया की समीक्षा प्रस्तुत की जा रही है।

5.4.1 चार्वाक दर्शन के आधार पर समीक्षा –

सांख्य दर्शन और चार्वाक दर्शन में एक समानता है कि सांख्य भी मूलकारण जड़ प्रकृति को मानता है और चार्वाक भी चार भूतों (जड़) को सृष्टि का कारण मानता है। सांख्य पाँच महाभूतों को स्वीकार करता है और चार्वाक उसमें आकाश को छोड़कर शेष भूतचतुष्टय को स्वीकार करता है। सांख्य के समान चार्वाक भी जगत् को पारमार्थिक रूप से सत्य मानता है। सांख्य सृष्टि को अनादि तथा अनन्त बतलाता है और चार्वाक भी सृष्टि को अनादि बतलाता है।

सांख्य के अनुसार जिस पुरुष को विवेकज्ञान हो जाता है, प्रकृति उसके लिए अपना कार्य बन्द कर देती है, लेकिन अन्य बद्ध पुरुषों के लिए संसार उसी प्रकार चलता रहता है। चार्वाक दर्शन में भी चार जड़ तत्त्वों के संयोग से संसार के पदार्थ उत्पन्न होते हैं एवं वियोग होने पर नष्ट हो जाते हैं। यह संयोग और वियोग स्वभाववश ही होता है। स्वभाव के अतिरिक्त इसका अन्य कोई कारण नहीं है।

अश्वघोष ने स्वभाववाद का निरूपण करते हुए कहा है कि कुछ लोगों के मत में शुभ, अशुभ एवं उत्पत्ति-अनुत्पत्ति की क्रियाएं स्वभावतः ही होती रहती हैं। सब कुछ स्वाभाविक है, अतः सारे प्रयत्न व्यर्थ हैं। प्रिय एवं अप्रिय विषयों में इन्द्रियों का प्रचरण नियत है। वृद्धावस्था में शरीर जर्जर हो जाता है, इसके लिए कौन यत्न करता है। निश्चय ही यह स्वभाव ही है, जिससे व्यक्ति युवक से बूढ़ा हो जाता है। जल से अग्नि बुझ जाती है तथा अग्नि जल को सुखा देती है। भिन्न-भिन्न तत्त्व ऐक्य को प्राप्त होकर शरीर तथा जगत् का निर्माण करते हैं। गर्भ में भ्रूण के हाथ, पैर, उदर, मस्तिष्क आदि अवयवों का निर्माण स्वभाव से ही होता है। कांटों में तीक्ष्णता किसने उत्पन्न की है ? किसने पशु-पक्षियों की विचित्रता का सर्जन किया है ? यह सब स्वभाव से ही सम्पन्न हुआ।¹¹⁴

चार्वाक मत में स्वभाववाद की अनवरत अपेक्षा है, क्योंकि स्वभाव के ऊपर जड़वाद के सिद्धान्त आधारित हैं। स्वभाव के अभाव में चतुर्भूतों की कायाकार में परिणति असम्भव है। जड़वाद के सिद्धान्त में यह प्रतिपादन है कि अशेष दृश्यमान् पदार्थ निसर्गतः इसी रूप में सदा से सम्पन्न होते आ रहे हैं और भविष्य में इसी प्रकार सम्पन्न होते रहेंगे।¹¹⁵

सांख्य में सृष्टि का प्रवाह अनादि और अनन्त बताया गया है। सांख्य के अनुसार प्रकृति की साम्यावस्था में क्षोभ होने पर जगत् का विकास प्रारम्भ होता है। सृष्टि का काल पूर्ण होने पर पदार्थ विपरीत गति द्वारा पुनः पूर्वावस्था में लौटकर प्रकृति में लय हो जाते हैं। भोग एवं अपवर्ग के लिए प्रकृति सूक्ष्म से स्थूल अवस्था में आती है।

सृष्टि का प्रवाह अनादि और अनन्त है। इसको सांख्य सूत्र में एक दृष्टान्त देकर समझाया गया है कि "बहुभृत्यवद्वा प्रत्येकम्" जिस प्रकार किसी एक व्यक्ति को अनेक स्त्री, पुत्र एवं भृत्य आदि का धारण पोषण करना पड़ता है, उसी प्रकार त्रिगुणमयी प्रकृति के अनेक मोचनीय पुरुष होते हैं। पुरुष असंख्य है, इसलिए अनेक पुरुषों के निरन्तर मुक्त होने पर भी

असंख्य पुरुष विद्यमान् रहेंगे । इस प्रकार यह सृष्टि प्रवाह निरन्तर चलता रहेगा, इसका कभी उच्छेद नहीं हो सकेगा।¹¹⁶

5.4.2 जैन दर्शन के आधार पर समीक्षा –

सांख्य की तरह जैन दर्शन भी मुख्य रूप से दो तत्त्व मानता है; पहला – चेतन और दूसरा – जड़। सांख्य में चेतन को पुरुष कहा गया है तो जैन में उसे जीव। सांख्य में जिसे प्रकृति कहा गया है तो जैन में उसे पुद्गल या अजीव कहा गया है।

सांख्य की तरह जैन भी आत्मा को मुख्यतम तत्त्व स्वीकार करता है और उसी की तरह आत्मा के दो रूप स्वीकार करता है – कर्म सहित अर्थात् अशुद्धात्मा और कर्म रहित शुद्धात्मा। इस प्रकार आत्मा के दो भेद हुये, पहला – संसारी और दूसरा – मुक्त। सांख्य की तरह जैन का जीव तत्त्व भी चैतन्य है। जिस प्रकार सांख्य दर्शन मुख्य रूप से दो तत्त्व बताकर बाद में पच्चीस तत्त्वों का वर्णन करता है, उसी प्रकार जैन भी पहले दो तत्त्वों का, बाद में सात तत्त्वों का और कहीं-कहीं पर नौ तत्त्वों का वर्णन करता है। जैसे – जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये सात और इसमें पुण्य एवं पाप मिला देने पर नौ संख्या हो जाती है। सांख्य की प्रकृति की तरह यहाँ पुद्गल को जड़ या अजीव कहा गया है।

पुरणाद् और गलनाद् अपने इन दो गुणों के कारण पुद्गल असंख्य कणों के योग से पिण्ड के खण्डन-प्रतिखण्डन की प्रक्रिया स्वरूप अणुरूप में भी आ सकता है। परमाणु पुद्गल की वह अवस्था है, जहाँ उस छोटे से छोटे कण का और आगे खण्डन सम्भव नहीं होता। वह अविभाज्य होता है। परमाणु इतनी सूक्ष्मतम अवस्था में होता है कि वह इन्द्रियों की अनुभव-परिधि में नहीं रहता। परमाणु स्वयं ही अपना आदि और स्वयं ही अन्त होता है तथा इसमें कोई एक वर्ण, एक गंध, एक रस और दो स्पर्श अवश्य होते हैं।

इस प्रकार पुद्गल विभिन्न अवस्थाएं धारण करते रहते हैं और सूक्ष्म अथवा स्थूल प्रत्येक अवस्था में पुद्गल के चारों गुण वर्ण, रस, स्पर्श और गन्ध विद्यमान रहते हैं। जैसे – प्रकृति में तीन गुण सत्त्व, रजस् एवं तमस् रहते हैं। पुद्गल के इन गुणों को सांख्य में तन्मात्राओं के नाम से जाना जाता है। जैन मतानुसार जगत् अनादि है। कोई भी ऐसा समय

नहीं था जबकि जगत् नहीं था। विद्यमान पदार्थ नष्ट नहीं हो सकते, न ही असत् से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। अनन्त सत् अनादि काल से अनन्त काल तक प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहते हैं, उन्हीं के परस्पर संयोग और वियोग से सृष्टि—क्रम स्वयं चलित होता है। प्रत्येक सत् अपने में पूर्ण और स्वतन्त्र है। मूलतः एक सत् का दूसरे सत् पर कोई अधिकार नहीं है। अतः वे दो हैं, इसलिए वे अपने में पूर्ण और स्वतन्त्र हैं। जैन दर्शन के अनुसार यदि सब कुछ ईश्वर की इच्छा पर निर्भर है, तो उनके विशिष्ट गुण होने का क्या लाभ ? भगवान् महावीर स्वामी ने लोक की स्थिति आठ प्रकार की बताई है — वायु आकाश पर ठहरी हुई है, समुद्र वायु पर ठहरा हुआ है, पृथ्वी समुद्र पर ठहरी हुई है, त्रस स्थावर जीव पृथ्वी पर ठहरे हुये हैं, अजीव जीव के आश्रित हैं, सकर्म जीव—कर्म के आश्रित हैं, अजीव जीवों द्वारा संग्रहित हैं और जीव कर्म—संग्रहित हैं।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि विश्व के चार आधारभूत अंग हैं — आकाश, जल, वायु एवं पृथ्वी। इन्हीं तत्त्वों के विभिन्न प्रकार के संगठनों से इस लोक का निर्माण हुआ एवं विभिन्न पदार्थों ने स्थिति ग्रहण की है। इन अंगों में आधार एवं आधेय का सम्बन्ध रहता है। उदाहरणार्थ — जीव आधार है शरीर उसका आधेय।

इस प्रकार जैन दर्शन भी सांख्य की तरह मुख्य रूप से दो तत्त्वों को मानता है एक जीव तथा दूसरा अजीव। सांख्य जिसको चेतन कहता है, जैन दर्शन में उसे जीव कहा जाता है तथा सांख्य जिसे प्रकृति कहता है, जैन दर्शन उसे अजीव कहता है। जैन दर्शन जगत् का उपादान कारण पुद्गल—परमाणु को मानता है। जैसे सांख्य में प्रकृति और पुरुष संयोग से सृष्टि होती है, वैसे ही जैन दर्शन में इन्हीं कर्म—पुद्गलों के सम्पर्क से सृष्टि होती है और जीव बद्ध होता है। अनादि काल से अनादि जीव के साथ कर्म भी रहता है। जिस प्रकार सांख्य में सारा जगत् प्रकृति का परिणाम है, उसी प्रकार जैन में शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, प्रकाश और तप, ये सब पुद्गल के ही परिणाम हैं। सांख्य के पुरुष की तरह स्वभाव से बिना गति के होने पर भी जीव पुद्गलों के सम्पर्क से गतिमान हो जाता है।

5.4.3 बौद्ध दर्शन के आधार पर समीक्षा —

सांख्य में सर्गक्रम का विशद वर्णन है और इस वर्णन में एक महत्वपूर्ण कारिका आती है — “इत्येष प्रकृतिकृतौ महदादिविशेषभूतपर्यन्तः। प्रतिपुरुष विमोक्षार्थं स्वार्थं इव परार्थ आरम्भः”¹¹⁷ इस सब सृष्टि का कारण प्रकृति है। बुद्ध तो सर्ग आदि के प्रश्नों में ही नहीं पड़े, बल्कि उस विषयक जिज्ञासा को ही उन्होंने असंगत बताया और केवल दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति और केवल दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के मार्ग का ही आचरण करने को कहा। तथागत के लिए तो सृष्टि चाहे प्रकृतिकृत हो तब भी और चाहे न हो तब भी, चाहे ईश्वरकृत हो या न हो तब भी, चाहे ब्रह्मकृत हो या न हो तब भी, परम आश्वासन है, किन्तु सांख्य के लिए तो इत्येष प्रकृतिकृतः न होने पर उसकी समग्र व्यवस्था ही टूट जाती है, उसके विचार का विशाल प्रसाद हो गिर पड़ता है।

सांख्य जब कहता है कि प्रकृति के धर्मों को पुरुष को अपने में आरोपित नहीं करना चाहिए और जब भगवान् बुद्ध कहते हैं भिक्षुओं ! जितना भी रूप है, जितनी भी वेदना है, जितनी भी संज्ञा है, जितने भी संस्कार हैं, जितना भी विज्ञान है, चाहे भूतकाल का हो, चाहे वर्तमान का, चाहे भविष्यत का, चाहे अपने अन्दर का हो, चाहे बाहर का, चाहे स्थूल हो अथवा सूक्ष्म, चाहे बुरा हो चाहे भला, चाहे दूर है अथवा समीप वह ‘न मेरा है’, न वह ‘मैं हूँ’, न वह ‘मेरा आत्मा’ है। तो इन दोनों में कोई अन्तर नहीं रह जाता। रूप, वेदना आदि पंचस्कन्ध भी तो एक प्रकार से प्रकृति के ही व्यापारों का अविभागीकरण हैं, दोनों स्थूल और सूक्ष्म का। सांख्य अपने पच्चीस तत्त्वों में यदि ‘नास्ति न मे नाह’ का तत्त्वाभ्यास करने का आदेश देकर पुरुष की विमुक्ति का मार्ग देखता है, तो तथागत पंचस्कन्धों में न वे मेरे हैं, न वे मैं हूँ, न वे मेरे आत्मा हैं, इस प्रकार आत्मा अनात्मा की विवेकख्याति के द्वारा ही तो निर्वाण का उपदेश करते हैं।

इस प्रकार दोनों दर्शनों के विचारों में गहरी समानता है और पारस्परिक विभेद भी हैं। भगवान् तथागत जहाँ जीवन की गम्भीर समस्याओं को लेकर जीवन के एक शास्ता के रूप में आते हैं, तो वहीं सांख्यकार प्रकृति पुरुष की गवेषणा में ही लगे रहते हैं। कपिल मुख्यतः सृष्टि के विचारक है और बुद्ध मानव जीवन के वैसे इन दोनों दर्शनों में मनुष्य के स्वतन्त्र विचार को बड़ा प्रोत्साहन दिया है। कपिल के समान बुद्ध के सिद्धान्त में मानवीय मस्तिष्क

की स्वतन्त्र शक्ति में अनुभूति है और इस दृष्टि से दोनों ही दर्शन भारतीय दर्शन में अद्वितीय स्थान रखते हैं।

5.4.4 न्याय—वैशेषिक दर्शन के आधार पर समीक्षा —

न्याय तथा वैशेषिक के जगत् सम्बन्धी विचार एक जैसे हैं, किन्तु वैशेषिक में जगत् का वर्णन न्याय की अपेक्षा विस्तृत हुआ है। वैशेषिक के सिद्धान्तों को न्याय में भी स्वीकार किया गया है। अतः वैशेषिक को नैयायिक समानतन्त्र मानते हैं।¹¹⁸ वैशेषिक विश्व को तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण से देखता है, जबकि न्याय उसे ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण से देखता है।¹¹⁹ इन दोनों दर्शनों के सिद्धान्त न केवल एक दूसरे की पुष्टि करते हैं, अपितु एक-दूसरे के पूरक भी हैं।

सांख्य में जिन्हें महाभूत कहा गया है, वे न्याय—वैशेषिक के परमाणु ही हैं। लेकिन न्याय—वैशेषिक के महाभूत और सांख्य के स्थूलभूत समान नहीं हैं। सांख्य के अनुसार शब्द तन्मात्रा से आकाश उत्पन्न होता है और उसमें शब्द है। स्पर्श तन्मात्रा से वायु उत्पन्न होती है और उसमें स्पर्श है। रूप तन्मात्रा से तेजस् उत्पन्न होता है, जिसमें रूप है। रस तन्मात्रा से जल उत्पन्न होता है, जिसमें रस है तथा गन्ध तन्मात्रा से पृथिवी उत्पन्न होती है, जिसमें गन्ध है। ये स्थूल हैं, अतएव शान्त, घोर तथा मूढ़ हैं।¹²⁰

न्याय—वैशेषिक मत में पृथिवी, जल, तेजस् तथा वायु इन चार कार्यरूप स्थूल द्रव्यों का सबसे सूक्ष्म नित्य द्रव्य है; इन चारों का 'परमाणु' अर्थात् स्थूल कार्यरूप पृथिवी सूक्ष्म होते-होते एक ऐसी अवस्था में पहुँच जाती है, जिसके बाद उसका विभाग नहीं किया जा सकता है। पृथिवी की वही अवस्था चरम अवस्था है। पृथिवी का उससे छोटा हिस्सा नहीं हो सकता है। अतएव वह नित्य है और उसी को पृथिवी का 'परमाणु' भी कहते हैं।

इस पृथिवी परमाणु में पृथिवी द्रव्य है और साथ में उसके गन्ध आदि कुछ गुण हैं अर्थात् — यह परमाणु रूपी पृथिवी भी गुणवती है। इसी प्रकार जल के परमाणु हैं और वे भी द्रव्य और गुण से युक्त अर्थात् गुणवान् हैं, तेजस् के परमाणु भी द्रव्य और गुण से युक्त अर्थात् गुणवान् हैं तथा वायु के भी परमाणु द्रव्य और गुण से युक्त अर्थात् गुणवान् हैं।

न्याय-वैशेषिक के अनुसार सूक्ष्म भूतों का स्वरूप इस प्रकार है, जबकि सांख्य में प्रकृति से बुद्धि, बुद्धि से अहंकार, अहंकार से ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच तन्मात्राएँ तथा पाँच तन्मात्राओं से पाँच महाभूतों का आविर्भाव होता है। इस प्रकार सांख्य के आकाश आदि पाँच महाभूत न्याय-वैशेषिक के परमाणुओं के समान हैं, न कि उनके महाभूतों के समान ।

सांख्य के इन पाँच महाभूतों में क्रमशः शब्द तन्मात्रा से स्वतन्त्र रूप से अभिव्यक्त होने के कारण आकाश में केवल शब्द, स्पर्श तन्मात्रा से स्वतन्त्र रूप से अभिव्यक्त होने के कारण वायु में केवल स्पर्श, रूप तन्मात्रा से स्वतन्त्र रूप में अभिव्यक्त होने के कारण तेजस् में केवल रूप, रस तन्मात्रा से स्वतन्त्र रूप में अभिव्यक्त होने के कारण जल में केवल रस तथा गन्ध तन्मात्रा से स्वतन्त्र रूप से अभिव्यक्त होने के कारण पृथिवी में केवल गन्ध रहते हैं।

इस प्रकार, ये पाँचों महाभूत क्रमशः पृथक्-पृथक् रूप में पाँचों तन्मात्राओं से अभिव्यक्त हुए हैं। अतः इनमें क्रमशः पृथक्-पृथक् पाँच तन्मात्राएँ भी है। इससे यह ज्ञात होता है कि न्याय-वैशेषिक मत के जो चार परमाणु हैं तथा सांख्य के जो वायु आदि चार भूत हैं, इनमें प्रायः कुछ भी भेद नहीं है। 'आकाश' न्याय-वैशेषिक मत में नित्य और व्यापक है, किन्तु सांख्य मत में वह अव्यापक तथा अनित्य है।

न्याय-वैशेषिक मत में पहले निर्गुणरूप वायु आदि चारों भूतों की उत्पत्ति होती है, पश्चात् उनमें क्रमशः अपना-अपना गुण उत्पन्न होता है, अर्थात् — द्रव्य कारण है और उसका 'गुण' कार्य है। सांख्य मत में इसके ठीक विपरीत, शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध कारण हैं और इनसे क्रमशः पृथक्-पृथक् आकाश, वायु, तेजस्, जल तथा पृथिवी ये पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं और ये शब्द आदि के क्रमशः कार्य हैं। ये पाँचों भूत एक प्रकार से वेदान्तियों के अपंचीकृत भूतों के समान हैं।

न्याय-वैशेषिक में ईश्वर को सृष्टि का निमित्त कारण कहा है।¹²¹ वह प्रत्येक आत्मा में रहने वाला धर्माधर्म को पृथिव्यादि भूतों में प्रवर्तित करता है। इस प्रकार अदृष्ट एवं ईश्वर की इच्छा निमित्तकारण, परमाणु समवायिकारण एवं परमाणुओं का संयोग असमवायिकारण है। जबकि सांख्य में प्रकृति को उपादान तथा पुरुष को निमित्त कारण कहा गया है।

न्याय-वैशेषिक में सजातीय दोनों परमाणु मात्र से ही सृष्टि नहीं होती। उसके साथ एक विजातीय परमाणु, जैसे — जलीय परमाणु भी रहता है। जैसे दो स्त्रियों या दो पुरुषों से सृष्टि नहीं होती है, उसी प्रकार सजातीय दो परमाणुओं से भी सृष्टि नहीं होती। सृष्टि मात्र के लिए सजातीय होते हुए भी विजातीय होना आवश्यक है। इसलिए स्थूलभूत, वासना एवं चेतन जीव इन तीनों के सहारे सृष्टि होती है।

5.4.5 अद्वैत-वेदान्त के आधार पर समीक्षा —

भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में सांख्य दर्शन एवं अद्वैत-वेदान्त का अतीव महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये दोनों ही दर्शन विद्वत् समाज में समानरूप से आदर प्राप्त करने वाले हैं। यह एक दूसरे के प्रबल प्रतिद्वन्दी के रूप में प्रसिद्ध हैं, क्योंकि आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र में सांख्य को वेदान्त का 'प्रधान मल्ल' कहा है।¹²² इसका मुख्य कारण यह है कि दोनों ही दर्शन सत्कार्यवाद को स्वीकार करते हैं। सांख्य दर्शन का सत्कार्यवाद की परिणति प्रकृति परिणामवाद के रूप में होती है, अद्वैत-वेदान्त का सत्कार्यवाद विवर्तवाद में परिणत होता है। सांख्य दर्शन के अनुसार मूल प्रकृति के कार्य रूप महत् से लेकर पंचमहाभूत पर्यन्त सृष्टि के क्रम एवं अद्वैत-वेदान्त के अनुसार उपाधि भूत ईश्वर के कार्य रूप अपंचीकृत आकाशादि सूक्ष्म भूतों से लेकर पंचीकृत आकाशादि पंचमहाभूत पर्यन्त सृष्टि के क्रम का वर्णन किया गया है। इन दोनों ही दर्शनों में वर्णित 'सृष्टि-प्रक्रिया' अत्यन्त ही व्यवस्थित है, परन्तु इनमें अत्यधिक भिन्नता भी है। उसी भिन्नता के आधार पर कुछ प्रमुख बिन्दुओं द्वारा दोनों ही दर्शनों की 'सृष्टि-प्रक्रिया' की समीक्षा अग्रलिखित प्रकार से की जा सकती है —

(क) सृष्टि-प्रक्रिया के पूर्व विद्यमान आदि तत्त्व —

सांख्य दर्शन सृष्टि-प्रक्रिया के पूर्व में विद्यमान आदि तत्त्व के रूप में 'प्रकृति' एवं 'पुरुष' इन दो मूल तत्त्वों को स्वीकार करता है, इसलिये यह द्वैतवादी दर्शन कहलाता है, जबकि शांकर वेदान्त सृष्टि-प्रक्रिया के पूर्व में केवल एक तत्त्व 'ब्रह्म' को ही स्वीकार करता है, इसीलिये यह अद्वैतवादी दर्शन कहलाता है।

(ख) सृष्टि का कारण —

कार्य—कारण की दृष्टि से समीक्षा इस प्रकार हो सकती है कि सांख्य दर्शन के अनुसार जड़ जगत् त्रिगुणात्मक प्रकृति का परिणाम है, जबकि अद्वैत—वेदान्त के अनुसार जगत् अज्ञान से उपहित चैतन्य 'ईश्वर' का परिणाम माना जाता है। सांख्य के अनुसार प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टि होती है, जबकि अद्वैत—वेदान्त के अनुसार ईश्वर के संकल्प मात्र से सृष्टि होती है। सांख्य दर्शन की प्रकृति जगत् का उपादान कारण है, वह पुरुष के संयोग को निमित्त बनाकर सृष्टि का उपादान कारण बनती है, जबकि अद्वैत—वेदान्त का सौपाधिक ब्रह्म या ईश्वर जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। वह अपने स्वरूप की प्रधानता से जगत् का निमित्त कारण और अपनी माया या अविद्या की समष्टि उपाधि की प्रधानता से जगत् का उपादान कारण है।

(ग) सृष्टि का प्रयोजन —

सृष्टि के प्रयोजन के परिप्रेक्ष्य में समीक्षात्मक दृष्टि इस प्रकार हो सकती है कि सांख्य के अनुसार सृष्टि का प्रयोजन पुरुष का भोगापवर्ग रूप है, जबकि अद्वैत—वेदान्त के अनुसार सृष्टि का प्रयोजन सौपाधिक ब्रह्म या ईश्वर की लीलामात्र है। ईश्वर केवल लीला के लिए ही सृष्टि करता है।

(घ) सृष्टि का सत्यत्व —

सृष्टि के सत्यत्व के प्रश्न पर सांख्य दर्शन एवं अद्वैत—वेदान्त के अभिमत को समीक्षात्मक रूप से इस भांति प्रस्तुत किया जा सकता है कि जहाँ सांख्य एक वस्तुवादी दर्शन के रूप में सृष्टि को सत्य मानता है, वहीं अद्वैत—वेदान्त एक प्रत्ययवादी दर्शन के रूप में जगत् को परमार्थतः सत्य नहीं मानता, बल्कि उसे ब्रह्म के विवर्त के रूप में सदसदनिर्वचनीय मानते हुये केवल व्यावहारिक रूप से ही सत्य मानता है।

(ङ) महत् —

सांख्य दर्शन के अनुसार सृष्टि के विकास के क्रम में सर्वप्रथम अव्यक्त प्रकृति से महत्तत्त्व (बुद्धि) आविर्भूत होता है। जबकि अद्वैत—वेदान्त, बुद्धि को अकाशादि पाँच सूक्ष्म भूतों

के सात्त्विक अंश के सम्मिलित रूप से उत्पन्न मानता है। सांख्य के अनुसार अध्यवसाय ही बुद्धि है।¹²³ निश्चय को अध्यवसाय कहा जाता है। यह वृक्ष है या यह गाय है, इस प्रकार का निश्चय प्रत्येक पदार्थ में होता है। जिसके द्वारा यह निश्चय होता है, वही बुद्धि है। अद्वैत-वेदान्त में भी बुद्धि को निश्चय करने वाली अन्तःकरण वृत्ति के रूप में स्वीकार करता है।¹²⁴

(च) अहंकार —

सांख्य दर्शन के अनुसार सृष्टि के क्रम में द्वितीय तत्त्व अहंकार है, जो कि महत्तत्त्व का कार्य है और यह अभिमान ही अहंकार है।¹²⁵ 'मैं' और 'मेरा' यह भाव की अभिमान कहलाता है। अहंकार के कारण ही पुरुष अपने को कर्ता समझने लगता है। यह अहंकार ही संसार के समस्त व्यवहारों का मूल है। त्रिगुणों के प्रभाव से अहंकार भी तीन प्रकार का होता है। सत्त्व गुण की प्रधानता से सात्त्विक, जिसे 'वैकृत' भी कहते हैं। रजो गुण की प्रधानता से राजसिक, जो 'तैजस' कहलाता है तथा तमो गुण की प्रधानता से तामसिक, जिसे 'भूतादि' के नाम से जाना जाता है। अहंकार से दो प्रकार की सृष्टि होती है। एकादशेन्द्रियाँ वैकृत अहंकार से तथा पंचतन्मात्रायें भूतादि अहंकार से आविर्भूत होती हैं। तैजस अहंकार उभय रूप से दोनों में सहायक होता है।¹²⁶ अद्वैत-वेदान्त अहंकार को स्वतन्त्र रूप में स्वीकार न करके, बुद्धि एवं मन के अन्तर्गत ही इसका अन्तर्भाव मानता है।¹²⁷

(छ) मन —

सांख्य दर्शन के अनुसार मन वैकृत अहंकार का कार्य है, जबकि अद्वैत-वेदान्त मन को अकाशादि पाँच सूक्ष्म भूतों के सात्त्विक अंश के सम्मिलित रूप से उत्पन्न मानता है। सांख्य दर्शन मन को संकल्प करने वाला तथा उभयेन्द्रिय के रूप में स्वीकार करता है¹²⁸, जबकि अद्वैत-वेदान्त मन को केवल संकल्प-विकल्प करने वाली अन्तःकरण वृत्ति मानता है।¹²⁹

(ज) पंचज्ञानेन्द्रियाँ —

सांख्य दर्शन के अनुसार श्रोत, त्वक्, चक्षु, जिह्वा एवं घ्राण ये ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और यह वैकृत अहंकार के कार्य हैं। अद्वैत-वेदान्त के अनुसार भी यही पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, लेकिन यह अकाशादि सूक्ष्म भूतों के सात्विक अंश से पृथक्-पृथक् क्रम में उत्पन्न होती हैं। ज्ञान उत्पन्न करने के कारण इन्हें बुद्धि इन्द्रियाँ भी कहा जाता है।¹³⁰ इनमें चक्षु का व्यापार देखना, श्रोत का सुनना, घ्राण का सूँघना, जिह्वा का स्वाद लेना तथा त्वचा का व्यापार स्पर्श करना है।¹³¹

(झ) पंचकर्मेन्द्रियाँ —

सांख्य दर्शन एवं अद्वैत-वेदान्त के अनुसार वाक्, पाणि, पाद, पायु एवं उपस्थ यह पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं।¹³² सांख्य दर्शन के अनुसार यह वैकृत अहंकार से आविर्भूत होती हैं, जबकि अद्वैत-वेदान्त के अनुसार यह आकाशादि पाँचों सूक्ष्म भूतों के राजसिक अंश से पृथक्-पृथक् क्रम में उत्पन्न होती हैं। इनमें वाक् का व्यापार बोलना, पाणि का ग्रहण करना, पाद का चलना, पायु का मलोत्सर्ग एवं उपस्थ का व्यापार आनन्द है।¹³³

(ञ) पंचतन्मात्रायें —

सांख्य दर्शन के अनुसार शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध ये पंचतन्मात्रायें हैं तथा यह भूतादि अहंकार का कार्य हैं, जबकि अद्वैत-वेदान्त में आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी इन सूक्ष्म भूतों को तन्मात्र कहा जाता है और ये क्रमशः ईश्वर से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी उत्पन्न होते हैं। अद्वैत-वेदान्त में तो इन शब्दादि को पंचमहाभूतों के गुण बताते हुये कहा गया है कि पंचीकरण-प्रक्रिया के पश्चात् ही आकाश में उसका शब्द गुण अभिव्यक्त होता है। वायु में शब्द एवं स्पर्श, अग्नि में शब्द, स्पर्श एवं रूप, जल में शब्द, स्पर्श, रूप एवं रस तथा पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध अभिव्यक्त होते हैं।¹³⁴

(ट) पंचमहाभूत –

सांख्य दर्शन के अनुसार आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी ये पंचमहाभूत कहलाते हैं तथा ये तन्मात्राओं से क्रमशः शब्द से आकाश, स्पर्श से वायु, रूप से अग्नि, रस से जल एवं गन्ध से पृथ्वी आविर्भूत होते हैं। अद्वैत-वेदान्त भी आकाशादि इन पांचों को महाभूत स्वीकार करता है और पंचीकरण-प्रक्रिया द्वारा आकाशादि अपंचीकृत सूक्ष्म भूतों से उत्पन्न मानता है।

(ठ) पंचप्राण –

सांख्य दर्शन के अनुसार प्राण, अपान, व्यान, उदान एवं सामान ये पाँच प्राण हैं और ये समस्त करणों की सामान्य वृत्ति हैं।¹³⁵ अद्वैत-वेदान्त के अनुसार भी प्राण, अपान, व्यान, उदान एवं सामानय यह पाँच प्रकार के प्राण हैं और इनमें ऊर्ध्व गमन करने वाले तथा नासिकाग्र में स्थान वाले वायु का नाम प्राण है। अधः गमन करने वाले तथा पायु आदि में स्थान वाले वायु का नाम अपान है। चारों ओर गमन करने वाले तथा सम्पूर्ण शरीर में रहने वाले वायु का नाम व्यान है। उर्ध्व गमन एवं उत्क्रमण करने वाले तथा कण्ठ में स्थान वाले वायु का नाम उदान है एवं शरीर के अन्दर गये हुये, खाये-पिये हुये अन्न-जलादि का समीकरण अर्थात् भोजन को शरीरगत रस, रक्त आदि धातुओं के रूप में परिणित करने वाले वायु का नाम सामान है।¹³⁶

(ड) सूक्ष्म शरीर –

सांख्य दर्शन, तीन अन्तःकरण (बुद्धि, अहंकार, मन), पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत, त्वक्, चक्षु, जिह्वा एवं घ्राण), पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ) तथा पाँच तन्मात्रायें (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) इन अष्टारह तत्त्वों को सूक्ष्म शरीर के रूप में स्वीकार करता है¹³⁷, जबकि अद्वैत-वेदान्त के अनुसार सूक्ष्म शरीर सत्रह अवयव वाला लिंग शरीर है। इन सत्रह अवयवों में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत, त्वक्, चक्षु, जिह्वा एवं घ्राण), बुद्धि, मन, पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ) एवं पाँच प्राण (प्राण, अपान, व्यान, उदान, सामान) शामिल हैं।¹³⁸

(ढ) सृष्टि के प्रकार —

सांख्य दर्शन के अनुसार सूक्ष्म या लिंग सृष्टि, बौद्धिक या भाव सृष्टि एवं भौतिक सृष्टि के रूप में तीन प्रकार की सृष्टि होती हैं।¹³⁹ अद्वैत-वेदान्त में भी, कारण सृष्टि, सूक्ष्म सृष्टि एवं स्थूल सृष्टि के भेद से तीन प्रकार की सृष्टि स्वीकार्य हैं।¹⁴⁰

(ण) प्रलय-प्रक्रिया —

सांख्य दर्शन के अनुसार यह सृष्टि जिस क्रम से आविर्भूत होती है उसी क्रम से अपने कारण में तिरोभूत हो जाती है। इसी को क्रम-संकोच, सरूप परिणाम, प्रतिसर्ग एवं प्रलय आदि नाम से जाना जाता है। इस प्रलयावस्था में प्रकृति त्रिगुणों की साम्यावस्था में आ जाती है। इस प्रकार पुनः प्रकृति एवं पुरुष दो मूल तत्त्व ही शेष रह जाते हैं। अद्वैत-वेदान्त के अनुसार जिस प्रकार सृष्टि का कारण ईश्वर है, उसी प्रकार प्रलय का कारण भी ईश्वर ही है। जैसे — मकड़ी का समेटा हुआ जाल शरीरवत् होकर उसी में विलीन हो जाता है, उसी प्रकार यह दृश्य जगत् भी सिमट कर उसके कारण अज्ञान में लीन हो जाता है। पश्चात् अज्ञान के असत् होने के कारण वह भी नहीं रह जाता है, तब शुद्ध अनुपहित ब्रह्म ही अपने विशुद्ध चैतन्य रूप में शेष रह जाता है।

सांख्य दर्शन की सृष्टि-प्रक्रिया का अद्वैत-वेदान्त की सृष्टि-प्रक्रिया के आधार पर समीक्षात्मक अध्ययन के पश्चात् यह दृष्टि गोचर होता है कि दोनों ही दर्शनों की सृष्टि से सम्बन्धित तथ्यों में कुछ तो सामानता है तथा कुछ भिन्नता भी है। जैसे दृ दोनों ही की सृष्टि-प्रक्रिया का उपादान कारण 'एक' तथा 'त्रिगुणात्मक' होने से तो दोनों में समानता है, किन्तु जड़ एवं चेतन के भेद से भिन्नता भी है। दोनों की सृष्टि के प्रयोजन एवं सृष्टि-प्रक्रिया भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु तत्त्वों की स्वीकृति, उत्पत्ति एवं कार्यों की दृष्टि से समानता भी है एवं भिन्नता भी है। जैसे — सांख्य दर्शन तीन अन्तःकरण, बुद्धि, अहंकार एवं मन को स्वीकार करता है, जबकि अद्वैत-वेदान्त केवल दो अन्तःकरण, बुद्धि एवं मन को स्वीकार करता है तथा चित्त एवं अहंकार को इन्हीं बुद्धि एवं मन में अन्तर्भूत मानता है। इस प्रकार बुद्धि एवं मन की स्वीकृति पर समानता तथा अहंकार एवं चित्त की स्वीकृति पर भिन्नता है। सांख्य दर्शन में बुद्धि प्रकृति के कार्य एवं अहंकार के कारण के रूप में स्वीकृत है, जबकि

अद्वैत-वेदान्त में बुद्धि, आकाशादि सूक्ष्म भूतों के सात्विक अंश के सम्मिलित रूप का कार्य मात्र है। पंचज्ञानेन्द्रियाँ, पंचकर्मेन्द्रियाँ, पंचप्राण, पंचमहाभूत की स्वीकृति के भेद से दोनों में सामानता है, परन्तु उत्पत्ति के भेद से भिन्नता है। पंचतन्मात्राओं की संख्या के प्रसंग में दोनों में समानता है, लेकिन तत्त्व की दृष्टि से भिन्नता है, क्योंकि सांख्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध को तन्मात्र कहता है, तो वहीं अद्वैत आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी इन सूक्ष्म भूतों को तन्मात्र कहता है। सूक्ष्म शरीर में तत्त्वों की संख्या से भिन्नता है, लेकिन दोनों का आधार स्थूल शरीर होने से समानता भी है। इसी प्रकार सृष्टि के प्रकार भेद से भिन्नता तथा संख्या भेद से समानता है, क्योंकि सांख्य दर्शन को सूक्ष्म, भाव एवं भौतिक ये तीन प्रकार की सृष्टि स्वीकार्य हैं, जबकि अद्वैत-वेदान्त कारण, सूक्ष्म एवं स्थूल ये तीन प्रकार की सृष्टि स्वीकार करता है।

इस प्रकार समानता और भिन्नता की दृष्टि से सांख्य दर्शन की सृष्टि-प्रक्रिया की समीक्षा, विविध भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के आधार पर करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि सभी दर्शनों की सृष्टि-प्रक्रिया अपने-अपने तत्त्वमीमांसीय स्वरूप के आधार पर उचित हैं परन्तु अद्वैत-वेदान्त एवं सांख्य दर्शन की सृष्टि-प्रक्रिया सर्वाधिक सुव्यवस्थित, सुसंगत एवं वैज्ञानिक प्रतीत होती हैं। फिर भी यदि इन दोनों ही दर्शनों की सृष्टि-प्रक्रिया का भौतिक विज्ञान की दृष्टि से अवलोकन किया जाये, तो यह निष्कर्ष निकलेगा कि अद्वैत-वेदान्त की सृष्टि-प्रक्रिया का उपादान कारण 'चैतन्य' होने से तथा सृष्टि को परमार्थतः सत्य न मानकर केवल व्यावहारिक रूप में ही सत्य मानने से, यह भौतिक विज्ञान की सृष्टि-प्रक्रिया के समीप प्रतीत नहीं होती, जबकि सांख्य दर्शन की सृष्टि-प्रक्रिया का उपादान कारण 'जड़' होने से तथा सृष्टि को वस्तु रूप में सत्य मानने के कारण, यह भौतिक विज्ञान की सृष्टि-प्रक्रिया के अत्यन्त समीप प्रतीत होती है, क्योंकि वर्तमान भौतिक विज्ञान भी जड़ के पदों में ही सृष्टि की व्याख्या प्रस्तुत करता है और जगत् को वस्तुरूप में सत्य भी स्वीकार करता है। सांख्य दर्शन एवं भौतिक विज्ञान दोनों ही विकासवाद को भी स्वीकार करते हैं इसलिए भी दोनों में अत्यधिक साम्यता प्रतीत होती है। यही साम्यता ही सांख्य दर्शन की सृष्टि-प्रक्रिया की प्रासंगिकता का प्रतीक है।

सन्दर्भ —

1. (क) ऋग्वेद — 10/90
(ख) यजुर्वेद — 31
(ग) अथर्ववेद — 19/6
2. ऋग्वेद — 10/121
3. वही — 10/129
4. वही — 10/129/1-3
5. वही — 10/129/4-5
6. वही — 10/190/1-3
7. मिश्र, हृदय नारायण, भारतीय दर्शन, पृष्ठ — 60
8. बृहदारण्यकोपनिषद् — 5/1
9. कठोपनिषद् — 2/5
10. छान्दोग्योपनिषद् — 6/2/3
11. श्वेताश्वतरोपनिषद् — 1/2
12. महाभारत — 12/232/1-7
13. वही — 10-11
14. वही — 12/310/5-6
15. वही — 12/310/16-25
16. भागवतपुराण — 2/5/21-31
17. वही — 32-39
18. अग्निपुराण — 20/1-6
19. चरकसंहिता — 1/1/66-67
20. सुश्रुतसंहिता — 3/1/3-4
21. वही — 3/1/5-7
22. पाठक, सर्वानन्द, चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा, पृष्ठ — 119
23. उपाध्याय, बलदेव, भारतीय दर्शन, पृष्ठ — 78
24. वही, पृष्ठ — 11

25. तत्त्वार्थसूत्र – 5/24
26. 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्', वही – 5/29
27. गोपालन, एस., जैनदर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ – 110–111
28. 'गुणपर्ययवत् द्रव्यम्', तत्त्वार्थसूत्र – 5/38
29. गोपालन, एस., जैनदर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ – 128–129
30. दासगुप्त, एस. एन., भारतीय दर्शन का इतिहास (भाग –1), पृष्ठ – 169
31. गोपालन, एस., जैनदर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ – 36–37
32. हिरियन्ना, एम., भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ – 147
33. उपाध्याय, बलदेव, बौद्ध दर्शन, पृष्ठ – 281
34. नरेन्द्रदेव, बौद्धधर्म–दर्शन, पृष्ठ – 323
35. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन (भाग –1), पृष्ठ – 527
36. उपाध्याय, बलदेव, बौद्ध दर्शन, पृष्ठ – 175
37. न्यायसूत्र – 4/2/17
38. वात्स्यायनभाष्य, न्यायसूत्र – 4/2/16
39. तर्कभाषा, पृष्ठ – 208
40. देवराज, नन्दकिशोर, भारतीय दर्शन, पृष्ठ – 295
41. वैशेषिकसूत्र – 5/2/17
42. सम्बन्धोपपरिहारवाद, श्लोकवार्तिक – 1/3
43. मीमंसासूत्र – 3/8/1–4
44. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन (भाग –2), पृष्ठ – 414
45. मीमंसासूत्र – 2/1/5
46. 'फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत् परिमाणतः फलविशेषः स्यात्', वही – 1/2/17
47. वेदान्तसार – 12
48. वही – 18
49. ब्रह्मसूत्र – 2/1/33
50. तैत्तिरीयोपनिषद् – 3/1
51. वेदान्तसार – 19
52. वही – 20

53. वही — 21
54. वही — 22
55. वही — 24
56. वही — 25
57. पंचदशी — 1/27
58. वेदान्तसार — 30
59. वही — 31
60. वही — 32
61. सांख्यसूत्र — 1/61
62. सांख्यकारिका — 3
63. वही — 21
64. वही — 22
65. वही — 23
66. माटरवृत्ति, कारिका — 22
67. वही — 23
68. गौडपादभाष्य, कारिका — 22
69. वही — 23
70. सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका — 23
71. सांख्यकारिका — 24
72. वही — 25
73. माटरवृत्ति, कारिका — 24
74. वही — 22
75. वही — 24
76. वही — 25
77. गौडपादभाष्य, कारिका — 22
78. वही — 25
79. वही — 26
80. सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका — 24

81. वही — 26
82. वही — 28
83. सांख्यकारिका — 26
84. वही — 28
85. माटरवृत्ति, कारिका — 26
86. सांख्यकारिका — 27
87. माटरवृत्ति, कारिका — 27
88. गौडपादभाष्य, कारिका — 27
89. वही — 33
90. वही — 35
91. सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका — 27
92. सांख्यकारिका — 33
93. वही — 35–37
94. माटरवृत्ति, कारिका — 33
95. वही — 32
96. वही — 35
97. वही — 36
98. वही — 37
99. सांख्यकारिका — 38
100. माटरवृत्ति, कारिका — 38
101. वही
102. गौडपादभाष्य, कारिका — 38
103. वही — 39
104. वही — 40
105. वही — 43
106. वही — 40
107. वही — 42
108. सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका — 38

109. वही
110. वही — 39
111. सांख्यकारिका — 40–42
112. सांख्यकारिका वही — 46–47
113. वही — 53–54
114. बुद्धचरितम् — 3/48–52
115. पाठक, सर्वानन्द, चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा, पृष्ठ — 191
116. सांख्यसूत्र — 3/4
117. सांख्यकारिका — 56
118. हिरियन्ना, एम., भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ — 244
119. दासगुप्त, एस. एन., भारतीय दर्शन का इतिहास (भाग —1), पृष्ठ — 332
120. 'एते स्मृता विशेषाः शान्ताः, घोराश्च, मूढाश्च', सांख्यकारिका — 38
121. न्यायसूत्र — 4/1/191
122. शांकरभाष्य, ब्रह्मसूत्र — 1/4/28
123. सांख्यकारिका — 23
124. विवेक-चूड़ामणि — 95
125. सांख्यकारिका — 24
126. वही — 25
127. वेदान्तसार — 20
128. सांख्यकारिका — 27
129. पंचदशी — 1/20
130. सांख्यकारिका — 26
131. वही — 28
132. वही — 26
133. वही — 28
134. वेदान्तसार — 19
135. सांख्यकारिका — 29
136. विवेक-चूड़ामणि — 97

137. सांख्यकारिका — 40
138. पंचदशी — 1/23
149. गौडपादभाष्य, कारिका — 54
140. वेदान्तसार — 35
-

षष्ठ अध्याय

बन्धन एवं कैवल्य

‘बन्धन’ शब्द का सामान्य अर्थ ‘बंधना’ होता है। भारतीय दार्शनिकों के परिप्रेक्ष्य में बन्धन से आशय ‘आत्मतत्त्व’ का कर्मफलजन्य भोगों में ‘आसक्ति’ है। आसक्ति का कारण विवेक ज्ञान का न होना या अविवेक है। सामान्यतः व्यक्ति अविवेक के कारण ही आत्मा को शरीर मान लेता है और विषय-भोगों के पीछे भागता रहता है। व्यक्ति जब तक विषयों के पीछे भागता रहता है, तब तक जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है।

‘कैवल्य’ शब्द का सामान्य अर्थ केवल या अलग होना होता है। भारतीय दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में ‘कैवल्य’ का आशय समाधि की चरम अवस्था या उसके फल से है। दर्शनान्तरों में ‘कैवल्य’ के लिए ‘निर्वाण’ या ‘मोक्ष’ शब्द का प्रयोग मिलता है। वेदान्त में कैवल्य को ‘आत्मज्ञान’, ‘ब्रह्मज्ञान’ या ‘मोक्ष’ इन पारिभाषिक शब्दों से कहा जाता है। आत्मा की त्रिगुणात्मक प्रकृति के विकारभूत स्थूल, सूक्ष्म कारण आदि और तज्जन्य दिव्यादिव्य उपभोग से छूटकर अपने चिन्मात्र स्वरूप में अवस्थित होना ही ‘कैवल्य’ कहलाता है। इस अर्थ में ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान, अपवर्ग, निर्वाण, मुक्ति या मोक्ष, कैवल्य के ही समानार्थी कहे जा सकते हैं।

6.1 सांख्येतर भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में बन्धन एवं कैवल्य —

भारतीय दर्शन के प्रत्येक सम्प्रदाय का चरम लक्ष्य ‘दुखों से छुटकारा प्राप्त करना’ है। दुखों से मुक्ति प्राप्त करने के क्रम में भारतीय दार्शनिक ऐसी अवस्था का निर्देश करते हैं, जहाँ पर त्रिविध दुखों का समूल नाश हो जाता है। दुःख नाश की अवस्था को ही भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में मोक्ष, मुक्ति, अपवर्ग एवं कैवल्य आदि कहा जाता है तथा दुखों को भोगना ही बन्धन कहलाता है।

भौतिकतावादी चार्वाक दर्शन के अनुसार पुरुषार्थ चतुष्टय में से केवल काम को ही विशेष महत्त्व देते हैं। चार्वाकों के अनुसार काम्य वस्तु की प्राप्ति न होना ही दुःख है। दुःख का ज्ञान शरीर द्वारा होता है। जैसे — तप्त लोहे से शरीर का जलना, इच्छित वस्तु की प्राप्ति

न होना। आशय यह है कि जब तक शरीर है, तब तक दुःख बने रहते हैं। शरीर का नाश होने पर दुखों का स्वयमेव नाश हो जाता है। चार्वाकों के अनुसार "मरणमेव अपवर्गः"¹ अर्थात् मरण ही अपवर्ग है।

जैन दर्शन के अनुसार 'मोक्ष प्राप्त होने पर आत्मा के पूर्व कर्म क्षीण हो जाते हैं, बन्धन टूट जाते हैं और जीव की ऊपर की ओर जाने की नैसर्गिक प्रवृत्ति होने से इसकी उर्ध्व गति होती है।² जैन दर्शन में मोक्ष का तात्पर्य है — जीव की अजीव से मुक्ति। सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चरित्र, इन त्रिरत्नों का पालन करने पर बन्धन के कारणों का अभाव हो जाता है एवं संचित कर्मों के निर्जरा होने से समस्त कर्मों का समूल उच्छेद होने पर जीव को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। मोक्ष की अवस्था में आत्मा के गुण स्वाभाविक दशा में आ जाते हैं।

'सर्वमनित्यं, सर्वमनात्मं, निर्वाणं शान्तम्' की त्रि-सूत्रीय शिक्षा पर आधारित बौद्ध दर्शन के अनुसार इस जगत् में निर्वाण ही एक मात्र प्राप्त करने योग्य है, इसके अतिरिक्त समस्त जगत् अनित्य एवं क्षणभंगुर है। अनित्य एवं क्षणभंगुर वस्तुओं से अल्प समय के लिये ही आनन्द प्राप्त होता है, लेकिन वस्तुओं की अनित्यता से अन्ततः दुःख ही प्राप्त होता है। आष्टांगिक मार्ग के पालन द्वारा दुखों की निवृत्ति सम्भव होती है और यही दुःख निवृत्ति बौद्ध दर्शन के अनुसार 'निर्वाण' या कैवल्य है।

नैयायिकों के अनुसार सभी प्रकार के दुखों का नाश हो जाना ही 'अपवर्ग' है। दोष और मिथ्या ज्ञान बन्धन का कारण हैं और बन्धन से ही दुःख प्राप्त होता है। इसलिए दोष और मिथ्या ज्ञान के दूर होते ही अपवर्ग प्राप्त होता है। न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन के अनुसार तत्त्वज्ञान के द्वारा मिथ्या ज्ञान का नाश हो जाता है। जिसके परिणाम स्वरूप सभी दोष दूर हो जाते हैं। दोषों के समाप्त हो जाने पर कर्म करने की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है, इसी अवस्था को मोक्ष, अपवर्ग या निःश्रेयस कहते हैं।³

अद्वैत-वेदान्त के अनुसार केवल ब्रह्म ही अंतिम रूप से सत्य है। यह जगत् मिथ्या है। जीव और ब्रह्म में भेद नहीं। जीव का अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करना ही मोक्ष है। अद्वैतमत में मोक्ष किसी नवीन वस्तु की प्राप्ति नहीं, बल्कि प्राप्तव्य की ही प्राप्ति है। जीव माया या अविद्या के प्रभाव से मिथ्या संसार को सत् ब्रह्म की भांति मानता है और वस्तुओं के

पीछे भागता हुआ दुखी होता है। मैं और मेरा इस प्रकार से जीव अपने से वस्तुओं का सम्बन्ध बनाता है। वस्तुओं के खोने से, वस्तुओं के टूटने से, नाश होने से जीव को कमी का अनुभव या दुःख होता है। इस दुःख से छुटकारा प्राप्त करने का एक मात्र उपाय अविद्या या माया का निवर्त है। माया या अविद्या का निवारण ब्रह्म ज्ञान के द्वारा होता है। ब्रह्म ज्ञान होते ही 'मैं' और 'मेरा' का अहंकार नष्ट हो जाता है। सब कुछ ब्रह्म मय हो जाता है। ब्रह्म प्राप्ति के लिये जीव का साधन चतुष्टय सम्पन्न होना अनिवार्य है। साधन चतुष्टय सम्पन्न व्यक्ति ही ब्रह्म का अधिकारी है और मोक्ष को प्राप्त करने योग्य है। मोक्ष के स्वरूप को उद्घाटित करते हुये आचार्य शंकर लिखते हैं कि मोक्ष पारमार्थिक, कूटस्थ, नित्य आकाश के सामान सर्वव्यापि और सभी विकारों से शून्य है। वह नित्य तृप्त, अवयवों से रहित, स्वभाव से स्वयं प्रकाश है। वह ऐसी स्थिति है, जहाँ पर पाप और पुण्य अपने फल सहित तीनों कालों में भी नहीं पहुँच सकते। इसके लिये आचार्य श्रुति भी उद्धृत करते हैं, जिसका अर्थ है — जो धर्माधर्म, कार्य—कारण और भूत—भविष्य से भिन्न है।⁴ अतः निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि आचार्य शंकर के अनुसार आत्मा की अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थिति ही 'मोक्ष' है।

इस प्रकार चार्वाक के अतिरिक्त सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय अज्ञान, अविद्या या मिथ्या ज्ञान को 'बन्धन' का कारण मानते हैं और सम्यग्ज्ञान, तत्त्व साक्षात्कार या आत्म ज्ञान को ही अपवर्ग, मोक्ष, निर्वाण या मुक्ति कहते हैं।

6.2 सांख्य दर्शन में बन्धन एवं कैवल्य —

सांख्य दर्शन में 'बन्धन' से आशय पुरुष का प्रकृतिजन्य भोग विषयों में फँसना है। पुरुष अपने निज चैतन्य स्वरूप को भूलकर, जड़ प्रकृति के साथ संयुक्त हो जाता है। यही उसका बन्धन कहलाता है तथा प्रकृति—पुरुष विवेक ही 'कैवल्य' कहा जाता है। आचार्य माठर के अनुसार अतत्त्वज्ञान से बन्ध होता है। तत्त्वज्ञान का विपर्यय अतत्त्वज्ञान है। उसी अतत्त्वज्ञान अर्थात् अज्ञान से पुरुष यह मन लेता है कि 'मैं दर्शनीय हूँ', 'सुन्दर हूँ', 'भोक्ता हूँ' आदि। इस अज्ञान से पुरुष अपने को मनुष्य, देव, तिर्यक योनियों में बाँधता है, मोक्ष को प्राप्त नहीं करता। यह अज्ञान निमित्त है और बन्धन नैमित्तिक है।

6.2.1 बन्धन का स्वरूप —

सांख्य दर्शन के अनुसार अज्ञान के कारण होने वाला बन्धन तीन प्रकार का कहा गया है — प्राकृतिक बन्ध, वैकारिक बन्ध एवं दाक्षणिक बन्ध ।

(क) प्राकृतिक बन्ध —

प्राकृतिक बन्ध का अर्थ है — प्रकृति को ही आत्मा स्वीकार करते हुये, उसकी उपासना करना । माठराचार्य के अनुसार आठ प्रकृतियों में आत्मा का अभिमान करना प्रकृति बन्ध है । जयमंगलाकार के अनुसार जो प्रकृति से श्रेष्ठ किसी अन्य तत्त्व को नहीं स्वीकार करते उनको प्राकृतिक बन्ध होता है । कौमुदीकार का मत उक्त दोनों से कुछ भिन्न है, उनके मत में प्राकृतिक बन्ध उनको प्राप्त होता है, जो प्रकृति को ही आत्मा समझते हुये, उसकी पूजा करते हैं । युक्तिदीपिकाकार के अनुसार वैराग्य से आठ प्रकृतियों में लय को प्राप्त करता है, वही प्रकृतिबन्ध है ।⁵ युक्तिदीपिका में इस बात को भी स्पष्ट किया गया है कि ज्ञान के अविरोधी वैराग्य से प्रकृति लय नहीं होता, अपितु ज्ञान के विपरीत जो तुष्टिकाण्ड अन्तर्गत वैराग्य है, जो प्रकृति आदि में सर्वोत्कृष्टत्व का अभिमानरूप है, वैसे ही वैराग्य से प्रकृतिलय होता है ।⁶

(ख) वैकारिक बन्ध —

सांख्य दर्शन की विकास-प्रक्रिया से प्राप्त पंचमहाभूतों, पंचतन्मात्राओं, इन्द्रियों, अहंकार और बुद्धि इत्यादि, प्रकृति की विकृतियों की पुरुष भाव से उपासना करना ही वैकारिक बन्ध है । आचार्य माठर के अनुसार ब्रह्मादि लोकों को ही मोक्ष समझना वैकारिक बन्ध है । वाचस्पति मिश्र के अनुसार वैकृतिक बन्धन उन्हें प्राप्त होता है जो भूतों, इन्द्रियों, अहङ्कार और बुद्धि इत्यादि प्रकृति की विकृतियों की ही पुरुष भावना से उपासना करते हैं ।⁷ इन्द्रियों के उपासक दश मवन्तरों तक , महाभूत के उपासक सौ मन्वन्तरो तक त्रिविध दुःख से रहित होकर उनमें स्थित रहते हैं, वे ही विदेह कहलाते हैं । जयमंगलाकार के अनुसार जिनके मत में ऐश्वर्य लक्षण वाला पुरुषार्थ ही विकार है, उन विकारवादियों के लिए वही पुरुषार्थ वैकारिक बन्ध कहलाता है । अणिमा, महिमा, लघिमा आदि आठ प्रकार के ऐश्वर्यों को प्राप्त कर लेने पर अपने-अपने विषयों में कोई भी रुकावट उत्पन्न नहीं होती । युक्तिदीपिका के अनुसार इस प्रकार से प्राप्त शक्ति के प्रति जो आसक्ति उत्पन्न होती है, उसे वैकारिक बन्ध कहते हैं ।⁸

(ग) दाक्षिणिक बन्ध —

यज्ञ तथा वापी कूपादि का निर्माण करने से दाक्षिणिक बन्धन प्राप्त होता है। यह बन्धन सांसारिक बन्धनों में श्रेष्ठ है। इस प्रकार अज्ञान बन्धनकारक है — विपर्ययादिष्यते बन्धः । आद्याप्रसाद मिश्र के अनुसार, पुनरपि बन्धन तो है ही यज्ञादि के करने पर भी लोभ, मोहादि विकार वर्तमान रहते ही हैं। जबकि मोक्ष के लिए इनका पूर्णनाश होना आवश्यक है। अतः ये सभी बन्ध कहे गये हैं। माठराचार्य के अनुसार गोदान, यागादिजन्य स्वर्गादि में श्रेयोबुद्धि रखना दक्षिणा बन्ध है। सांख्यतत्त्वकौमुदी के अनुसार दान तथा दक्षिणा देने से तथा इष्ट और पूर्त कर्मों के करने से दक्षिणा बन्धन होता है।⁹ दक्षिणा बन्ध का यही स्वरूप जयमंगला¹⁰ माठर आदि टीकाओं में भी है।¹¹ युक्तिदीपिका में लौकिक एवं वैदिक विषयों की अभिलाषा को राग कहा गया है। जब व्यक्ति लौकिक विषयों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता हुआ, उन्हें प्राप्त करता है और वैदिक विषयों (स्वर्गादि) के लिए अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मविधि के अनुष्ठान से उनको प्राप्त करता है, तो वह दक्षिणा बन्ध है;¹² क्योंकि उनकी कामना से कर्म में प्रवृत्त हुआ व्यक्ति गुणस्वभाव की विचित्रता से अनिष्टफल देने वाले कर्मों को भी करता है। यहाँ ध्यातव्य है कि विषय के प्रति जो राग है, वही संसार का हेतु है। योगी का जो यम, नियम, ध्यानादि अष्टांग योग के प्रति राग है, वह संसार का हेतु नहीं ळे, इसीलिए आचार्य ने 'संसारो भवति रागात्' न कहकर 'संसारो भवति राजसाद् रागात्' कहा है।

6.2.2 बन्धन का कारण —

सांख्य के अनुसार सभी प्रकार के बन्धनों का कारण अविद्या अथवा अविवेक है। सांख्य में सबसे बड़ी अविद्या प्रकृति पुरुष का विवेक न होना है। प्रकृति तथा पुरुष के गुण एवं कार्य पूर्ण रूपेण भिन्न है, पुनरपि अविद्यावश उनको एक दूसरे के स्थान पर समझ लिया जाता है। समस्त सांसारिक पुरुषों का और बुद्धि का परस्पर अनादि सम्बन्ध है। सृष्टि के प्रारम्भ में एक-एक पुरुष के साथ एक एक बुद्धि जुड़ जाती है। अगल तत्त्वों की सृष्टि में प्रत्येक पुरुष के साथ समस्त अन्तःकरण और बाह्यकरण तथा पांचों सूक्ष्म विषय जुड़ जाते हैं। ये सभी मिलकर एक सूक्ष्मशरीर बन जाता है, जिसे लिंग शरीर कहते हैं। एक-एक पुरुष के साथ एक-एक लिंग शरीर चिपका रहता है। वस्तुतः पुरुष अपने स्वभाव से तटस्थ, उदासीन और असम्बद्ध ही होता है। बुद्धि तथा लिंगशरीर और वस्तुएँ हैं और पुरुष भी वस्तु

है। दोनों वस्तुतः परस्पर असम्बद्ध हैं, परन्तु दोनों के बीच में एक अनादि अविवेक विद्यमान रहता है। विवेक विविक्तता अर्थात् सर्वथा पृथक्ता को सिद्ध करता है, परन्तु अविवेक उससे उल्टा कार्य करता हुआ, इन दोनों को परस्पर सम्बद्ध रूप में प्रकट कर देता है। इस तरह से अनादि अविवेक के कारण एक-एक सांसारिक पुरुष एक-एक लिंगशरीर के साथ जुड़ा ही रहता है। उनके इस प्रकार के परस्पर सम्बद्ध के कारण उनका परस्पर बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव का सम्बन्ध प्रकट हो जाता है। बुद्धि जिस तरह से विषय के प्रतिबिम्ब को धारण करती है, उसी तरह से पुरुष के प्रतिबिम्ब को भी धारण कर ही लेती है। उसका फल यह होता है कि बुद्धि के सुख-दुख आदि स्वभावों का सम्बन्ध पुरुष के साथ और पुरुष के चैतन्य का सम्बन्ध बुद्धि के साथ हो जाता है। जिस तरह से दर्पण में जब मुख का प्रतिबिम्ब पड़ जाता है, तो मुख के कान, नाक, आंख, रूप, आकार आदि धर्म दर्पण के स्वभाव जैसे प्रतीत होते हैं और दर्पण यदि लाल या पीला या काला आदि हो तो प्रतिबिम्बित मुख में भी वह-वह वर्ण दिखने लग जाता है। इसी तरह से बुद्धि में प्रतिबिम्बित पुरुष वस्तुतः उदासीन और तटस्थ होता हुआ भी, सुखी, दुखी आदि प्रतीत हो जाता है और बुद्धि जड़ होती हुई भी चेतन जैसी आभासित होने लगती है। ऐसा हो चुकने पर वह चेतन की तरह सारे कार्य करती रहती है। यदि इन दो के ऊपर परस्पर अविवेक का प्रभाव नहीं होता, तो बुद्धि पुरुष के परिणामों को प्रकट ही नहीं करती और वही लिंगशरीर बनकर उससे चिपकी ही रहती, परन्तु अनादि अविवेक के कारण वह पुरुष से चिपकी रहती है और पुरुष भी साक्षी बनता हुआ उसके परिणामों को देखता रहता है।

सांख्यकारिकाकार कहते हैं कि प्रकृति अपने को सप्तरूपों अज्ञान, धर्म, अधर्म, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य आदि से बांधती है और अपने को एक रूप अर्थात् ज्ञान से मुक्त करती है। अज्ञानादि बुद्धि के अष्टभाव या धर्मों का विवेचन इस प्रकार है — अज्ञान, यह प्रकृति का प्रथम विकास बुद्धि के अष्टधर्मों में परिगणित हैं। प्रायः सभी दार्शनिकों ने इसे बन्धन का कारण माना है। यह बुद्धि का तामसिक रूप है। योगसूत्र में अज्ञान की व्याख्या इस प्रकार की गई है — “अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या”¹³ अर्थात् अनित्य में नित्य, अपवित्र में पवित्र, दुःख में सुख और अनात्मा में आत्मा समझना ही अविद्या है। यह अविद्या अनादि है अर्थात् इसे किसी व्यक्ति विशेष समय में उत्पन्न या प्रारम्भ नहीं किया गया है, अपितु यह अनादि काल से चली आ रही है। इस अविद्या से अनेकों प्रकार

के बन्धन तथा उससे असंख्यों प्रकार के अनुभव तथा कार्य निर्मित होते हैं। ये अनुभव विभिन्न प्रकार की वासनाओं तथा जन्म-मरण बन्ध के लिए उत्तरदायी है। इन सभी का सम्मिलित परिणाम दुःख होता है। साथ ही इन सबसे नई अविद्याएँ तथा परिपक्व अविद्याएँ उत्पन्न होती रहती हैं। इस प्रकार यह चक्र सदा चलता रहता है। किसी चक्र के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि कौन प्रारम्भ में है; क्योंकि चक्र में प्रारम्भ की आशा करना व्यर्थ है, इसलिए कि वह सबसे प्रधान है। सभी दार्शनिकों ने इसे चक्र के रूप में ही स्वीकार किया है। बौद्धों में द्वादशांग भवचक्र के अन्तर्गत तो इसे स्पष्ट रूप से ही चक्र स्वीकार किया है। वहाँ भी यद्यपि अविद्या से ही प्रारम्भ किया है तथापि चक्र होने के कारण प्रत्येक के प्रारम्भ से माना जा सकता है। न्याय में भी दुःख, जन्म, प्रवृत्ति इत्यादि का क्रम बताते हुए इसे चक्र ही स्वीकार किया है। योग में भी क्लेश रूपी मूल से जाति, अर्थात् जन्म तथा भोग के उत्पन्न होने की बात कही गई है। यह भी चक्र है, क्योंकि उस भोग से पुनः नवीन तथा परिपक्व क्लेश तैयार होते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि सभी अन्य सभी को जन्म देने के लिए उत्तरदायी है। अविद्या के पाँच भेद इस प्रकार हैं — अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष व अभिनिवेश। अज्ञान या अविवेक के कारण ही पुरुष-प्रकृति से आत्मभेद नहीं कर पाता और प्रकृति के साथ इस प्रकार का संसर्ग या तादात्म्यभाव स्थापित कर लेता है कि प्रकृति को वह अपना ही स्वरूप समझने लगता है। पाप पुण्यादि कर्मों को करने से उस कर्म के संस्कार बनते हैं। तत्पश्चात् विपाकानुभूति और फिर उसके संस्कार वासनारूप से बुद्धि में अवस्थित रहते हैं। कर्म एवं संस्कारों का अनवरत चक्र चलता रहता है, जब तक कि उसके कारणभूत अज्ञान का नाश न हो जाए।

इस प्रकार सांख्य दर्शन के अनुसार बन्धन का कारण अविद्या या अज्ञान ही है। आत्मा के वास्तविक स्वरूप को न जानना ही अज्ञान है। पुरुष अपना वास्तविक चैतन्य स्वरूप को भूल जाता है और स्वयं को प्रकृति या उसका कोई विकार समझने लगता है। यही उसका अज्ञान है। दूसरे शब्दों में कहें तो पुरुष और प्रकृति के बीच विवेक न कर पाना ही अज्ञान है। पुरुष का प्रतिबिम्ब न समझकर, स्वयं के प्रतिबिम्ब के साथ अविवेकपूर्ण तादात्म्य स्थापित कर लेता है। यही उसका बन्धन है। जब पुरुष को बिम्ब और प्रतिबिम्ब के बीच, पुरुष और प्रकृति बीच भेद का ज्ञान हो जाता है, तो वह मोक्ष या कैवल्य प्राप्त कर लेता है। अर्थात् जब पुरुष को यह ज्ञान प्राप्त होता है कि वह पुरुष है, न कि प्रकृति और न उसका कोई

विकार है, तो उसके बन्धन का कारण नष्ट हो जाता है और वह मुक्त हो जाता है, वह स्वयं को अब तक बुद्धि, अहंकार, इन्द्रियां आदि समझ रहा था। उसका यह भ्रम—ज्ञान ही उसके बन्धन का कारण है।

वस्तुतः प्रकृति और पुरुष के बीच संयोग कभी होता ही नहीं है। संयोग की केवल प्रतीति मात्र ही होती है। यह प्रतीति अनादि है। पुरुष प्रकृति का संयोग केवल भ्रम है। जब यह भ्रम दूर हो जाता है, तो उसी क्षण ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है और यह प्रतीति होने लगता है कि दोनों के बीच कभी वास्तविक संयोग था ही नहीं।

6.2.3 कैवल्य का स्वरूप —

कपिल मोक्ष के स्वरूप के विषय में विशेष चर्चा नहीं करते। भगवान् बुद्ध के समान कपिल का भी मुख्य उद्देश्य सांसारिक दुःखों की उत्पत्ति का कारण और उनके निवारण के उपाय बतलाना है, परन्तु इनके शिष्यों ने मोक्ष के स्वरूप के विषय में विचार किया है। बन्धन का एकमात्र कारण यह है कि पुरुष स्वयं के वास्तविक स्वरूप को भूल गया है। वह स्वयं का प्रकृति या उसके विकारों के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। यही उसका बन्धन है।

जब अपने स्वरूप के सम्यक ज्ञान से उसका दोषपूर्ण तादात्म्य समाप्त हो जाता है तो पुरुष तत्क्षण प्रकृति के पंजे से मुक्त हो जाता है। मोक्ष की स्थिति में पुरुष स्वयं को प्रकृति या उसके विचारों से भिन्न, अपने स्वरूप का 'केवल वही अकेला है' ऐसा अनुभव करता है। दोषपूर्ण तादात्म्य समाप्त हो जाने पर केवल अपने ही स्वरूप में स्थित हो जाता है और प्रकृति तथा उसके विकास को तटस्थ भाव से देखता रहता है। अतः मोक्ष की स्थिति को सांख्य में कैवल्य कहा गया है।

पुरुष नित्य मुक्त है, विवेक ज्ञान के उदय के पूर्व भी पुरुष मुक्त ही था। विवेक ज्ञान के उदय होने पर उसे केवल यह ज्ञान होता है कि वह तो कभी बन्धन में पड़ा ही नहीं था, सदैव से मुक्त ही था, परन्तु उसे इस तथ्य का ज्ञान इसलिए नहीं था कि वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूल गया था, और स्वयं को प्रकृति या उसका विकार समझ रहा था। यह भ्रम तथा दोषपूर्ण तादात्म्य ही अज्ञान है, बन्धन है। कैवल्य और कुछ नहीं केवल वास्तविकता का

ज्ञान है। मोक्ष केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही सत्य है। पारमार्थिक दृष्टि से नहीं ...। परमार्थ तो यह है कि पुरुष नित्य मुक्त है। सांख्य के अनुसार पुरुष का मोक्ष उसके कैवल्य ज्ञान में निहित है। यह ज्ञान प्राप्त करना ही उसका मोक्ष है, वह न प्रकृति है और न विकृति है। उसका स्वरूप त्रिगुणातीत है। वह दुःखी तो है ही नहीं, सुखी भी नहीं है; क्योंकि सुख या आनन्द भी प्रकृति का विकार है। कैवल्य या मोक्ष में पुरुष केवल अपने वास्तविक शुद्ध चैतन्य का लाभ लेता है और सभी धर्मों का त्याग कर देता है; क्योंकि सभी प्रकृति के विकार हैं। सांख्य दर्शन का पुरुष मोक्ष की स्थिति में शुद्ध चैतन्य या सर्वज्ञाता का अनुभव करता है। यह उसका अंतःस्थ स्वरूप है। सांख्य के अनुसार आनन्द सत्त्व से उत्पन्न है और सत्त्व गुण प्रकृति का घटक है, अतः पुरुष को उससे भी मुक्त हो जाना चाहिए। सांख्य दर्शन कैवल्य या मोक्ष के दो भेद स्वीकार करता है। प्रथम – जीवन्मुक्ति एवं द्वितीय – विदेहमुक्ति।

(क) जीवन्मुक्ति –

सांख्य दर्शन के अनुसार जीवन के रहते हुये भी मुक्ति प्राप्ति हो सकती है। सम्यक् ज्ञान एवं धर्म के अनुसार आचरण करने से जीवन के रहते हुये भी मुक्ति प्राप्ति हो जाती है, सांख्य दर्शन में इस अवस्था को जीवन्मुक्ति कहा गया है। जहाँ व्यक्ति मुक्त होने पर भी शरीर में रहते हुये लोक कल्याण के कार्यों में संलग्न रहता है।

आचार्य माटर के अनुसार तत्त्वज्ञान प्राप्त पुरुष एक प्रकार से जीवन्मुक्त अर्थात् जीता हुआ ही या शरीर को धारण करता हुआ ही मुक्त हो जाता है। वह प्रकृति एवं प्रकृति जन्य बुद्धि, अहंकार, मन, इंद्रिय एवं शरीर आदि से अपने को विविक्ररूप से देखता रहता है और फलतः धर्मादि उसको आगे के फल देने के कारण नहीं बनते, उसे केवल तब तक शरीर धारण किये रहना है तथा फलों को निरपेक्ष प्रेरक के समान देखते रहना या भोगते रहना है, जब तक कि प्रारब्ध कर्मों के अर्थात् उन कर्मों, जिनके फल का भोग वर्तमान शरीर के धारण आदि के रूप में प्रारम्भ हो चुका है और उसके संस्कार पूर्णतः समाप्त नहीं हो जाते और क्लेशरूपी जल से सिक्त बुद्धिरूपी भूमि में ही कर्मरूप बीज से अहंकार उत्पन्न होते हैं तथा निदान रूप विवेक ज्ञान से जलरूप क्लेश का पूर्ण शोषण कर दिए जाने पर शुष्क बुद्धि रूपी भूमि में कर्म बीज अंकुरित होने में असमर्थ रहते हैं। तत्त्वज्ञान से सम्पूर्ण संचित कर्मों का अभाव हो जाता है और वे कर्म, जाति, आयु एवं भोगरूपी विपाक को उत्पन्न करने में असमर्थ

हो जाते हैं। केवल प्रारब्ध कर्मों का सम्बन्ध ही पुरुष के साथ रह जाता है, जिसके फलस्वरूप उसे वर्तमान जन्म तथा इस जन्म के सुख-दुख एवं भोग प्राप्त हुए हैं। इस वर्तमान जीवन के अवशिष्ट संस्कार, भोग से ही क्षीण होंगे, ज्ञान से नहीं। अतः तत्त्वज्ञान या विवेकज्ञान प्राप्त हो जाने पर पुरुष जीवन मुक्त कहा जाता है।

तात्पर्य यह है कि इस जन्म में या पूर्वजन्म में किए गए समस्त कार्य संस्कार रूप से मनुष्य के अंतःकरण में एकत्रित हो जाते हैं। इन्हें संचित कर्म कहते हैं और इन्हीं के बीच में वर्तमान जन्म में जो कार्य फल देने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं, उन्हें प्रारब्ध कर्म कहते हैं और जो वर्तमान समय में किए जा रहे हैं, उन्हें क्रियमाण कर्म कहते हैं। ऐसी स्थिति में तत्त्वज्ञानरूपी अग्नि के उत्पन्न हो जाने पर समस्त पूर्व संचित कर्मों का नाश हो जाता है। प्रारब्ध कर्मों का तो भोग से ही क्षय होता है।

जीवन्मुक्त होने में श्रुति भी प्रमाण है यथा “ब्रह्मैवसन्ब्रह्माप्येति” इत्यादि। सांख्यकारिकाकार का मत है कि सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर, जब धर्म आदि संस्कारों की फलोत्पादकता रूप कारणता नष्ट हो जाती है, तब प्रारब्ध संस्कार के सामर्थ्य से पुरुष शरीर को धारण किए रहता है। जैसे — दण्ड से चलाया गया कुम्हार का चाक, दण्ड चालन के पश्चात् भी पूर्वोत्पन्न वेग से घूमता रहता है, इसी प्रकार संस्कारवश यह शरीर भी चलता रहता है।¹⁴ प्रस्तुत कारिका की वृत्ति में आचार्य माठर का कहना है कि जब पुरुष पंचविंशति तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर लेता है, तब धर्माधर्मादि संस्कार निष्कारण बन जाते हैं, वे पुनः पुनर्जन्म के लिए समर्थ नहीं होते। जैसे — लोक में जले हुए बीज पुनः अंकुर उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते, इसी प्रकार ज्ञानाग्नि से दग्ध धर्माधर्म भी।¹⁵

यदि सम्यक् ज्ञान से ही मोक्ष होता है, तब तो उपदेष्टा जो आचार्य हैं, उन्हें तो सम्यक् ज्ञान है ही, फिर मोक्ष क्यों नहीं होता ? उत्तर “तिष्ठत संस्कारवशात्” इत्यादि से । धर्माधर्मादि को संस्कार कहते हैं, जिसमें तिर्यक्, मनुष्य व देवादि योनियों में शरीरोत्पत्ति होती है। उस धर्माधर्मरूप संस्कार से ही शरीर का ग्रहण होता है। वह संस्कार बिना फल दिए क्षीण नहीं होता, भले ही तत्त्वज्ञान प्राप्त हो चुका हो। अतः संस्कार के क्षीण होने पर ही यह शरीर भी नष्ट होता है। तब निमित्त (संस्कार) के अभाव में शरीर का भी पतन हो जाएगा। जिससे तत्त्वज्ञानी मोक्ष को प्राप्त हो जाएगा, इसलिए समुत्पन्न ज्ञान वाले पुरुष का भी धर्माधर्म

संस्कारवश शरीर विलय नहीं होता। इसमें दृष्टांत देते हैं — चक्रभ्रमवत् इत्यादि। जैसे — घड़े बनाने की इच्छा से कुम्हार चक्के को घुमाता है, घड़े के बन जाने पर फिर कुम्हार स्वस्थ हो विश्राम करता है, परन्तु कुम्हार के व्यापार विरत होने पर भी चक्का घूमता रहता है। कर्मवश इसी प्रकार पूर्वजन्म में किए गए धर्माधर्म संस्कारों के प्रबल होने से अपेक्षा कृत ज्ञान के दुर्बल होने से, तत्त्वज्ञानोत्पन्न हो जाने पर भी विद्वान् चक्र-भ्रम की तरह शरीर धारण किए रहता है।

इस प्रकार जीवन्मुक्ति की अवस्था में क्लेश तथा कर्म की नियुक्ति होने पर भी विद्वान् अर्थात् विवेकी पुरुष जीवित रहता हुआ भी मुक्त हो जाता है। वस्तुतः शरीर मुक्ति के पथ में बाधक नहीं होता है; क्योंकि जीवन्मुक्त शरीर-धारण करते हुए भी शरीर के प्रति अनासक्त हो जाता है। उसके समस्त कर्म ज्ञानाग्नि में भस्म हो जाते हैं।

इस सन्दर्भ में आचार्य गौडपाद दग्धबीज का उदहारण प्रस्तुत करते हैं। जिस प्रकार अग्नि से दग्ध बीज की अंकुरोत्पादक शक्ति नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार विवेकाग्नि से धर्माधर्मादि की सृष्टिरूप अंकुर को उत्पन्न करने की सामर्थ्य दग्ध की जाती है। यह धर्माधर्मविशिष्ट समूह वह कर्माशय प्रचय है, जो अनादि और अनिश्चित काल से चित्तभूमि में पड़ा रहता है।¹⁶

श्रुति स्मृतियों द्वारा यह प्रतिपादित हुआ है कि तत्त्वज्ञान में, प्रारब्धकर्म अर्थात् — जाति, आयु एवं सुख-दुःखादि रूप फल प्रदान करने में संलग्न कर्मों का क्षय करने की सामर्थ्य नहीं है। भोग द्वारा ही प्रारब्ध कर्म का क्षय होता है। इसलिए योगदर्शन में भी अनागत दुःख के नाश की ही बात गई है।¹⁷

जयमंगलाकार के अनुसार विवेकज्ञान से पूर्व संचित कर्मों का अभाव हो जाता है तथा अहं बुद्धि से रहित होकर कार्य से आगामी कर्मबन्ध भी नहीं होता है। इस स्थिति में केवल प्रारब्ध कर्मों का ही सम्बन्ध रह जाता है। जिसके फलस्वरूप वर्तमान कालिक शरीरादि की स्थिति बनी रहती है। ये प्रारब्ध कर्म भोग से क्षीण होते हैं, ज्ञान से नहीं।¹⁸

आचार्य वाचस्पति की दृष्टि में जीवन्मुक्ति का अर्थ है — जीवनकाल में अपवर्ग की प्राप्ति। जीव को ज्यों ही तत्त्वज्ञान का अनुभव होता है अर्थात् — पुरुष और गुण के भेद का

ज्ञान होता है, त्यों ही, वह मुक्त हो जाता है। सांख्यकारिका में कहा गया है कि पुरुष को सम्यग् ज्ञान या तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होने से धर्म आदि के अर्थात् धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य के अकारणत्व अर्थात् — किसी फल को देने के प्रति कारण न रह जाने पर तत्त्वज्ञान प्राप्त पुरुष प्रारब्ध कर्मों के संस्कार के कारण कुम्हार के चाक के घूमने के समान शरीर धारण किए हुए रहता है।¹⁹ दूसरे शब्दों में, प्रारब्ध कर्मों के अनुसार वर्तमान शरीर के धारण करने की जो अवधि पहले से ही नियत कर दी गयी है, तब तक तत्त्वज्ञानी को भी शरीर धारण करना पड़ता है और उन्हीं कर्मों के अनुसार वर्तमान शरीर के द्वारा भोग्य, जो भोग नियत कर दिये गये हैं, वे निरपेक्ष या निर्लिप्त भाव से देखने या भोगने पड़ते हैं। प्रारब्ध कर्मों के संस्कारों के समाप्त हो जाने पर तत्त्वज्ञानी को शरीर (सूक्ष्म एवं स्थूलशरीर) से छुटकारा मिल जाता है। जीवन्मुक्त अर्थात् — जीवित रहते हुए मुक्त व्यक्ति को दुःख नहीं होता, क्योंकि जिसका विपर्यय हो जाता है, उसका जन्म कभी नहीं दृष्टिगोचर होता है। क्लेशकर्म की निवृत्ति हो जाने पर विद्वान् जीवन्मुक्त कहा जाता है।

(ख) विदेहमुक्ति —

सांख्य दर्शन के अनुसार प्रारब्ध के भोग से, कर्मों के द्वारा समुत्पन्न इस देह के नाश हो जाने पर भोगापवर्ग रूप उभयविध पुरुषार्थ के चरितार्थ हो जाने से, प्रकृति के वियोग से, पुरुष एकांतिक तथा आत्यन्तिक परम पुरुषार्थ को प्राप्त करता है, इसे ही विदेह मुक्ति कहा जाता है। इस प्रकार शरीर के नाश हो जाने पर, शब्दादि उपभोग लक्षण और गुणपुरुषान्तरोपलब्धि रूप पुरुषार्थ के चरितार्थ हो जाने पर, प्रधान की निवृत्ति हो जाने पर, जब पूर्वकृत धर्म-अधर्म का क्षय हो जाता है, तो फिर शरीर भी नष्ट हो जाता है। उस शरीर के नष्ट हो जाने पर पूर्वोक्त तत्त्वज्ञान के द्वारा प्रधान निर्मित अभिशेषमय अर्थात् तान्मात्रिक सर्गादि में उत्पन्न यह कारण शरीर भी निवृत्ति हो जाता है। इस शरीर में जो पार्थिव अंश है, वह पृथ्वी में प्रवेश होता है। अन्य अंश उन-उन तत्त्वों में प्रविष्ट हो जाते हैं, जिनके वे अंश हैं।

इस प्रकार विद्वान् शरीरपातानन्तर एकांतिक एवं आत्यन्तिक, उभयविध कैवल्य को प्राप्त करता है। एकांतिक का अर्थ है — अवश्यसम्भावी (निश्चित रूप से) और आत्यन्तिक का अर्थ है, जिसकी पुनरावृत्ति न हो। इस प्रकार एकांतिक तथा तन्मात्रिक तापत्रय के अभाव

से पुरुष कैवल्य को प्राप्त करता है। विज्ञानभिक्षु विदेह मुक्ति को ही वास्तविक मोक्ष मानने के पक्ष में है तथा वे अपने मत की पुष्टि के लिए श्रुतिवाक्य को उद्धृत करते हैं। मुक्त पुरुष का पुनः बन्धन में अनावृत्ति प्रतिपादित की गई है। यदि मुक्त पुरुष का भी बन्धन स्वीकार किया जाएगा तो मुक्ति को पुरुषार्थ मानना व्यर्थ होगा।

प्रारब्ध कर्म का भोग द्वारा क्षय होते ही तत्त्वज्ञानी शरीरबन्धन से सर्वदा के लिए छूट जाता है अर्थात् — मुक्त हो जाता है। शरीर का नाश होने पर पुरुष के प्रति भोगापवर्गरूप प्रयोजन को सिद्ध कर चुकने से प्रधान का अपने व्यापार से पूर्णतया विराम हो जाता है। इस अवस्था में तत्त्वज्ञानी को ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक कैवल्य प्राप्त होता है।²⁰

जयमंगलाकार के अनुसार अवशिष्ट प्रारब्ध कर्मों का भोगपूर्वक क्षय होते ही शरीर व्यापार रुक जाता है और शरीरपात के साथ ही जीवन्मुक्त व्यक्ति विदेहमुक्त हो जाता है। जब तक सूक्ष्म शरीर रहता है, तब दुःखों की निवृत्ति नहीं होती है। प्रत्येक पुरुष के साथ एक सूक्ष्म शरीर स्थायी रूप से जुड़ा रहता है, जिसका अभाव मुक्ति के पश्चात् ही होता है। लिंगशरीर, भौतिक शरीर से अलग हो जाने पर जैसे — पंचमहाभूतों में लय हो जाता है। प्रधान लिंगरूप में परिणत होकर निवृत्त हो जाती है तथा उस निवृत्ति में दोनों प्रकार के ऐकान्तिक और आत्यन्तिक मोक्ष प्राप्त होते हैं।²¹ आत्मज्ञान उत्पन्न होने के कारण अवश्यसम्भावी कैवल्य को ऐकान्तिक कैवल्य तथा उन दोनों के संयोग में प्रयोजन के अभाव में पुनः सृष्टि नहीं होती, यह आत्यन्तिक कैवल्य कहा जाता है।²²

आचार्य वाचस्पति मिश्र के अनुसार विदेहमुक्ति वह मुक्ति है, जो मृत्यु के उपरान्त प्राप्त होती है, इस मुक्ति की प्राप्ति तब होती है, जब पूर्व जन्म के शेष कर्मों के फलों का अन्त हो जाता है। इस अवस्था में स्थूल, सूक्ष्म, सभी शरीरों से सम्बन्ध छूट जाता है और पूर्ण कैवल्य प्राप्त हो जाता है। सांख्यकारिकाकार का भी यही अभिप्राय है। आचार्य शंकर ने भी विदेह मुक्ति को माना है। विदेहमुक्ति में पूर्णरूप से ज्ञानोदय होने पर अज्ञान का नाश हो जाता है तथा अज्ञान के बिना शरीर धारण सम्भव नहीं है। अतः शरीर का पात हो जाता है।

युक्तिदीपिकाकार के अनुसार प्रारब्ध-संस्कारों का भी भोग द्वारा क्षीण हो जाने पर शरीरपात होता है और पुरुष, ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक कैवल्यरूप परम निःश्रेयस् को प्राप्त करता है।²³ इसी अवस्था को विदेहमुक्ति कहा गया है, जिसकी तुलना युक्तिदीपिकाकार बौद्धों

के उपाधि विशेष से रहित निर्वाण स्वरूप अपवर्ग से करते हैं।²⁴ यह अवस्था परब्रह्मरूप, ध्रुव, अमल और अभय की अवस्था है, इसमें सभी गुणधर्मों का तिरोभाव हो जाता है। इस अवस्था को पाकर यति समस्त श्रमों एवं समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है। इसी को प्राप्त करने के लिए ब्रह्मपरायण जन सभी प्रकार के समाजिक एवं पारिवारिक सम्बन्धों को त्यागकर गुरु की सेवा में संलग्न होकर अपने शरीर को वनों में कष्टयुक्त बनाते हैं, कि कैसे भी ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक कैवल्य मिल सके।

जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति भिन्न-भिन्न न होकर अपवर्ग की ही दो अवस्थाएँ हैं। जीवन्मुक्ति की ही विदेहमुक्ति होती है। संस्कारों का क्षय हो जाने पर वर्तमान देह (स्थूल एवं सूक्ष्म) का विनाश हो जाता है और तब पूर्व धर्माधर्म कृतार्थ होकर बुद्धि स्वरूप कारण में लीन हो जाते हैं। शरीर के आरम्भक आकाशादि के अवयव महाभूतों में, महाभूत तन्मात्रों में, इन्द्रियाँ एवं तन्मात्र अहङ्कार में, अहङ्कार बुद्धि में एवं बुद्धि अव्यक्त में लीन हो जाती है। पुरुष के भोगापवर्ग रूप प्रयोजन के कृतार्थ हो जाने पर प्रधान के पूर्णतया निवृत्त हो जाने ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक कैवल्य की प्राप्ति होती है।²⁵

6.2.4 कैवल्य प्राप्ति का उपाय –

सांख्य दर्शन के प्रमुख ग्रन्थ सांख्यकारिका एवं सांख्यसूत्र दोनों का ही आरम्भ दुःख की चर्चा से होता है।²⁶ भगवान् बुद्ध के चार आर्य सत्त्यों में भी प्रथम आर्यसत्य 'सर्व दुःखम्' ही है और दुःख का हेतु (दुःख समुदय), दुःख की निवृत्ति (दुःख निरोध) एवं दुःख निरोधमार्गय ये तीन आर्य सत्य बाद में अनूभूत हुये। चिकित्साशास्त्र सम्मत रोग, निदान, आरोग्य एवं भैषज्य, इन चतुर्व्यूहों की तरह योगसूत्र में भी है; (दुःख), है;हेतु (दुःख का निवारण), हान (दुःखनिवृत्ति) एवं हानोपाय (दुःखनिवृत्ति के उपाय) के रूप में चतुर्व्यूह की चर्चा मिलती है, जिसमें अनागत दुःख को है; (है; दुःखमनागतम्), द्रष्टा और दृश्य के संयोग को है;हेतु (द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो है;हेतुः), संयोग के अभाव को हान (संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्) और विवेकख्याति को हानोपाय (विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः) माना गया है।²⁷ सांख्य दर्शन में भी इसी तरह दुःख 'बन्धन', दुःख का कारण 'अविवेक' तथा दुःख निवृत्तिरूप 'कैवल्य' एवं दुःख निवृत्ति के उपाय के रूप में 'विवेकज्ञान' को विवेचित किया गया है। सांख्य दर्शन के

अनुसार अष्टांग योग का अभ्यास विवेकज्ञान के उदय में सहायक है। अतः 'अष्टांग योग' का अभ्यास करना ही 'कैवल्य' प्राप्ति का उपाय है।

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णन के द्वारा यह ज्ञात होता है कि कैवल्य, मोक्ष, अपवर्ग, निर्वाण एवं मुक्ति, ये सभी शब्द दर्शनान्तरों प्रयुक्त पर्यायवाची हैं और प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय में परम पुरुषार्थ के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उक्तानुसार सांख्य दर्शन में भी कैवल्य प्राप्ति 'पुरुष' का चरम लक्ष्य है और इस चरम लक्ष्य की प्राप्ति प्रकृति-पुरुष विवेक के द्वारा ही सम्भव है।

.....

सन्दर्भ —

1. उपाध्याय, बलदेव, भारतीय दर्शन, पृष्ठ — 78
2. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन (भाग-1), पृष्ठ — 304
3. वात्सायनभाष्य, न्यायसूत्र — 1/1/2
4. शांकरभाष्य, ब्रह्मसूत्र — 1/1/4
5. युक्तिदीपिका, कारिका — 45
6. वही
7. सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका — 44
8. युक्तिदीपिका, कारिका — 45
9. सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका — 44
10. जयमंगला, कारिका — 44
11. माठरवृत्ति, कारिका — 44
12. युक्तिदीपिका, कारिका — 45
13. योगसूत्र — 2/5
14. सांख्यकारिका — 67
15. माठरवृत्ति, कारिका — 67
16. गौडपादभाष्य, कारिका — 67
17. योगसूत्र — 2/16
18. जयमंगला, कारिका — 67
19. सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका — 67
20. सांख्यकारिका — 68
21. जयमंगला, कारिका — 68
22. वही
23. युक्तिदीपिका, कारिका — 68
24. वही
25. वही
26. (क) सांख्यकारिका — 1

(ख) सांख्यसूत्र – 1/1

27. योगसूत्र – 2/16–17, 25–26

.....

उपसंहार

‘सृष्टिशास्त्र’ मनीषियों के चिन्तन का अतीव महत्त्वपूर्ण विषय है। सृष्टिशास्त्र के अन्तर्गत सृष्टि की उत्पत्ति से सम्बन्धित सभी पहलुओं पर विचार—विमर्श किया जाता है। इसी क्रम में मनीषियों के सृष्टि विषयक चिन्तन का आरम्भ इस प्रकार आरम्भ हुआ कि सृष्टि क्या है, इसका आरम्भ कब, क्यों और कैसे हुआ ? इसका कारण क्या है, वह कारण एक है या एक से अधिक कारण हैं ? चिन्तन का यह क्रम प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल तक यथावत् चला आ रहा है। सृष्टि विषयक जो चिन्तन वैदिक काल में दृष्टिगोचर था, वही चिन्तन वर्तमान भौतिक विज्ञान के युग में भी परिलक्षित हो रहा है; क्योंकि वर्तमान भौतिक वैज्ञानिक भी उपरोक्त सृष्टि विषयक जिज्ञासाओं के समाधान में सतत संलग्न हैं।

प्राचीन वैदिक मनीषियों एवं पश्चात्वर्ती मनीषियों द्वारा स्वानुभव एवं स्वमतानुसार विविध तर्कों द्वारा सृष्टि विषयक उपरोक्त जिज्ञासाओं का सुसंगत समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। इस क्रम में उन सभी तत्त्वों एवं तथ्यों का समावेश किया गया है, जो किसी न किसी रूप में सृष्टि—प्रक्रिया से सम्बद्ध हैं। सृष्टि—प्रक्रिया और सृष्टि से सम्बद्ध सभी तत्त्वों से सम्बन्धित निष्कर्ष, शोध—प्रबन्ध के अध्यायों के आधार पर क्रमशः प्रस्तुत है —

प्रथम अध्याय का शीर्षक ‘सांख्य दर्शन का ऐतिहासिक सर्वेक्षण’ है। उक्त शीर्षक के अन्तर्गत सांख्य दर्शन के ऐतिहासिक पक्ष को अग्रलिखित उप—शीर्षकों ‘सांख्य दर्शन का उद्भव एवं विकास’, ‘सांख्य दर्शन के प्राचीन एवं अर्वाचीन आचार्य’ तथा ‘सांख्य दर्शन का प्राचीन एवं अर्वाचीन साहित्य’ के माध्यम से व्यक्त किया गया है।

‘सांख्य दर्शन का उद्भव एवं विकास’ के अन्तर्गत वैदिक साहित्य, महाभारत, गीता, पुराण एवं आयुर्वेदशास्त्र में सांख्य दर्शन के तत्त्वों एवं तथ्यों पर दृष्टिपात किया गया है, जिसके फलस्वरूप यह निष्कर्ष निकलता है कि सांख्य दर्शन के उद्भव के संकेत बीजरूप में वैदिक काल से ही प्राप्त होना आरम्भ हो जाते हैं। उपनिषद् काल तक आते—आते सांख्य दर्शन का वह बीज अंकुरित होकर पादप का रूप धारण कर लेता है। सांख्य दर्शन रूपी पादप उपनिषद् काल से आगे चलकर महाभारत, गीता, पुराण तथा आयुर्वेदशास्त्र तक

आते-आते पल्लवित एवं पुष्पित हो चुका था और सांख्य दर्शन का यह विकसित एवं परिष्कृत रूप ही इसके वर्तमान स्वरूप के अत्यधिक समीप प्रतीत होता है।

‘सांख्य दर्शन के प्राचीन एवं अर्वाचीन आचार्य’ के अन्तर्गत सांख्य दर्शन की आचार्य परम्परा को प्रदर्शित किया गया है। आचार्यों के परिचय के क्रम में अनेक विद्वानों के मतों द्वारा आचार्यों से सम्बन्धित तथ्यों को किया गया है। सांख्य दर्शन के प्रणेता महर्षि कपिल के सम्बन्ध में विद्वानों के अनेक मत हैं। सभी के मतों को जानने के बाद एवं उदयवीर शास्त्री द्वारा उन मतों के निराकारण से यह निष्कर्ष निकलता है कि कपिल एक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं।

‘सांख्य दर्शन का प्राचीन एवं अर्वाचीन साहित्य’ के अन्तर्गत सांख्य दर्शन के साहित्य का परिचय प्रस्तुत किया गया है। जिसके फलस्वरूप यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि सांख्य दर्शन का प्राचीनतम ग्रन्थ षष्टितन्त्र है और उपलब्ध साहित्य में सांख्यकारिका सर्वाधिक प्रमाणिक ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित है।

द्वितीय अध्याय का शीर्षक ‘कार्य-कारणवाद की अवधारणा’ है। जिसके अन्तर्गत सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में प्रचलित कारणतावाद के सिद्धान्तों को दो उप-शीर्षकों ‘सांख्येतर भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में कार्य-कारणवाद की अवधारणा’ तथा ‘सांख्य दर्शन में कार्य-कारणवाद की अवधारणा’ के माध्यम से व्यक्त किया गया है।

अभिव्यक्ति के क्रम में यह बताया गया है कि भारतीय दर्शन में कार्य-कारणवाद के दो मुख्य सिद्धान्त विद्यमान हैं – सत्कार्यवादी एवं असत्कार्यवादी। इन दोनों सिद्धान्तों में भिन्नता इस बिन्दु पर है कि उत्पत्ति के पूर्व कार्य अपने कारण में विद्यमान है अथवा नहीं। सत्कार्यवादी उत्पत्ति के पूर्व कारण में कार्य की सत्ता स्वीकार करते हैं, जबकि असत्कार्यवादी उत्पत्ति के पूर्व कार्य को असत् मानते हैं। असत्कार्यवादियों के अनुसार कार्य एक नवीन सृष्टि है, जो पहले से ही अपने कारण में विद्यमान नहीं रहता है। कार्य उत्पन्न होने से ही अस्तित्व में आता है। इसलिये असत्कार्यवाद को आरम्भवाद भी कहा जाता है। आरम्भवाद के अनुसार उत्पत्ति के पहले यदि कार्य विद्यमान है तो वह अस्तित्वमान होने से पहले से ही ‘उत्पन्न’ है, इसलिये उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। फिर से उसकी उत्पत्ति पुनरुत्पत्ति है, उत्पत्ति नहीं है जो कि व्यर्थ तथा अनावश्यक है। निदानतः कार्य का अस्तित्व उसके उत्पन्न होने से ही

आरम्भ होता है। कार्य एक नवीन सृष्टि है, जो अपने कारण में विद्यमान नहीं है। यदि घड़ा मिट्टी में तथा दही दूध में पहले से ही विद्यमान है, तो कुम्हार को मिट्टी से घड़ा बनाने के लिये मेहनत करने की क्या आवश्यकता है ? यदि कारण में कार्य पहले से ही विद्यमान होता, तो दूध एवं दही में कोई अन्तर नहीं होता और तब दूध का स्वाद दही जैसा ही होता।

भारतीय दर्शन के कुछ सम्प्रदाय आरम्भवाद या असत्कार्यवाद को मानते हैं एवं कुछ सत्कार्यवाद को मानते हैं। हीनयानी बौद्ध दर्शन, वैशेषिक दर्शन, न्याय दर्शन तथा मीमांसा दर्शन के कुछ सम्प्रदाय असत्कार्यवाद या आरम्भवाद को मानते हैं। कार्य-कारणवाद के रूप में असत्कार्यवाद को मानने के उपरान्त भी कारण के भेद से इनमें परस्पर भिन्नता है। हीनयानी बौद्ध मत अनित्य परमाणुकारणवाद या क्षणभंगवाद को स्वीकार करते हैं। वैशेषिक, नैयायिक और कुछ मीमांसक नित्य परमाणुकारणवाद को स्वीकार करते हैं।

‘सत्कार्यवाद’ ‘असत्कार्यवाद’ के विपरीत है। इसके अनुसार कार्य उत्पत्ति के पहले भी अपने कारण में विद्यमान रहता है। कार्य उत्पन्न होने के पहले भी ‘सत्’ है, इसे मानने के कारण इस सिद्धान्त का नाम सत्कार्यवाद है। कारण, कार्य की बीजावस्था है एवं कार्य में भी कारण स्वभावतः विद्यमान रहता है। कार्य कोई नवीन सृष्टि नहीं बल्कि कारण का अवस्था परिवर्तन मात्र है। उत्पन्न होने का अर्थ बिल्कुल नवीन उत्पत्ति नहीं है एवं विनाश का अर्थ ‘सर्वथा विनाश’ नहीं है। उत्पत्ति का अर्थ कारण में बीज रूप से विद्यमान रहने वाले कार्य का व्यक्त रूप में दिखाई देना तथा विनाश का अर्थ उस व्यक्त अर्थ का पुनः कारण में विलीन हो जाना है। सांख्य उत्पत्ति का अर्थ सर्ग के रूप में प्रकट होना तथा विनाश का अर्थ तिरोभाव या लयावस्था के रूप में स्वीकार करता है। कारण एवं कार्य एक ही वस्तु के दो रूप हैं। कारणावस्था अव्यक्त रूप है तथा कार्यावस्था व्यक्त रूप है।

इस स्थल पर सत्कार्यवादियों में भेद उत्पन्न हो जाता है। जो कारण से कार्य के परिवर्तन को वास्तविक या तात्त्विक मानते हैं उन्हें ‘परिणामवादी’ कहा जाता है एवं जो इस परिवर्तन को अवास्तविक या अतात्त्विक (आभासिक) मानते हैं, उन्हें ‘विवर्तवादी’ कहा जाता है। सांख्य-योग और रामानुज वेदान्त परिणामवाद को मानते हैं। जहाँ सांख्य-योग के परिणामवाद का नाम ‘प्रकृति-परिणामवाद’ है वहीं रामानुज वेदान्त ‘ब्रह्मपरिणामवाद’ को स्वीकार करता है। अद्वैत-वेदान्त ‘ब्रह्मविवर्तवाद’ को स्वीकार करता है।

‘परिणामवाद’ और ‘विवर्तवाद’ में मुख्य अन्तर कार्य के स्वरूप के कारण है। जहाँ सांख्य मूल तत्त्व के निरन्तर परिवर्तन एवं विकृति को ‘परिणाम’ की संज्ञा देकर इसे सत् स्वीकार करता है, वहीं अद्वैत-वेदान्त मूल कारण को सदा एक जैसा ही मानता है और कार्य को केवल नाम-रूप के मिथ्या आभास मात्र मानता है, जिसे सत् नहीं कहा जा सकता। सांख्य एवं अद्वैत-वेदान्तियों के कार्य-कारणवाद में समानता ‘कारण’ की एकता को लेकर है। दोनों इस बात में तो सहमत हैं कि सृष्टि का कारण तो एक है किन्तु सांख्य सूक्ष्म अव्यक्त प्रकृति को जगत् के पदार्थों का वास्तविक कारण स्वीकार करता है, जबकि अद्वैत-वेदान्त भी इसका कारण तो ‘ब्रह्म’ को ही स्वीकार करता है किन्तु कार्य को वास्तविक न मानकर प्रतीति स्वीकार करते हुये, जगत् को ब्रह्म की विकृति स्वीकार नहीं करता। सांख्य के लिए कारण एवं कार्य दोनों सत् हैं जबकि अद्वैत-वेदान्त केवल ‘कारण’ को ही सत् मानता है। अतएव कुछ विद्वान् अद्वैत-वेदान्त के कार्य-कारणवाद को सत्कार्यवाद के स्थान पर ‘सत्कारणवाद’ कहना पसंद करते हैं।

उपर्युक्त सभी दार्शनिक सम्प्रदायों के विपरीत चार्वाक दर्शन कार्य-कारणवाद को स्वीकार ही नहीं करता; क्योंकि वह अनुमान को प्रमाण नहीं मानता। चार्वाक दर्शन के अनुसार सृष्टि में विद्यमान् अनुवर्तिता, व्यवस्था एवं वैचित्र्य कारणजन्य नहीं होकर स्वभावजन्य है, इसलिये उसका मत ‘स्वभाववाद’ कहा जाता है।

शोध कार्य के तृतीय अध्याय का शीर्षक ‘सृष्टि-प्रक्रिया के मूल कारण ‘प्रकृति’ की अवधारणा’ है। इस अध्याय में प्रकृति का विवेचन तीन उप-शीर्षकों ‘प्राचीन भारतीय साहित्य में प्रकृति की अवधारणा’, ‘सांख्येतर भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में प्रकृति की अवधारणा’ तथा ‘सांख्य दर्शन में प्रकृति की अवधारणा’ के माध्यम से किया गया है।

‘प्राचीन भारतीय साहित्य में प्रकृति की अवधारणा’ के अन्तर्गत वैदिक साहित्य, महाभारत, गीता, पुराण तथा आयुर्वेदशास्त्र में वर्णित प्रकृति के स्वरूप को निरूपित किया गया है। उपनिषदों में प्रकृति को माया, अव्यक्त, प्रधान आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में एक स्थल पर यह बतलाया गया है कि माया को प्रकृति समझना चाहिए और यह सम्पूर्ण व्यक्त जगत् उसी प्रकृति के ही कार्य-कारण व्यापार से व्याप्त है। (श्वेताश्वतरोपनिषद् – 2/10) इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि प्रकृति और माया दोनों पर्याय

हैं। इसी उपनिषद् में अन्यत्र एक वर्णन मिलता है कि एक अजा (अजन्मा) अर्थात् प्रकृति जो भूत समुदाय की रचना करने वाली है और लाल, सफेद एवं काले रंग वाली है। (श्वेताश्वतरोपनिषद् – 4/5) सांख्याभिमत प्रकृति त्रिगुणमयी है और सफेद, लाल एवं काला ये तीनों रंग क्रमशः सत्त्व गुण, रजो गुण एवं तमो गुण के प्रतीक ही हैं।

महाभारत में प्रकृति को प्रधान, अव्यक्त, त्रिगुणात्मिका आदि नामों से अभिहित किया गया है। वैसे तो सम्पूर्ण महाभारत में ही प्रकृति सहित अन्य सांख्य तत्त्वों की चर्चा है, लेकिन शान्ति पर्व में यह विशेष रूप से वर्णित है। शान्ति पर्व के एक स्थल पर प्रकृति को सर्ग धर्मिणि कहा गया है। अर्थात् – प्रकृति को सृष्टि रचना करने वाली तथा सत्त्व, रजस् एवं तमस् इन तीनों गुणों से युक्त बताया गया है। इन तीनों गुणों की साम्यावस्था को ही प्रकृति कहा जाता है। सृष्टि और प्रलय प्रधान के धर्म हैं और वही प्रकृति बार-बार सृष्टि के क्रम में विकृति को प्राप्त होती है। इसीलिये इसे अक्षर भी कहा जाता है। अक्षर उसे कहा जाता है, जिसका कभी क्षरण न हो अर्थात् जो सदैव एक रूप में नित्य एवं कूटस्थ रहै।

भागवत् पुराण में प्रकृति की परिभाषा करते हुये कहा गया है कि प्रकृति में 'प्र' प्रकृष्ट वाचक है और 'कृति' सृष्टि वाचक है। जो शक्ति सृष्टि में प्रकृष्ट है, वह 'प्रकृति' है। यहाँ पर प्रकृति का वर्णन सांख्याभिमत ही प्रतीत होता है, क्योंकि सांख्य भी प्रकृति को सृष्टि का मूल स्वीकार करता है और यहाँ इस परिभाषा से भी यही अभिप्रेत होता है। विष्णु पुराण में भी प्रकृति की चर्चा करते हुये कहा गया है कि अव्यक्त प्रकृति ही इस जगत् का मूल कारण है और इसी को प्रधान, सूक्ष्म, नित्य एवं सदसदात्मक कहा जाता है। यह वर्णन भी सांख्यानुकूल ही प्रतीत होता है। इसी प्रकार कूर्म पुराण में भी प्रकृति का वर्णन करते हुये कहा गया है कि तेईस तत्त्व प्रकृति के हैं और चौबीसवाँ तत्त्व स्वयं अव्यक्त प्रकृति है, जिसे प्रधान भी कहते हैं, यही इसके लक्षण हैं; क्योंकि प्रकृति अन्य तेईस तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करती है, इसलिये इसका लक्षण प्रधान है।

चरक संहिता में प्रकृति को 'अव्यक्त' पद से संबोधित किया गया है। यहाँ पर अव्यक्त सहित आठ प्रकृतियों और सोलह विकारों का वर्णन किया गया है। चरक के अनुसार प्रकृति सहित कुल चौबीस तत्त्व हैं। यहाँ पुरुष का वर्णन नहीं है। फिर भी पुरुष के अतिरिक्त चौबीस संख्या तो सांख्यानुकूल प्रतीत होती है, लेकिन यहाँ पर पंचमहाभूतों को प्रकृति में शामिल

किया गया है, जबकि सांख्य में महाभूत विकृति में गिने जाते हैं। अतः यह वर्णन सांख्य से भिन्न है।

अद्वैत-वेदान्त सांख्य को अपना प्रधान मल्ल या प्रबल प्रतिद्वंदी स्वीकार करता है। इसका कारण यह है कि सांख्य प्रकृति और पुरुष के द्वैत को मानता है तथा वेदान्त केवल आत्मा (ब्रह्म) को ही एक मात्र सत् मानता है और अन्य सभी दृश्यों को उसी ब्रह्म की माया कहकर संबोधित करता है। इसीलिये वेदान्त में 'प्रकृति' पद को 'माया' अथवा 'अविद्या' पद से संबोधित किया गया है। पंचदशी में प्रकृति को उपर्युक्त दोनों माया तथा अविद्या के भेद से दो प्रकार वाली कहा गया है — "तमोरजस्सत्त्वगुण प्रकृतिर्दिवविधा च सा" (पंचदशी — 1/5) यहाँ पर प्रकृति को सत्त्व, रजस् तथा तमस् तीनों गुणों से युक्त कहा गया है और सांख्य भी प्रकृति को इसी रूप में स्वीकार करता है। साथ यहाँ इसे द्विविध भी कहा गया है। शुद्ध सत्त्व प्रधान प्रकृति को 'माया' तथा मलिन तमस् युक्त प्रकृति को 'अविद्या' कहा गया है।

सांख्य दर्शन में प्रकृति के दो रूपों का वर्णन मिलता है। ये दो रूप व्यक्त एवं अव्यक्त हैं। व्यक्त प्रकृति, अव्यक्त (मूल) प्रकृति का ही कार्य रूप जगत् है। प्रकृति के इन दोनों रूपों की साम्यता एवं विषमता के आधार पर इसके स्वरूप का विवेचन सांख्य दर्शन में किया गया है। व्यक्त एवं अव्यक्त दोनों की विषमता के आधार पर दोनों का स्वरूप एक दूसरे के विपरीत है, जहाँ व्यक्त प्रकृति हेतुमत् मतलब अपने किसी कारण से उत्पन्न अर्थात् कार्य, अनित्य अर्थात् विनाशशील या अपने वर्तमान रूप में हमेशा नहीं रहने वाला, अव्यापक अर्थात् सर्वत्र न रहकर सीमित प्रदेश में रहने वाला, सीमित व्यक्तित्व या रूप वाला, क्रियाओं से युक्त, संख्या में अत्यधिक, अपने वर्तमान रूप में अपने मूलरूप या कारण पर अवलम्बित, अपने मूल रूप की सत्ता का सूचक, सावयव अर्थात् अवयवों या हिस्सों वाला, पराधीन अर्थात् किसी कार्य को उत्पन्न करने में अपने कारण की सहायता की अपेक्षा रखने वाली है, वहीं अव्यक्त अर्थात् व्यक्तित्व या प्रकट रूप से विहीन प्रधान या प्रकृति इसके विपरीत या उल्टा है अर्थात् अहेतुमत् या स्वयं मूल कारण, नित्य, व्यापक, निष्क्रिय या क्रिया विहीन, एक, अनाश्रित या स्वाधार, अलिंग या असूचक, निरवयव एवं स्वतन्त्र है।

इस प्रकार व्यक्त एवं अव्यक्त के वैषम्य के आधार पर दोनों के स्वरूप निरूपण के पश्चात् दोनों के साम्य एवं पुरुष से वैषम्य के आधार पर सांख्य दर्शन में प्रकृति का स्वरूप निरूपण अग्रवत् किया गया है – व्यक्त तथा अव्यक्त ये दोनों ही त्रिगुण अर्थात् सत्त्व, रजस् एवं तमस् य इन तीन गुणों वाले, अविवेकि अर्थात् अविविक्त या संघटित रूप वाले, विषय अर्थात् ज्ञान या अनुभव के द्वारा ग्राह्य, सामान्य, अचेतन तथा पारिणामशील हैं। पुरुष इन दोनों से विपरीत है तथा कुछ गुणों में सामान भी है।

सांख्य दर्शन अव्यक्त प्रकृति की सिद्धि अनुमान प्रमाण के आधार पर प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार भेदों के परिमाण से, भेदों के समन्वय से, शक्ति के अनुसार ही प्रवृत्ति होने से, कारण और कार्य के विभाग से तथा वैश्वरूप के अविभाग से अव्यक्त की सिद्धि होती है।

चतुर्थ अध्याय का शीर्षक 'सृष्टि-प्रक्रिया के साक्षी 'पुरुष' की अवधारणा' है। इस अध्याय के अन्तर्गत पुरुष अर्थात् चैतन्य तत्त्व आत्मा के स्वरूप को तीन उप-शीर्षकों 'प्राचीन भारतीय साहित्य में पुरुष की अवधारणा', 'सांख्येतर भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में पुरुष की अवधारणा' तथा 'सांख्य दर्शन में पुरुष की अवधारणा' के द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

सांख्य दर्शन में 'प्रकृति' और 'पुरुष' दो मूल तत्त्व हैं। जिनमें प्रकृति समस्त जड़ जगत् का उपादान कारण होने से सम्पूर्ण जड़ समुदाय का प्रतिनिधित्व करती है और पुरुष चेतन 'आत्मा' के रूप में प्रतिष्ठित है। अब प्रश्न यह है कि जब सम्पूर्ण सृष्टि-प्रक्रिया का मूल कारण प्रकृति ही है और पुरुष साक्षी मात्र है, तो फिर इस साक्षी मात्र पुरुष को सांख्य दर्शन में स्वीकार करने की क्या आवश्यकता थी ? इसके प्रत्युत्तर में कहा जा सकता है कि यदि साक्षी पुरुष को स्वीकार न किया जाए तो फिर प्रकृति एवं उसका कार्य सम्पूर्ण सृष्टि-प्रक्रिया का उद्देश्य और प्रयोजन क्या रह जाएगा ? अर्थात् कोई भी कार्य सिर्फ अपने लिए नहीं होता उसमें दूसरा भी शामिल होना आवश्यक होता है। जैसे – बाजीगर अपना खेल दिखाए और उस खेल को देखने के लिए दर्शक ही न हों, तो खेल का क्या अर्थ रह जाएगा। ठीक इसी तरह प्रकृति सम्पूर्ण सृष्टि की रचना करे और उसका कोई दृष्टा न हो और न ही कोई भोक्ता, तो उसकी सृष्टि रचना का क्या प्रयोजन होगा ? सांख्य दर्शन के अनुसार सृष्टि का प्रयोजन पुरुष का भोग एवं कैवल्य ही है।

भारतीय प्राचीन मनीषियों के लिए 'पुरुष' अर्थात् 'आत्मा' एक अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं गम्भीर विषय रहा है। वे इसकी उपयोगिता एवं प्रयोजनवत्ता के सम्बन्ध में विचारशील एवं जागरूक थे। यही कारण है कि उन्होंने इस आत्मतत्त्व पर गहन विचार-विमर्श किया है। 'पुरुष' या 'आत्मा' पर विचार-विमर्श के क्रम में सर्वप्रथम भारतीय साहित्य के सर्वप्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद के 'पुरुषसूक्त' में पुरुष के विषय में विमर्श की एक झलक प्राप्त होती है। जहाँ पर पुरुष के स्वरूप को बताते हुये कहा गया है कि विराट् पुरुष के हजार सिर, हजार आँखें एवं हजार पैर हैं, वह भूमि को चारों ओर से घेरकर उससे दस अंगुल अधिक स्थित है।

उपनिषदों में पुरुष या आत्मा विषयक यह विमर्श विभिन्न संवादों एवं आख्यानो के माध्यम से व्यक्त किया गया है। सर्वप्रथम बृहदारण्यकोपनिषद् की चर्चा करते हैं, जहाँ 'आत्मतत्त्व' विषयक अनेक संवाद आते हैं। इसी प्रसंग में प्रथमतः याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद का वर्णन मिलता है, जहाँ मैत्रेयी द्वारा याज्ञवल्क्य से आत्मतत्त्व विषयक प्रश्न पूछा गया। जिसके उसके उत्तर में याज्ञवल्क्य ने कहा कि अरी मैत्रेयी ! यह आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मनन एवं ध्यान करने योग्य है। इस आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन एवं विज्ञान से सब का ज्ञान हो जाता है — "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः ...।"

महाभारत के अनुसार, यह आत्मा स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर एवं कारण शरीर का आश्रय लेने वाला है तथा इन्द्रियों से युक्त होकर संसार के विविध प्रकार के भोगों को भोगता है। इन भोगों को भोगने के लिये इस आत्मा के साथ करण अर्थात् भोग के साधन के रूप में ज्ञान, बुद्धि एवं मन उपलब्ध हैं। इसी क्रम में आगे एक और अन्य मत प्रस्तुत किया गया है कि यह आत्मा दोनों भोंहों के मध्य स्थित होकर उत्तम अथवा अधम बुद्धि को विभिन्न सांसारिक पदार्थों की ओर प्रेरित करता है। अन्य स्थल पर इस आत्मा को सत्त्व, रजस् एवं तमस् इन त्रिगुणों से रहित बताते हुये प्रकृति के विकार रूप कार्यों का द्रष्टा मात्र कहा गया है। साथ ही इसको इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य भी कहा गया है। इसी श्रृंखला में आत्मा के क्षेत्रज्ञ नाम का उपयोग करते हुये इसको साक्षी की संज्ञा भी प्रदान की गई है।

गीता में पुरुष अर्थात् आत्मा को क्षेत्रज्ञ एवं प्रकृति अर्थात् शरीर को क्षेत्र कहा गया है। पुरुष एवं प्रकृति दोनों को ही अनादि भी कहा गया है। पुरुष को भोक्तापन अर्थात् भोगने में हेतु कहते हुये आगे कहा गया है कि प्रकृति में स्थित पुरुष ही प्रकृति से उत्पन्न त्रिगुणात्मक

पदार्थों का भोग करता है और इन त्रिगुणों का संग ही इस पुरुष के अनेक अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण बनता है।

सम्पूर्ण भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय जड़ तत्त्वों से निर्मित देह के साथ चेतना के अस्तित्व को भी देह संचालनार्थ अवश्य ही स्वीकार करते हैं। यह चेतन तत्त्व ही आत्मा के नाम से जाना जाता है। सभी दार्शनिक सम्प्रदाय अपने-अपने सिद्धान्तों के आधार पर इस चेतन तत्त्व को परिभाषित करते हैं।

चार्वाक दर्शन में जीवित शरीर को ही आत्मा माना जाता है। चार्वाक दर्शन में आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता को अस्वीकार किया गया है। चार्वाक आत्मा और शरीर में अभेद स्वीकार करते हैं। चार्वाकों का कहना है कि यह शरीर पृथ्वी, जल, तेज और वायु का संघात है। जिस प्रकार किण्व आदि द्रव्यों में मादक शक्ति नहीं होती, किन्तु उसके विकार (मदिरा) में मादक शक्ति स्वयं उद्भूत हो जाती है, उसी प्रकार पृथिव्यादि चार तत्त्वों के संघातरूप शरीर में चैतन्य रहता है। 'किण्व' एक प्रकार का बीज होता है, जिसका प्रयोग शराब बनाने में किया जाता था। इस प्रकार चार तत्त्वों के संघातरूप शरीर से चैतन्य उत्पन्न होता है और शरीर के नष्ट होने पर चैतन्य भी विनष्ट हो जाता है।

बौद्ध दर्शन में पुरुष, चैतन्य या आत्मा एक नित्य सत्ता नहीं है। बुद्ध के अनुसार आत्मा अनित्य है। आत्मा शरीर एवं मन का योग मात्र है। जब विज्ञानों का निरन्तर प्रवाह होता है तो एक स्थायी सत्ता का भ्रम होता है, जिसे हम पुरुष या आत्मा कह देते हैं। वास्तव में नित्य आत्मा जैसी कोई सत्ता नहीं है। उपनिषदों के आत्मवाद के विरुद्ध बौद्ध दर्शन का यह अनात्मवाद है। बौद्ध दर्शन के अनुसार आत्मा पाँच स्कन्धों का समूह है, ये स्कन्ध रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान है। सभी धर्म कार्य-कारणवाद के अन्तर्गत हैं। बौद्ध दर्शन में कार्य-कारणवाद को प्रतीत्यसमुत्पाद कहते हैं, जो कुछ भी प्रतीत्य समुत्पन्न है, वह अनित्य है।

जैन दर्शन में आत्मा को जीव कहा जाता है। जैन दार्शनिकों का जीव-अजीव सम्बन्धी चित्रण भी रहस्यपूर्ण है। जीव-अजीव अर्थात् जड़ का वर्गीकरण सृष्टि-क्रम में सदा से चलते आये हैं और चलते रहेंगे। इनकी रचना नहीं की गई है। ये सह अस्तित्व से सम्बद्ध हैं। फिर भी ये एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं। जीव भोक्ता है और अजीव या जड़ भोग्य है। जिसमें

चेतना है, वह जीव है। चैतन्यशून्य अजीव या जड़ है। जो अनेक पदार्थों को जानता एवं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करता है, सुख की इच्छा करता है और दुःख से डरता है, उपकार या अपकार की भावना से कोई कर्म करता है और तदनुसार कर्मफल भोक्ता है, वह जीव है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में पुरुष या चैतन्य तत्त्व को आत्मा कहा जाता है तथा इस आत्मा को ज्ञान का अधिकरण कहते हैं। चैतन्य इसका आगन्तुक गुण है। प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष, जीवन, मनोगति, इन्द्रियान्तर विकार, सुख-दुःख, इच्छा, चैतन्य अर्थात् आत्मा के सूचक चिह्न हैं। बुद्धि आदि गुणों का आधार होने के कारण आत्मा द्रव्य है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में आत्मा के दो रूप बतलाये गए हैं दृ परमात्मा और जीवात्मा । परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक और एक है। जीवात्मा अनेक है। प्रत्येक नित्य, स्वतन्त्र और विभु है। न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार प्रत्येक जीवात्मा में अपनी एक अलग विशिष्टता होती है। यह विशिष्टता ही उसे दूसरी आत्मा से भिन्न करती है। जीवात्मा कर्ता, भोक्ता और व्यापक है।

मीमांसा दर्शन में भी चैतन्य तत्त्व पुरुष को आत्मा कहा जाता है। मीमांसा में दो मत प्रचलित हैं। प्रथम मत — प्रभाकर का और द्वितीय मत — कुमारिल का। आत्मा की अनेकता में कुमारिल और प्रभाकर एकमत हैं। दोनों ही आत्मा को ज्ञान का आश्रय मानते हैं। इनकी दृष्टि में आत्मा सर्वगत, व्यापक, विभु और द्रव्य है। आत्मा ही ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है। यह शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि से भिन्न है। यह भोक्ता है और शरीर इसका भोगायतन है। आत्मा के लिए इन्द्रियाँ भोग का साधन हैं। बाहरी पदार्थ और मनोभाव आत्मा के भोग के विषय हैं। जैमिनि ने भी बुद्धि और इन्द्रियों से भिन्न आत्मा को एक विशिष्ट तत्त्व के रूप में ही स्वीकार किया है। आत्मा स्वयंप्रकाश और चेतन है। देह तो अनित्य है और आत्मा नित्य है, देह से यह बिल्कुल भिन्न है।

अद्वैत-वेदान्त के अनुसार आत्मा ही परम तत्त्व है। आत्मा देश, काल और निमित्त से परे है। यह सदा ही एकरस है। यह तर्कातीत एवं स्वयंसिद्ध है। उसे किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं किया जा सकता। आत्मा की सत्ता पारमार्थिक है। यह शुद्ध चैतन्यस्वरूप और नित्य विज्ञानस्वरूप है। यह निष्प्रपञ्च और निर्विकल्प है। यह अनिर्वचनीय और विकल्पातीत है। आत्मा अविकारी और अपरिणामी है। यह नित्य और कूटस्थ है। यह अमात्र और तुरीय है। यह स्वतः सिद्ध और स्वप्रकाश है। यह न तो कर्ता है और न ही भोक्ता है। यह उपाधिशून्य

है। यह जीव से भिन्न और एकाकी है। यह सुख—दुःखादि और पाप—पुण्य से परे है। यह स्वयं प्रकाशमान है। आत्मा विशुद्ध साक्षि चैतन्य है। यह अपनी मायाशक्ति से जगत् प्रपञ्च तथा प्रबुद्ध जीवों के रूप में प्रतीत होता है। विषयी और विषय, ज्ञाता और ज्ञेय, चेतन जीव और जड़ जगत् इसी आत्मतत्त्व के मायाकल्पित आभास मात्र है।

सांख्य दर्शन में पुरुष को साक्षी, मध्यस्थ, द्रष्टा, अकर्ता और भोक्ता कहा गया है। सांख्य दर्शन में पुरुष का स्वरूप प्रकृति के सर्वथा विपरीत माना गया है, क्योंकि प्रकृति को त्रिगुणात्मिका, अविवेकी, विषय, सामान्य, अचेतन और प्रसवधर्मी या परिणामी है। अतः प्रकृति का विरुद्धधर्म होने के कारण पुरुष त्रिगुणातीत, विवेकी, ज्ञाता, विशेष, चेतन और अपरिणामी है।

चार्वाकादि दर्शन जो आत्मा और शरीर को भिन्न न मानते हुये, दोनों को अभिन्न मानते हैं। उनके समक्ष सांख्य दर्शन पुरुष के अस्तित्व की सिद्धि में प्रमाण प्रस्तुत करते हुये कहता है कि पुरुष या आत्मा शरीर से भिन्न होता है; क्योंकि संघात अर्थात् शरीर रूपी पञ्चमहाभूतों का समूह किसी दूसरे के उपभोग के लिये ही होगा, इस कल्पना से, त्रिगुणों के विपर्यय से, अधिष्ठान से, भोक्ता भाव होने से एवं कैवल्य के लिये प्रवृत्ति होने से पुरुष का अस्तित्व सिद्ध है।

सांख्य दर्शन पुरुष बहुत्व अर्थात् प्रत्येक शरीर में पृथक्—पृथक् आत्मा को स्वीकार करता है और पुरुष बहुत्व की सिद्धि में प्रमाण भी प्रस्तुत करता है। सांख्य दर्शन कहता है कि जन्म—मरण और इन्द्रियों के प्रत्येक शरीर में भिन्न—भिन्न होने से, सबकी सब में एक साथ प्रवृत्ति न होने से तथा त्रिगुणों के विपर्यय से भी पुरुष का बहुत्व होना सिद्ध होता है।

पञ्चम अध्याय का शीर्षक 'सृष्टि—प्रक्रिया एवं क्रम—विकास' है। प्रस्तुत अध्याय चार उप—शीर्षकों 'प्राचीन भारतीय साहित्य में सृष्टि—प्रक्रिया एवं क्रम—विकास', 'सांख्येतर भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में सृष्टि—प्रक्रिया एवं क्रम—विकास', 'सांख्य दर्शन में सृष्टि—प्रक्रिया एवं क्रम—विकास' तथा 'सांख्याभिमत सृष्टि—प्रक्रिया की समीक्षा' में विभक्त है। इन उप—शीर्षकों के माध्यम से प्राचीन भारतीय साहित्य एवं समस्त भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में वर्णित सृष्टि—प्रक्रिया एवं क्रम—विकास को प्रस्तुत किया गया है तथा इन्हीं के आधार पर सांख्य दर्शन की सृष्टि—प्रक्रिया की समीक्षा प्रस्तुत की गई है।

प्राचीन भारतीय साहित्य के अन्तर्गत वैदिक साहित्य में वर्णित सृष्टि—क्रम पृथक्—पृथक् प्राप्त होता है। किसी स्थान पर सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम जल से प्रारम्भ है, तो किसी अन्य स्थल पर अग्नि से तथा किसी स्थल पर सृष्टि क्रम वायु से आरम्भ होता है, परन्तु सृष्टि का मूल कारण ब्रह्म को स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार महाभारत तथा पुराणों में भी वर्णन प्राप्त होता है और यहाँ पर भी सृष्टि का मूल कारण ब्रह्म को ही प्रतिपादित किया गया है। चरकसंहिता में अवश्य सांख्य दर्शन की भांति ही सृष्टि का मूल कारण प्रकृति को स्वीकार किया गया है; लेकिन चरक की सृष्टि—प्रक्रिया सांख्य दर्शन के अनुकूल नहीं है, जबकि सुश्रुतसंहिता में वर्णित सृष्टि—प्रक्रिया सांख्य दर्शन के अनुकूल है।

भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में सृष्टि के मूल कारण तथा सृष्टि—क्रम दोनों में ही भिन्नता प्रतीत होती है। चार्वाक दर्शन की जगत् रचना अत्यधिक निराली है। पृथ्वी, जल तेज तथा वायु यही चार जगत् के मूल कारण हैं। बौद्धों के ही समान चार्वाकों का भी मत था कि आवरणाभाव के कारण आकाश शून्य ही है, कोई सत्तात्मक पदार्थ नहीं। ये ही चार पदार्थ अपनी आणविक अवस्था में जगत् के मूलकारण हैं। बाह्य जगत् है इन्द्रियाँ तथा भौतिक शरीर इन्हीं चार मूलभूतों से उत्पन्न होते हैं, पर इनकी उत्पत्ति कैसे होती है ? इसका उत्तर चार्वाक ने कहीं नहीं दिया है। दृष्ट और अदृष्ट कारण के साक्षात् निषेध करने से तथा इस जगत् के किसी चेतन अन्तर्यामी की सत्ता न मानने से यह विश्व चार्वाकों की दृष्टि में अकस्मात् सम्मिलित होने वाले भूतचतुष्टय का एक संग्रहमात्र है। साक्षात् इन्द्रिय सन्निकर्ष से जिसकी प्रतीति होती है, चार्वाक मत में वही सत्य है। अतः चार्वाक के चिन्तन का केन्द्र यह दृश्यमान् भौतिक जगत् ही है। प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत न आने वाले तत्त्वों का अस्तित्व वह स्वीकार नहीं करता।

जैन दर्शन के अनुसार समस्त भौतिक जगत् का ढांचा पुद्गलों से निर्मित है। पुद्गल प्रचयरूप से जड़द्रव्यों का निर्माण करते हैं। इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के गोलक जीवों के शरीर तथा जो भी आकृतिमान् पदार्थ हैं, वे सब पुद्गल हैं। 'पुद्गलास्तिकाय' यह संज्ञा जैन शास्त्र में ही प्रसिद्ध है, अन्य दर्शनों में पुद्गल—स्थानीय तत्त्व को प्रधान, प्रकृति, परमाणु आदि शब्दों से पुकारते हैं। पुद्गल के दो रूप उपलब्ध होते हैं — अणु तथा संघात । पुद्गल के सूक्ष्मतम निरवयव अंश जिनका और सूक्ष्म रूप में विभाजन नहीं किया जा सकता 'अणु' कहलाते हैं। दो या दो से अधिक इन सूक्ष्म अंशों के परस्पर एकत्र होने से संघात बनता है। इन्हीं संघातों

के द्वारा हमारे शरीर तथा उसके भिन्न-भिन्न अंग, मन, प्राण की सृष्टि होती है। सांख्य के समान जैन दर्शन भी जड़ पदार्थ पुद्गल से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं और सांख्य के समान भूत चतुष्टय को स्वीकार करता है, केवल महाभूतों में से आकाश को भौतिक नहीं माना है।

बौद्ध दर्शन के अनुसार जगत् के समस्त पदार्थों की सत्ता क्षणिक है। सम्पूर्ण जगत् प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। नदी के जिस जल में हम एक बार स्नान कर लेते हैं, दोबारा उसी जल में स्नान करना असम्भव नहीं। दीपशिक्षा प्रतिक्षण निकलकर समाप्त हो जाती है और दूसरी लौ उत्पन्न हो जाती है। दूध दुहे जाने के कुछ समय बाद दही बन जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व प्रवाह रूप है, उसमें एक अवस्था की उत्पत्ति होती है और एक अवस्था का लय होता है। किन्तु इस स्थिति में प्रश्न यह उठता है कि 'यह वस्तु वही है जो भूतकाल में थी' वस्तुओं की इस प्रकार की पहचान कैसे हो सकेगी ? उत्तर है कि जिन दो क्षणों में वस्तु का प्रत्यक्ष किया जाता है, उस समय वस्तुएँ मात्र सदृश होती हैं और इस सादृश्य को भ्रमवश तादात्म्य समझ लिया जाता है।

वैभाषिक सम्प्रदाय बाह्य जगत् की सत्ता स्वीकार करता है तथा इसे परमाणुओं का संघात मानता है, जबकि सौत्रान्तिक बाह्य जगत् की सत्ता को मानते हुए भी उसे प्रत्यक्ष का विषय नहीं मानते। उनके मत में बाह्यजगत् की सत्ता प्रत्यक्ष सिद्ध न होकर अनुमानगम्य है, क्योंकि समस्त पदार्थ क्षणिक है, अतः जिस क्षण किसी वस्तु से इन्द्रियों का सन्निकर्ष होता है उस क्षण वह अतीत की वस्तु हो जाती है, केवल विज्ञान शेष रहता है, पदार्थों के विभिन्न चित्र चित्त पर अंकित हो जाते हैं, इन्हीं के द्वारा इनको उत्पन्न करने वाले बाह्य पदार्थों का अनुमान होता है।

विज्ञानवादियों के मत में बाह्य जगत् की सत्ता प्रतीतिमात्र है, क्योंकि बाह्यार्थ की चित्त पर अंकित होने वाले आकारों के ज्ञान के द्वारा ही हम जान पाते हैं। अतः स्पष्ट है कि बाह्यार्थ की सत्ता ज्ञान पर ही अवलम्बित है, इसलिए विज्ञान ही एकमात्र परमार्थ है। विज्ञान के ही सामान्यतः चित्त, मन तथा विज्ञप्ति पर्याय हैं। चित्त एकाकार है, वही इस जगत् में विचित्र रूपों में दिखाई देता है। कभी वह देह के रूप में, कभी भोग के रूप में प्रतिष्ठित रहता है, अतः चित्त की ही वास्तविक सत्ता है, जगत् उसी का परिणाम है।

माध्यमिक सम्प्रदाय को विज्ञान की भी सत्ता स्वीकृत नहीं है। जैसा कि नाम से प्रकट है, माध्यमिक अन्तिम प्रकार की विधि तथा अन्तिम रूप के निषेध के मध्य मार्ग को स्वीकार करते हैं। किसी भी पदार्थ का वर्णन चार प्रकार से हो सकता है — वह 'है' या 'नहीं है' या 'न तो है' और 'न नहीं है', किन्तु वस्तुतत्त्व के विषय में इस प्रकार कुछ भी कहना असम्भव है, वह चतुष्कोटि विनिर्मुक्त है। यदि संसार की सत्ता यथार्थ हो तो उसमें कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए। सभी वस्तुएँ प्रतीत्य समुत्पन्न हैं, अतः उनका वास्तविक अस्तित्व नहीं माना जा सकता। संसार न सत् है, न असत् है, न सदसद् तथा न सदसद्विलक्षण है, बल्कि संसार अनिर्वचनीय है। वस्तु का न तो भाव है न अभाव, इसलिए वह शून्य ही है।

न्यायदर्शन के अनुसार जगत् का मूल कारण परमाणु है। जगत् परमाणुओं से बना हुआ है। कारण रूप है नित्य परमाणुओं से कार्य रूप जगत् की उत्पत्ति होती है। अतः परमाणु जगत् की सृष्टि में मूल (उपादान) कारण हैं, अचेतन परमाणुओं से चेतन जगत् की उत्पत्ति रूप क्रिया किस प्रकार होती है। इस प्रकार की शंका होने पर कहते हैं कि परमाणुओं में क्रिया ईश्वर की इच्छा से होती है, जो प्राणियों के धर्माधर्म रूप कर्मफल को देने के लिए होती है। जब प्राणियों के फलोन्मुख होते हैं, तब अदृष्ट कार्य करता है और परमेश्वर की सिसृक्षा से दो परमाणुओं का संयोग होने पर द्वयणुक बनता है। तीन द्वयणुकों का संयोग होने पर त्रसरेणु, चार त्रयणुकों से चतुरणुक होता है, फिर क्रमशः स्थूल सृष्टि का आविर्भाव होता है। अतः परमाणु सृष्टि उत्पत्ति में मूल कारण है। ईश्वर की इच्छा निमित्त कारण है।

ईश्वर की इच्छा होने पर अदृष्ट की सहायता से परमाणुओं में गति उत्पन्न होती है, जिससे द्वयणुकादि क्रम क्रमशः वायु, जल, तेज और पृथ्वी नामक चार भूतद्रव्यों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार परमाणुओं से समस्त विश्व की उत्पत्ति होती है। चार महाभूतों की उत्पत्ति के बाद ईश्वर के ध्यान मात्र से तैजस् और पार्थिव परमाणुओं के संयुक्त बीज रूप अणु से हिण्यगर्भ और उससे चतुर्मुख ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। यही ब्रह्मा या विश्वात्मा इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति कारण होने से पितामह कहलाए ।

उस महाभाग से बुद्धि (महत्तत्त्व) और तत्पश्चात् अहंकार उत्पन्न हुआ। उसी को मन कहा गया है। महत्तत्त्व और अहंकार जिनको सांख्य तथा योग में प्रकृति का परिणाम माना गया है, न्याय वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त में उन्हें क्षुब्ध प्रकृति का भाग विशेष कहा गया

है। बाद में ईश्वर की इच्छा अहंकार के सत्त्वगुण विशेष भाग से प्रत्येक जीव को एक-एक मन दिया गया। इस प्रकार क्रमशः मनु, ऋषि, पितर, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि विभिन्न कोटि के जीवों की रचना हुई। जीव का यह जो मनुष्य, पशु, पक्षी के रूप में भिन्न-भिन्न शरीर दिखाई दे रहा है। उसका कारण पूर्वजन्म के किए गए धर्माधर्म का परिणाम है। जीवों के पाप पुण्य आदि पूर्व कर्मों के अनुसार ही ईश्वर ने उनको भिन्न-भिन्न शरीर दिये, इसीलिये न्याय में कर्म को उत्पत्ति का हेतु कहा गया है।

न्याय दर्शन के समान ही वैशेषिक दर्शन में भी जगत् की उत्पत्ति में परमाणु मूल कारण स्वीकार किए गए हैं और ईश्वर निमित्त कारण है। सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा होने पर ईश्वर जगत् के नित्य परमाणुओं से अदृष्ट के आधार पर गति उत्पन्न करता है, जिससे दो परमाणुओं का संयोग होने पर द्वयणुक, तीन द्वयणुकों से त्रसरेणु फिर क्रमशः चतुरणुक बनते हैं। इस प्रक्रिया में सर्वप्रथम वायु परमाणुओं के संयोग से वायु महाभूत, तदनन्तर जल परमाणुओं के संयोग से पृथ्वी महाभूत से तेज महाभूत की उत्पत्ति हुई।

वैशेषिक का मत है कि सृष्टि और लय, इन दोनों का आदि अन्त नहीं है। प्रत्येक सृष्टि से पहले लय की अवस्था थी और प्रत्येक लय से पूर्व सृष्टि की अवस्था थी, इसलिए किसी भी सृष्टि-लय को प्रथम या अन्तिम नहीं कहा जा सकता।

मीमांसा दर्शन के अनुसार इस जगत् में नित्य परिवर्तन होता है। इनके अनुसार जगत् की उत्पत्ति और विनाश नहीं होते। केवल व्यक्ति उत्पन्न होते रहते हैं तथा विनाश को प्राप्त करते हैं। इनके अनुसार यदि सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय स्वीकार की जाये, तो एक ही साथ उत्पत्ति और विनाश होगा, जो कि सम्भव नहीं है। जगत् में जो भी परिवर्तन होता है, उसकी प्रेरणा उस समय के जीवों के पिछले कर्मों से मिलती है अर्थात् जगत् की उत्पत्ति का मूल कारण कर्म है।

कर्म से सृष्टि कैसे उत्पन्न होती है ? इसके समाधान हेतु कहा है कि कर्म में विद्यमान शक्ति से ही सृष्टि उत्पन्न होती है। किए गए प्रत्येक कर्म में एक शक्ति होती है, जो कर्मफलों को उत्पन्न करती है। कर्म में इतनी शक्ति है कि वह स्वयं अपनी शक्ति के बल पर फल देने में समर्थ है।

कर्मों से उत्पन्न सृष्टि किस प्रकार की होती है अथवा कर्मों से किन-किन पदार्थों की उत्पत्ति होती है, ऐसी शंका के उत्तर में कहते हैं कि कर्मों से उत्पन्न सृष्टि में इन्द्रियाँ बाहरी वस्तु को प्राप्त करने का साधन बनती है। इन्द्रियों द्वारा जिस रूप में जगत् की प्रतीति होती है, वही सत्य है। संसार में हमें तीन प्रकार की वस्तुओं का ज्ञान होता है। प्रथम – शरीर है, जिसमें रहकर सुख-दुख का अनुभव होता है। द्वितीय – इन्द्रियाँ सुख-दुःख रूप भोग का साधन हैं। तृतीय – भोग विषय अर्थात् पदार्थ हैं। विभिन्न प्रकार के पदार्थों की उत्पत्ति ही सृष्टि है, जिनका भोग शरीर तथा इन्द्रियों की सहायता द्वारा किया जाता है।

इस प्रकार मीमांसा में आत्मा और पदार्थ का उल्लेख करके सृष्टि की सत्ता को तो स्वीकार किया है, लेकिन सृष्टि – प्रक्रिया के क्रम का कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। बाद में टीकाकारों ने भी सृष्टि के कारण विषयक प्रश्नों, कर्म, कर्मफल, आत्मा, पदार्थ आदि का विवेचन तो किया है, लेकिन इन सबके द्वारा सृष्टि किस क्रम से उत्पन्न होती है ? इसका उल्लेख न के बराबर ही है।

अद्वैत-वेदान्त के अनुसार सृष्टि-प्रक्रिया के पूर्व अनादि तत्त्व के रूप में एक मात्र विशुद्ध चैतन्य 'ब्रह्म' तत्त्व ही विद्यमान था। सदानन्द के अनुसार यही विशुद्ध चैतन्य 'ब्रह्म' अज्ञान से उपहित होकर 'ईश्वर' की उपाधि को प्राप्त हुआ और यही उपाधि भूत 'ईश्वर' ही सृष्टि का कारण है। अब यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि यह सृष्टि का उपादान कारण है या निमित्त कारण ? इसका उत्तर है कि आवरण एवं विक्षेप रूप दो शक्तियों से युक्त यह ईश्वर, अपनी चैतन्यता की प्रधानता से तो सृष्टि का निमित्त कारण तथा अपनी उपाधि की प्रधानता से सृष्टि का उपादान कारण होता है। जैसे – मकड़ी अपने जाले के प्रति अपनी चैतन्यता की प्रधानता से निमित्त तथा अपने शरीर की प्रधानता से उपादान कारण होती है। सृष्टि के प्रायोजन के विषय में अद्वैत-वेदान्त का मानना है कि सृष्टि का कोई विशेष प्रयोजन नहीं, अपितु ईश्वर केवल लीला मात्र के लिए ही सृष्टि करता है। यह इसका स्वभाव है, जैसे – मनुष्य के शरीर में श्वास-प्रश्वास चलते रहते हैं। उसी प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति और विनाश होते रहते हैं। महर्षि व्यास कृत ब्रह्मसूत्र "लोकवत्तु लीला कैवल्यम्" से यह बात पूर्णतः पुष्ट हो जाती है। ईश्वर की इस 'सृष्टि' रूपी लीला का आदि एवं अवसान बिन्दु ब्रह्म ही है। इस सम्बन्ध में तैत्तिरीयोपनिषद् की उक्ति द्रष्टव्य है – "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।" (तैत्तिरीयोपनिषद्

— 3/1) अर्थात् निश्चय ही ये सभी प्रत्यक्ष दिखने वाले प्राणी, जिससे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके सहारे जीवित रहते हैं तथा इस लोक से प्रयाण करते हुये जिसमें प्रवेश करते हैं, उसे तत्त्वज्ञान से जानने की इच्छा करो, वही 'ब्रह्म' है। अद्वैत—वेदान्त का सृष्टि विषयक यही मत है।

अद्वैत—वेदान्त के अनुसार सृष्टि का क्रम इस प्रकार है — उपाधि भूत चैतन्य 'ईश्वर' से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। इन आकाशादि पाँचों तत्त्वों में जड़ता का प्राधान्य दिखाई पड़ता है, इसलिये इनके कारण ईश्वर को भी तमोगुण प्राधान्य माना जाता है। सत्त्व, रजस् एवं तमस् ये तीनों ही गुण न्यूनाधिक्य के भेद से ईश्वर में होने के कारण आकाशादि की उत्पत्ति के क्रम से उत्पन्न हो जाते हैं। यही पाँचों सूक्ष्मभूत, तन्मात्र और अपञ्चीकृत भूत कहे जाते हैं। इनसे सूक्ष्म शरीर और स्थूल भूत उत्पन्न होते हैं।

सांख्य दर्शन प्रकृति तथा पुरुष इन दो मूल तत्त्वों को स्वीकार करता है। सृष्टि—प्रक्रिया के पूर्व यही दोनों तत्त्व विद्यमान रहते हैं। जिनमें प्रकृति जड़ तथा परिणामिनी है एवं पुरुष चेतन तथा अपरिणामी है। प्रकृति त्रिगुणात्मक है; सत्त्व, रजस् एवं तमस् ये तीनों गुण प्रकृति के हैं। इन गुणों से अलग प्रकृति कुछ भी नहीं, बल्कि ये तीनों गुण ही प्रकृति हैं। सांख्यसूत्र में कहा गया है कि "सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः" अर्थात् सत्त्व, रजस् एवं तमस् इन्हीं तीनों गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहा जाता है। जब प्रकृति एवं पुरुष का संयोग होता है, तो चेतन पुरुष की सन्निधि से गुणों की साम्यावस्था भंग होने लगती है और इसके परिणाम स्वरूप गुणों में विक्षोभ उत्पन्न हो जाता है। गुण विक्षोभ के कारण प्रकृति में विकार उत्पन्न होने लगता है और यहीं से सृष्टि—प्रक्रिया का शुभारम्भ होता है।

आगे चलकर 'सृष्टि—प्रक्रिया' के क्रम में अव्यक्त प्रकृति से तेईस प्रकार की व्यक्त प्रकृति आविर्भूत होती है। इस प्रकार सांख्य दर्शन में कुल पच्चीस तत्त्व स्वीकृत हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार 'सृष्टि—प्रक्रिया' का निमित्त कारण 'पुरुष' एवं उपादान कारण 'प्रकृति' है तथा यह सम्पूर्ण सृष्टि अव्यक्त प्रकृति का ही परिणाम है। सांख्य दर्शन प्रकृति परिणामवाद को स्वीकार करता है, जो कि विकासवाद का सिद्धान्त है। इस विकासवाद की पृष्ठभूमि में इसका 'सत्कार्यवाद' का सिद्धान्त है, जिसके अनुसार सभी कार्य उत्पत्ति के पूर्व भी अपने कारण में

अव्यक्त रूप में विद्यमान रहते हैं तथा बाद में कार्य रूप में आविर्भूत हो जाते हैं। इसी प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि उत्पत्ति के पूर्व अव्यक्त प्रकृति में विद्यमान रहती है तथा सृष्टि-प्रक्रिया के क्रम में दृश्य जगत् के रूप में प्रकट हो जाती है।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि सृष्टि होती ही क्यों है ? इसका प्रयोजन क्या है ? इस पर सांख्य दर्शन का कहना है कि प्रकृति अचेतन है, किन्तु वह सक्रिय है। जबकि पुरुष चेतन होते हुए भी निष्क्रिय है। सांख्य दार्शनिक पंगु-अन्ध न्याय द्वारा प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध की विवेचना और प्रयोजन सिद्ध करते हैं। इस पंगु-अन्ध न्याय सिद्धान्त द्वारा प्रकृति एवं पुरुष का अंधे एवं लंगड़े की भांति संयोग होता है। यहाँ पर पुरुष को निष्क्रिय होने के 'पंगु' और प्रकृति को अचेतन होने के कारण 'अंध' के रूप में लिया गया है। जिस प्रकार अंधा और लंगड़ा व्यक्ति मिलकर अपना लक्ष्य प्राप्त करते हैं, ठीक उसी प्रकार पुरुष और प्रकृति भी संयोग द्वारा अपना-अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं। पुरुष का प्रयोजन प्रकृति का दर्शन है और प्रकृति का प्रयोजन पुरुष का कैवल्य है। इस प्रकार प्रकृति एवं पुरुष के संयोग से सृष्टि का आरम्भ होता है। सांख्य दर्शन के अनुसार सृष्टि का क्रम-विकास इस प्रकार है — प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से सोलह तत्त्वों का समूह, जिसमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन तथा पाँच तन्मात्रायें सम्मिलित हैं तथा इन सोलह में से भी पाँच तन्मात्राओं से पाँच महाभूत आविर्भूत होते हैं।

तत्पश्चात् इन्हीं आविर्भूत तत्त्वों के आधार पर सांख्य दर्शन तीन प्रकार की सृष्टियों को स्वीकार करता है —

प्रथम — लिङ्ग या सूक्ष्म शरीर — सांख्य दर्शन, तीन अन्तःकरण (बुद्धि, अहंकार, मन), पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (चक्षु, श्रोत, घ्राण, रसन् , त्वक्), पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ) तथा पाँच तन्मात्रायें (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) इन अष्टारह तत्त्वों को सूक्ष्म शरीर के रूप में स्वीकार करता है। यह सूक्ष्म शरीर मूल प्रकृति द्वारा सर्वप्रथम प्रत्येक पुरुष के लिये आविर्भूत किया गया तथा यह मोक्ष पर्यन्त रहता है। इस बीच कई बार स्थूल शरीरों को धारण और त्यागता रहता है। इस सूक्ष्म शरीर को स्थूल शरीर की अपेक्षा रहती है, क्योंकि स्थूल शरीर के बिना यह भोगापवर्ग रुपी पुरुषार्थ में प्रवृत्त नहीं हो सकता। जैसे — बिना

दीवाल के चित्र और खूँटा इत्यादि के बिना छाया नहीं रह सकती, वैसे ही यह सूक्ष्म शरीर बिना स्थूल शरीर के नहीं रह सकता है।

द्वितीय – बौद्धिक सृष्टि – सांख्य दर्शन में, पाँच प्रकार के विपर्यय, अष्टाईस प्रकार की अशक्ति, नौ प्रकार की तुष्टि तथा आठ प्रकार की सिद्धियाँ ये सब मिलाकर पचास प्रकार की बौद्धिक सृष्टि को स्वीकार किया जाता है।

तृतीय – भौतिक सृष्टि – सांख्य दर्शन में चौदह प्रकार की भौतिक सृष्टि को भी स्वीकार किया जाता है। जिनमें आठ प्रकार की देव योनि (ब्राह्म, प्राजापत्य, सौम्य, ऐन्द्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस, पैशाच), पाँच प्रकार की तिर्यक योनि (पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप, स्थावर) तथा एक प्रकार की मनुष्य योनि सम्मिलित हैं। इनमें देव योनि सत्त्व गुण प्रधान, मनुष्य योनि रजो गुण प्रधान तथा तिर्यक योनि तमो गुण प्रधान होती है। यही ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त सृष्टि की स्थिति होती है।

इस प्रकार महत् से लेकर पंचमहाभूतों तकय तत्त्वों के आधार पर तीन प्रकार की सृष्टियों (सूक्ष्म या लिंग सृष्टि, बौद्धिक या भाव सृष्टि एवं भौतिक सृष्टि) का प्रतिपादन सांख्य दर्शन में किया गया है। यह सृष्टि जिस क्रम से आविर्भूत होती है, उसी क्रम से अपने कारण में तिरोभूत हो जाती है। इसी को क्रम-संकोच, सरूप परिणाम, प्रतिसर्ग एवं प्रलय आदि नाम से जाना जाता है। इस प्रलयावस्था में प्रकृति त्रिगुणों की साम्यावस्था में आ जाती है। इस प्रकार पुनः प्रकृति एवं पुरुष दो मूल तत्त्व ही शेष रह जाते हैं।

उपरोक्तानुसार सांख्य दर्शन सहित सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय यथा सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय साहित्य किसी न किसी रूप में सृष्टि उत्पत्ति विषयक विचार अवश्य ही प्रकट करते हैं। उन्हीं विचारों के आधार पर सांख्य दर्शन की सृष्टि-प्रक्रिया की समीक्षा, अद्वैत-वेदान्त की सृष्टि-प्रक्रिया के आधार पर की गई तो, यह दृष्टि गोचर हुआ कि दोनों ही दर्शनों की सृष्टि से सम्बन्धित तथ्यों में कुछ तो सामानता है तथा कुछ भिन्नता भी है। जैसे – दोनों ही की सृष्टि-प्रक्रिया का उपादान कारण 'एक' तथा 'त्रिगुणात्मक' होने से तो दोनों में समानता है, किन्तु जड़ एवं चेतन के भेद से भिन्नता भी है। दोनों की सृष्टि के प्रयोजन एवं सृष्टि-प्रक्रिया भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु तत्त्वों की स्वीकृति, उत्पत्ति एवं कार्यों की दृष्टि से समानता भी है एवं भिन्नता भी है। जैसे – सांख्य दर्शन तीन अन्तःकरण, बुद्धि,

अहंकार एवं मन को स्वीकार करता है, जबकि अद्वैत—वेदान्त केवल दो अन्तःकरण, बुद्धि एवं मन को स्वीकार करता है तथा चित्त एवं अहंकार को इन्हीं बुद्धि एवं मन में अन्तर्भूत मानता है। इस प्रकार बुद्धि एवं मन की स्वीकृति पर समानता तथा अहंकार एवं चित्त की स्वीकृति पर भिन्नता है। सांख्य दर्शन में बुद्धि प्रकृति के कार्य एवं अहंकार के कारण के रूप में स्वीकृत है, जबकि अद्वैत—वेदान्त में बुद्धि, आकाशादि सूक्ष्म भूतों के सात्विक अंश के सम्मिलित रूप का कार्य मात्र है। पंचज्ञानेन्द्रियाँ, पंचकर्मेन्द्रियाँ, पंचप्राण, पंचमहाभूत की स्वीकृति के भेद से दोनों में सामानता है, परन्तु उत्पत्ति के भेद से भिन्नता है। पंचतन्मात्राओं की संख्या के प्रसंग में दोनों में समानता है, लेकिन तत्त्व की दृष्टि से भिन्नता है, क्योंकि सांख्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध को तन्मात्र कहता है, तो वहीं अद्वैत आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी इन सूक्ष्म भूतों को तन्मात्र कहता है। सूक्ष्म शरीर में तत्त्वों की संख्या से भिन्नता है, लेकिन दोनों का आधार स्थूल शरीर होने से समानता भी है। इसी प्रकार सृष्टि के प्रकार भेद से भिन्नता तथा संख्या भेद से समानता है, क्योंकि सांख्य दर्शन को सूक्ष्म, भाव एवं भौतिक ये तीन प्रकार की सृष्टि स्वीकार्य हैं, जबकि अद्वैत—वेदान्त कारण, सूक्ष्म एवं स्थूल ये तीन प्रकार की सृष्टि स्वीकारता है।

शोध कार्य के अन्तिम षष्ठ अध्याय का शीर्षक 'बन्धन एवं कैवल्य' है। इस अध्याय के अन्तर्गत पुरुष के भोग एवं अपवर्ग रूप बन्धन एवं कैवल्य को प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत अध्याय दो उप-शीर्षकों 'सांख्येतर भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में बन्धन एवं कैवल्य' तथा 'सांख्य दर्शन में बन्धन एवं कैवल्य' में विभक्त है।

'बन्धन' शब्द का सामान्य अर्थ होता है — 'बंधना'। भारतीय दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में बन्धन से आशय 'आत्मतत्त्व' का कर्मफलजन्य भोगों में 'आसक्ति' है। आसक्ति का कारण विवेक ज्ञान का न होना या अविवेक है। सामान्यतः व्यक्ति अविवेक के कारण ही सामान्यतः आत्मा को शरीर मान लेता है और विषय—भोगों के पीछे भागता रहता है। व्यक्ति जब तक विषयों के पीछे भागता रहता है, तब तक जन्म—मरण का चक्र चलता रहता है।

'कैवल्य' शब्द का सामान्य अर्थ केवल या अलग होना होता है। भारतीय दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में 'कैवल्य' का आशय समाधि की चरम अवस्था या उसके फल से है। दर्शनान्तरों में 'कैवल्य' के लिए 'निर्वाण' या 'मोक्ष' शब्द का प्रयोग मिलता है। वेदान्त में कैवल्य को

‘आत्मज्ञान’, ‘ब्रह्मज्ञान’ या ‘मोक्ष’ इन पारिभाषिक शब्दों से कहा जाता है। आत्मा की त्रिगुणात्मक प्रकृति के विकारभूत स्थूल, सूक्ष्म कारण आदि और तज्जन्य दिव्यादिव्य उपभोग से छूटकर अपने चिन्मात्र स्वरूप में अवस्थित होना ही कैवल्य कहलाता है। इस अर्थ में ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान, अपवर्ग, निर्वाण, मुक्ति या मोक्ष, कैवल्य के ही समानार्थी कहे जा सकते हैं।

सांख्य दर्शन में ‘बन्धन’ से आशय पुरुष का प्रकृतिजन्य भोग विषयों में फँसना है। पुरुष अपने निज चैतन्य स्वरूप को भूलकर, जड़ प्रकृति के साथ संयुक्त हो जाता है। यही उसका बन्धन कहलाता है तथा प्रकृति—पुरुष विवेक ही ‘कैवल्य’ कहा जाता है। आचार्य माठर के अनुसार अतत्त्वज्ञान से बन्ध होता है। तत्त्वज्ञान का विपर्यय अतत्त्वज्ञान है। उसी अतत्त्वज्ञान अर्थात् अज्ञान से पुरुष यह मान लेता है कि ‘मैं दर्शनीय हूँ’, ‘सुन्दर हूँ’, ‘भोक्ता हूँ’ आदि। इस अज्ञान से पुरुष अपने को मनुष्य, देव, तिर्यक योनियों में बाँधता है, मोक्ष को प्राप्त नहीं करता। यह अज्ञान निमित्त है और बन्ध नैमित्तिक है।

सांख्य दर्शन में बन्धन तीन प्रकार का बतलाया गया है — प्राकृतिक बन्ध, वैकारिक बन्ध एवं दाक्षिणिक बन्ध। प्राकृतिक बन्ध का अर्थ है — प्रकृति को ही आत्मा स्वीकार करते हुये, उसकी उपासना करना। सांख्य दर्शन की विकास प्रक्रिया से प्राप्त पंचमहाभूतों, पंचतन्मात्राओं, इन्द्रियों, अहंकार और बुद्धि इत्यादि, प्रकृति की विकृतियों में ही पुरुष भाव से उपासना करना ही वैकारिक बन्ध है तथा यज्ञ करने तथा वापी कूपादि का निर्माण करने से दाक्षिणिक बन्धन प्राप्त होता है। यह बन्धन सांसारिक बन्धनों में श्रेष्ठ है।

सांख्य के अनुसार सभी प्रकार के बंधनों का कारण अविद्या अथवा अविवेक है। सांख्य में सबसे बड़ी अविद्या प्रकृति पुरुष का विवेक न होना है। प्रकृति तथा पुरुष के गुण एवं कार्य पूर्ण रूपेण भिन्न है, पुनरपि अविद्यावश उनको एक दूसरे के स्थान पर समझ लिया जाता है। समस्त सांसारिक पुरुषों का और बुद्धि का परस्पर अनादि सम्बन्ध है। सृष्टि के प्रारंभ में एक—एक पुरुष के साथ एक एक बुद्धि जुड़ जाती है। अगल तत्त्वों की सृष्टि में प्रत्येक पुरुष के साथ समस्त अन्तःकरण और बाह्यकरण तथा पांचों सूक्ष्म विषय जुड़ जाते हैं। ये सभी मिलकर एक सूक्ष्मशरीर बन जाता है जिसे लिंग शरीर कहते हैं। एक—एक पुरुष के साथ एक—एक लिंग शरीर चिपका रहता है, वस्तुतः पुरुष अपने स्वभाव से तटस्थ, उदासीन और

असम्बद्ध ही होता है। बुद्धि तथा लिंग शरीर वस्तुएँ हैं और पुरुष भी वस्तु है। दोनों वस्तुतः परस्पर असम्बद्ध हैं। परन्तु दोनों के बीच में एक अनादि अविवेक विद्यमान रहता है।

सांख्य दर्शन में कैवल्य या मोक्ष का आशय पुरुष प्रकृति विवेक से है। सांख्य दर्शन कैवल्य या मोक्ष के दो भेद स्वीकार करता है – जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति। सांख्य दर्शन के अनुसार जीवन के रहते हुये भी मुक्ति प्राप्ति हो सकती है। सम्यक् ज्ञान एवं धर्म के अनुसार आचरण करने से जीवन के रहते हुये भी मुक्ति प्राप्ति हो जाती है, सांख्य दर्शन में इस अवस्था को जीवन्मुक्ति कहा गया है। जहाँ व्यक्ति मुक्त होने पर भी शरीर में रहते हुये लोक कल्याण के कार्यों में संलग्न रहता है। सांख्य दर्शन के अनुसार प्रारब्ध के भोग से, कर्मों के द्वारा समुत्पन्न इस देह के नाश हो जाने पर भोगापवर्ग रूप उभयविध पुरुषार्थ के चरितार्थ हो जाने से, प्रकृति के वियोग से, पुरुष ऐकांतिक तथा आत्यन्तिक परम पुरुषार्थ को प्राप्त करता है, इसे ही विदेह मुक्ति कहा जाता है।

सांख्यदर्शन के प्रमुख ग्रन्थ सांख्यकारिका एवं सांख्यसूत्र दोनों का ही आरम्भ दुःख की चर्चा से होता है। भगवान् बुद्ध के चार आर्य सत्यां में भी प्रथम आर्यसत्य 'सर्व दुःखम्' ही है और दुःख का हेतु (दुःख समुदय), दुःख की निवृत्ति (दुःख निरोध) एवं दुःख निरोध मार्ग, ये तीन आर्य सत्य बाद में अनुभूत हुये। चिकित्साशास्त्र सम्मत 'रोग—निदान—आरोग्य एवं भैषज्य, इन चतुर्व्यूहों की तरह योगसूत्र में भी है; (दुःख), है;हेतु (दुःख का कारण), हान (दुःख निवृत्ति) एवं हानोपाय (दुःख निवृत्ति के उपाय) के रूप में चतुर्व्यूह की चर्चा मिलती है, जिसमें अनागत दुःख को है; (है; दुःखमनागतम्), द्रष्टा और दृश्य के संयोग को है;हेतु (द्रष्टृ दृश्ययोः संयोगो हेय हेतुः), संयोग के अभाव को हान (संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्) एवं विवेकख्याति को हानोपाय (विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः) माना गया है। सांख्य दर्शन में भी इसी तरह दुःख 'बन्धन', दुःख का कारण 'अविवेक' तथा दुःख निवृत्ति रूप 'कैवल्य' एवं दुःख निवृत्ति के उपाय के रूप में 'विवेकज्ञान' को विवेचित किया गया है। सांख्य दर्शन के अनुसार अष्टांग योग का अभ्यास विवेकज्ञान के उदय में सहायक है। अतः 'अष्टांग योग' का अभ्यास करना ही 'कैवल्य' प्राप्ति का उपाय बताया गया है।

इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि-प्रक्रिया और उससे सम्बन्धित समस्त तत्त्वों को शोध-प्रबन्ध के अध्यायों के माध्यम से सार रूप में समझा। सांख्याभिमत सृष्टि-प्रक्रिया की समीक्षोपरान्त जो मुख्य निष्कर्ष प्राप्त हुआ है, वह इस प्रकार है —

समानता और भिन्नता की दृष्टि से सांख्य दर्शन की सृष्टि-प्रक्रिया की समीक्षा, विविध भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के आधार पर करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि सभी दर्शनों की सृष्टि-प्रक्रिया अपने-अपने तत्त्वमीमांसीय स्वरूप के आधार पर उचित हैं, परन्तु अद्वैत-वेदान्त एवं सांख्य दर्शन की सृष्टि-प्रक्रिया सर्वाधिक सुव्यवस्थित, सुसंगत एवं वैज्ञानिक प्रतीत होती हैं, परन्तु यदि पुनः इन दोनों ही दर्शनों की सृष्टि-प्रक्रिया का भौतिक विज्ञान की दृष्टि से अवलोकन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि अद्वैत-वेदान्त की सृष्टि-प्रक्रिया का उपादान कारण 'चैतन्य' होने से तथा सृष्टि को परमार्थतः सत्य न मानकर केवल व्यावहारिक रूप में ही सत्य मानने से, यह भौतिक विज्ञान की सृष्टि-प्रक्रिया के समीप प्रतीत नहीं होती, जबकि सांख्य दर्शन की सृष्टि-प्रक्रिया का उपादान कारण 'जड़' होने से तथा सृष्टि को वस्तु रूप में सत्य मानने के कारण, यह भौतिक विज्ञान की सृष्टि-प्रक्रिया के अत्यन्त समीप प्रतीत होती है; क्योंकि वर्तमान भौतिक विज्ञान भी सांख्य दर्शन की भांति ही 'जड़' के पदों में ही सृष्टि-प्रक्रिया की व्याख्या प्रस्तुत करता है और जगत् को वस्तुरूप में सत्य भी स्वीकार करता है। सांख्य दर्शन एवं भौतिक विज्ञान दोनों ही विकासवाद को भी स्वीकार करते हैं, इसलिए भी दोनों में अत्यधिक साम्यता प्रतीत होती है। एक और मुख्य पहलू है, जो सांख्य दर्शन और भौतिक विज्ञान की सृष्टि-प्रक्रिया में साम्यता का बड़ा कारण सिद्ध हो सकता है, वह है — सृष्टि के मूल कारण सत्त्व, रजस् एवं तमस् नामक इन त्रिगुणों से, भौतिक विज्ञान की सृष्टि के मूल कारण प्रोटॉन, इलेक्ट्रॉन एवं न्यूट्रॉन नामक इन अणुत्रयों की समानता। यहाँ पर सत्त्व से प्रोटॉन की, रजस् से इलेक्ट्रॉन की तथा तमस् से न्यूट्रॉन की तुलना की जा सकती है; क्योंकि इनके कार्य-व्यापार के लक्षण भी लगभग समान ही प्रतीत होते हैं। यही साम्यता सांख्य दर्शन की सृष्टि-प्रक्रिया की प्रासंगिकता का प्रतीक है। अतः निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि सांख्य दर्शन की सृष्टि-प्रक्रिया के निष्कर्षों को वर्तमान भौतिक विज्ञान में प्रचलित सृष्टि-प्रक्रिया से सम्बन्धित अनुसन्धानों में प्रयोग में लाया जा सकता है।

उपरोक्त प्रासंगिकता सार्वभौमिक है, इस शोध-कार्य की व्यक्तिगत या व्यवहारिक प्रासंगिकता भी है, क्योंकि इस शोध-कार्य में वर्णित लगभग सभी तत्त्वों का मानव जीवन से सीधा सम्बन्ध है। इन सभी तत्त्वों के लक्षणों के आधार पर इनका अनुभव किया जा सकता है। उदाहरण स्वरूप उपरोक्त वर्णित त्रिगुणों को ही ले लीजिये, मनुष्य का सम्पूर्ण व्यवहार इन्हीं त्रिगुणों के अनुसार संचालित होता है। व्यवहार के अनुरूप इनकी पहचान भी आसानी से की जा सकती है और अपने व्यवहार को नियन्त्रित भी किया जा सकता है, जैसे – शरीर में किसी व्याधि के होने का पता चलने पर उसको परहेज और उपयुक्त औषधि के द्वारा नियन्त्रित किया जाता है।

अब प्रश्न है कि व्यवहार में इनका अनुभव कैसे कर सकते हैं ? इसका उत्तर है कि जब शरीर में सत्त्व गुण का प्रभाव अधिक होता अर्थात् सत्त्व उत्कट होता है और रजस् एवं तमस् न्यून या अभिभूत होते हैं, तब मनुष्य का व्यवहार अत्यन्त शालीन होगा, मन प्रसन्न रहेगा एवं शरीर में स्फूर्ति का अनुभव होगा। जब रजस् उत्कट होगा और सत्त्व तथा तमस् अभिभूत होंगे, तब व्यक्ति के व्यवहार में चञ्चलता एवं उतावलापन दिखाई देगा, मन अप्रसन्न रहेगा तथा शरीर उत्तेजना का अनुभव होगा तथा जब तमस् उत्कट होगा, तब व्यक्ति का व्यवहार उदासीन सा प्रतीत होगा, मन में भारीपन एवं शरीर में आलस्य एवं तन्द्रा का भाव अनुभव होगा।

इस प्रकार उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर त्रिगुणों के प्रभाव को आसानी से अनुभव किया जा सकता है और अपने व्यवहार को भी नियन्त्रित किया जा सकता है। अतः निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि सांख्य दर्शन की सृष्टि-प्रक्रिया की, तत्त्वों के अनुभव के आधार पर व्यक्तिगत अथवा व्यवहारिक प्रासंगिकता भी है।

.....

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

प्राथमिक ग्रन्थ –

- आरण्य, हरिहरानन्द, पातंजल योगदर्शनम्, दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास, 2017
- उप्रेति, थानेशचन्द्र, सांख्यकारिका (माठरवृत्ति), दिल्ली : चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, 2011
- गोयन्दका, हरिकृष्णदास, ईशादि नौ उपनिषद्, गोरखपुर : गीताप्रेस, 2002
- गोविन्दाचार्य, तर्कसंग्रह, वाराणसी : चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 2017
- गौड़, ज्वाला प्रसाद, सांख्यकारिका (गौड़पाद भाष्य), वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन, 2016
- गौड़, ज्वाला प्रसाद, सांख्यतत्त्वकौमुदी, वाराणसी : चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 2017
- तीर्थ, ओमानन्द, पातंजलयोगप्रदीप, गोरखपुर : गीताप्रेस, 2002
- त्रिपाठी, कृष्णमणि. सांख्यकारिका, वाराणसी : चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 2018
- त्रिपाठी, केदारनाथ, युक्तिदीपिका, वाराणसी : सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 2017
- त्रिपाठी, रामशरण, वेदान्तसार, वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन, 2016
- द्विवेदी, शिवप्रसाद, अग्निपुराण, दिल्ली : चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, 2004
- भट्ट, रामेश्वर, मनुस्मृति, दिल्ली : चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, 2015
- भट्टाचार्य, रामशंकर, सांख्यतत्त्वकौमुदी. दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास, 2010
- मिश्र, आद्याप्रसाद, इलाहाबाद : अक्षयवट प्रकाशन, 2015

- मुसलगाँवकर, गजाननशास्त्री, तर्कभाषा, वाराणसी : चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 2017
- मुसलगाँवकर, गजाननशास्त्री, वेदान्तपरिभाषा, वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन, 2015
- मुसलगाँवकर, गजाननशास्त्री. सांख्यतत्त्वकौमुदी, वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत संस्थान, 2016
- मुसलगाँवकर, गजाननशास्त्री, सांख्यदर्शनम्, वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत संस्थान, 2013
- योगीन्द्रनंद, ब्रह्मसूत्रम्, वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन, 2017
- रामकृष्ण, सांख्यतत्त्वकौमुदी, मेरठ : साहित्य भण्डार, 2018
- वेदव्यास, महाभारत, गोरखपुर : गीताप्रेस, 2017
- वेदव्यास, श्रीमद्भगवद्गीता, गोरखपुर : गीताप्रेस, 2002
- वेदव्यास, श्रीमद्भागवतपुराण, गोरखपुर : गीताप्रेस, 2014
- व्यास, रेखा (अनुवादक), यजुर्वेद, दिल्ली : संस्कृत साहित्य प्रकाशन, 2015
- व्यास, रेखा (अनुवादक), सामवेद, दिल्ली : संस्कृत साहित्य प्रकाशन, 2015
- शंकराचार्य, ईशादि नौ उपनिषद्, गोरखपुर : गीताप्रेस, 2017
- शंकराचार्य, छान्दोग्योपनिषद्, गोरखपुर : गीताप्रेस, 2015
- शंकराचार्य, बृहदारण्यकोपनिषद्, गोरखपुर : गीताप्रेस, 2017
- शर्मा, उमाशंकर. सर्वदर्शनसंग्रह, वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन, 2016
- शर्मा, गंगा सहाय (अनुवादक), अथर्ववेद, दिल्ली : संस्कृत साहित्य प्रकाशन, 2015

- शर्मा, गंगा सहाय (अनुवादक), ऋग्वेद, दिल्ली : संस्कृत साहित्य प्रकाशन, 2016
- शास्त्री, अम्बिकादत्त, सुश्रुतसंहिता, वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत सीरीज, 1954
- शास्त्री, उदयवीर, न्यायदर्शनम्, दिल्ली : विजयकुमार गोविन्दराम हासानंद, 2017
- शास्त्री, उदयवीर, ब्रह्मसूत्र (वेदान्तदर्शनम्) दिल्ली : विजयकुमार गोविन्दराम हासानंद, 2017
- शास्त्री, उदयवीर, मीमांसादर्शनम्, दिल्ली : विजयकुमार गोविन्दराम हासानंद, 2018
- शास्त्री, उदयवीर, योगदर्शनम्, दिल्ली : विजयकुमार गोविन्दराम हासानंद, 2018
- शास्त्री, उदयवीर, वैशेषिकदर्शनम्, दिल्ली : विजयकुमार गोविन्दराम हासानंद, 2018
- शास्त्री, उदयवीर, सांख्यदर्शनम्, दिल्ली : विजयकुमार गोविन्दराम हासानंद, 2018
- शास्त्री, जगन्नाथ, सांख्यकारिका (गौड़पाद भाष्य), दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास, 2014
- शास्त्री, दुण्ढिराज, न्यायदर्शनम्, वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत भवन, 2018
- शास्त्री, दुण्ढिराज, वैशेषिकदर्शनम्, वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत संस्थान, 2016
- शास्त्री, शिवनारायण, सांख्यकारिका, वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन, 2014
- शास्त्री, सत्यनारायण, चरकसंहिता, वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन, 1962
- शास्त्री, सीताराम एवं बालशास्त्री, सांख्यकारिका (गौड़पाद भाष्य), वाराणसी : चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 2017
- श्रीवास्तव, सन्तनारायण, सांख्यकारिका, गाजियाबाद : सुदर्शन प्रकाशन, 2006

- षडंगी, सुधांशु कुमार, सांख्यकारिका, वाराणसी : चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 2016
- सरस्वती, जगदीश्वरानन्द, षड्दर्शनम्, दिल्ली : विजयकुमार गोविन्दराम हासानंद, 2014

द्वितीयक ग्रन्थ –

- गैरोला, वाचस्पति, भारतीय दर्शन, इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, 2016
- चट्टोपाध्याय, देवीप्रसाद, भारतीय दर्शन : सरल परिचय, दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2016
- चट्टोपाध्याय, सतीश चन्द्र और धीरेन्द्र मोहन दत्त, भारतीय दर्शन, पटना : पुस्तक भण्डार, 1995
- दासगुप्त, एस. एन., भारतीय दर्शन का इतिहास, जयपुर : राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 2018
- उपाध्याय, बलदेव, संस्कृत साहित्य का इतिहास, दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास, 2014
- उपाध्याय, बलदेव, भारतीय दर्शन, वाराणसी : शारदा मन्दिर, 2016
- शास्त्री, उदयवीर, सांख्य-सिद्धांत, दिल्ली : विजयकुमार गोविन्दराम हासानंद, 2012
- शास्त्री, उदयवीर, सांख्य दर्शन का इतिहास, दिल्ली : विजयकुमार गोविन्दराम हासानंद, 2012
- शास्त्री, उदयवीर, प्राचीन सांख्य सन्दर्भ, दिल्ली : विजयकुमार गोविन्दराम हासानंद, 1991
- शास्त्री, राकेश, महाभारतीय सांख्य, दिल्ली : चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, 2008

- शर्मा, चन्द्रधर, भारतीय दर्शन : आलोचन और अनुशीलन, दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास, 2013
- राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन-2, दिल्ली : राजपाल एण्ड संस, 2016
- राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन-1, दिल्ली : राजपाल एण्ड संस, 2017
- पाठक, सर्वानन्द, चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा, वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन, 1965
- पाण्डेय, रामसुरेश, महाभारत और पुराणों में सांख्यदर्शन, दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1972
- सिन्हा, जदुनाथ, भारतीय दर्शन, दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास, 2014
- सिन्हा, हरेन्द्र प्रसाद, भारतीय दर्शन की रुपरेखा, दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास, 2018
- हिरियन्ना, मैसूर, भारतीय दर्शन की रुपरेखा, दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2016
- मिश्र, जगदीशचन्द्र, भारतीय दर्शन, वाराणसी : चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 2016
- मिश्र, हृदय नारायण, भारतीय दर्शन, इलाहबाद : शेखर प्रकाशन, 2013
- प्रशांत, आचार्य, षड्दर्शन समन्वय : एक नवीन वैज्ञानिक दृष्टि, दिल्ली : विजयकुमार गोविन्दराम हासानंद, 2010

.....

UGC-CARE List-Social Sciences

ISSN 0974-0074

राधा कमल मुकर्जी : चिन्तन परम्परा

National Peer Reviewed Journal of Social Sciences

IMPACT FACTOR 6.1250 (ICRJIFR)



वर्ष 22 अंक 2

जुलाई-दिसम्बर, 2020

समाज विज्ञान विकास संस्थान
बरेली (उ.प्र.)

सांख्यदर्शन सम्मत कार्यकारणवाद : एक समीक्षात्मक विवेचन

□ मोहन सिंह भदौरिया

कूट शब्द : सांख्यदर्शन, कार्यकारणवाद, सृष्टि, असत्कार्यवाद, सत्कार्यवाद।

कोई भी दर्शन अथवा विज्ञान 'कार्यकारणवाद' को स्वीकार किये बिना प्रगति के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता। प्राकृतिक घटनाओं एवं लौकिक व्यवहार में भी बौद्धिक आधार पर 'कारणता' का सिद्धान्त दृष्टिगोचर होता है। कोई भी प्राकृतिक घटना बिना कारण के नहीं होती। 'कार्यकारणवाद' प्रकृति का अबाध्य नियम है। दर्शनशास्त्र में 'कार्यकारणवाद' का सिद्धान्त मुख्यतः सृष्टि की उत्पत्ति से सम्बन्धित है। सृष्टि की उत्पत्ति किस कारण से होती है ? वह कारण एक है अथवा अनेक ? उसका स्वरूप क्या है ? वह प्रधान कारण जड़ है अथवा चेतन ? क्या कारण एवं कार्य (उत्पाद या प्रभाव) एक दूसरे से पृथक् हैं ? क्या कारण से पृथक् कार्य एक नवीन सृष्टि है अथवा कार्य पहले से ही कारण में विद्यमान है ? क्या कार्य, कारण का अवस्था परिवर्तन मात्र है ? ऐसे अनेक प्रश्न 'कार्यकारणवाद' की समस्या में विद्यमान रहते हैं। प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय अपने तत्त्वमीमांसीय स्वरूप के आधार पर 'कार्यकारणवाद' की व्याख्या करता है। इसी क्रम में सर्वप्रथम भारतीय दर्शन में प्रचलित 'कार्यकारणवादी' सिद्धान्तों का समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है। तदुपरान्त सांख्य दर्शन सम्मत 'सत्कार्यवाद' की स्थापना की जायेगी।

भारतीय दर्शन में कार्यकारणवाद :- भारतीय दर्शन में 'कार्यकारणवाद' के दो मुख्य सिद्धान्त विद्यमान हैं। पहला

दर्शनशास्त्र में 'कार्यकारणवाद' की समस्या के अन्तर्गत सृष्टि के उद्भव सम्बन्धी प्रश्नों पर विमर्श किया जाता है। सृष्टिशास्त्र दार्शनिक जिज्ञासा का महत्त्वपूर्ण पहलू है, इसलिये दार्शनिक चिन्तन में इसका बड़ा महत्त्व है। प्रस्तुत शोध आलेख "सांख्य दर्शन सम्मत कार्यकारणवाद: एक समीक्षात्मक विवेचन" में सांख्यदर्शन के परिप्रेक्ष्य में 'कार्यकारणवाद' का विमर्श किया गया है। इस शोध आलेख में तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक शोध प्रविधि का प्रयोग किया गया है। शोध आलेख का उद्देश्य 'असत्कार्यवाद' या 'आरम्भवाद' के स्थान पर सांख्य सम्मत 'सत्कार्यवाद' की स्थापना करना है। आधुनिक विज्ञान जड़ शक्ति से सृष्टि की उत्पत्ति को स्वीकार करने के साथ ही विकासवाद (परिणामवाद) के रूप में, सांख्य दर्शन के समान ही सत्कार्यवाद को भी स्वीकार करता है। अतएव वर्तमान वैज्ञानिक संदर्भ में, सांख्य दर्शन के 'कारणता-सिद्धान्त' की चर्चा प्रासंगिक है।

'सत्कार्यवादी' है एवं दूसरा 'असत्कार्यवादी'। इनमें भिन्नता इस बिन्दु पर है कि उत्पत्ति के पूर्व कार्य अपने कारण में

विद्यमान है अथवा नहीं। सत्कार्यवादी उत्पत्ति के पूर्व कारण में कार्य की सत्ता स्वीकार करते हैं, जबकि असत्कार्यवादी उत्पत्ति के पूर्व कार्य को असत् मानते हैं। उनके अनुसार कार्य एक नवीन सृष्टि है, जो पहले से ही अपने कारण में विद्यमान नहीं रहता है। कार्य उत्पन्न होने से ही अस्तित्व में आता है, इसलिये असत्कार्यवाद को 'आरम्भवाद' भी कहा जाता है। आरम्भवाद के अनुसार उत्पत्ति के पहले यदि कार्य विद्यमान है, तो वह अस्तित्वमान होने से पहले से ही 'उत्पन्न' है, इसलिये उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। फिर से उसकी उत्पत्ति पुनरुत्पत्ति है, उत्पत्ति नहीं, जो कि व्यर्थ तथा अनावश्यक है। निदानतः कार्य का अस्तित्व उसके उत्पन्न होने से ही आरम्भ होता है।

कार्य एक नवीन सृष्टि है, जो अपने कारण में पूर्व से विद्यमान नहीं होता है। यदि घड़ा मिट्टी में तथा दही दूध में पहले से ही विद्यमान है, तो कुम्हार को मिट्टी से घड़ा बनाने के लिये मेहनत करने की क्या आवश्यकता है? यदि कारण में कार्य पहले से ही विद्यमान होता, तो दूध एवं दही में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता और दूध का स्वाद भी दही जैसा ही होता।

भारतीय दर्शन के कुछ सम्प्रदाय 'आरम्भवाद' या 'असत्कार्यवाद' को मानते हैं एवं कुछ 'सत्कार्यवाद' को मानते हैं। हीनयानी बौद्ध दर्शन, वैशेषिक दर्शन, न्याय दर्शन तथा मीमांसा दर्शन के कुछ सम्प्रदाय 'असत्कार्यवाद'

□ शोध अध्येता, भारतीय दर्शन विभाग, सनातन धर्म एवं भारतीय ज्ञान अध्ययनशाला, साँची बौद्ध-भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय, बारला, रायसेन (म.प्र.)

या 'आरम्भवाद' को मानते हैं। कार्यकारणवाद के रूप में असत्कार्यवाद को मानने के उपरान्त भी कारण के भेद से इनमें परस्पर भिन्नता है। हीनयानी बौद्ध मत 'अनित्यपरमाणुकारणवाद' या 'क्षणभंगवाद' को स्वीकार करता है तथा वैशेषिक, नैयायिक और कुछ मीमांसक 'नित्यपरमाणुकारणवाद' को स्वीकार करते हैं।

सत्कार्यवाद, असत्कार्यवादके ठीक विपरीत है। इसके अनुसार कार्य उत्पत्ति के पहले भी अपने कारण में विद्यमान रहता है। कार्य उत्पन्न होने के पहले भी 'सत्' है, इसे मानने के कारण इस सिद्धान्त का नाम 'सत्कार्यवाद' है। कारण, कार्य की बीजावस्था है एवं कार्य में भी कारण स्वभावतः विद्यमान रहता है। कार्य कोई नवीन सृष्टि नहीं, बल्कि कारण का अवस्था परिवर्तन मात्र है। उत्पन्न होने का अर्थ बिल्कुल 'नवीन उत्पत्ति' नहीं है एवं विनाश का अर्थ 'सर्वथा विनाश' नहीं है। उत्पत्ति का अर्थ है, कारण में बीज रूप से विद्यमान रहने वाले कार्य का व्यक्त रूप में दिखाई देना तथा विनाश का अर्थ है, उस व्यक्त कार्य का पुनः कारण में विलीन हो जाना। सांख्य दर्शन, 'उत्पत्ति' का अर्थ 'सर्ग' के रूप में प्रकट होना तथा विनाश का अर्थ 'तिरोभाव' या 'लयावस्था' के रूप में स्वीकार करता है। कारण एवं कार्य एक ही वस्तु के दो रूप हैं, कारणावस्था अव्यक्त रूप है तथा कार्यावस्था व्यक्त रूप है।

इस स्थल पर सत्कार्यवादियों में भी भेद उत्पन्न हो जाता है जो कारण से कार्य के परिवर्तन को वास्तविक या तात्त्विक मानते हैं, उन्हें 'परिणामवादी' कहा जाता है एवं जो इस परिवर्तन को अवास्तविक या अतात्त्विक (आभासिक) मानते हैं, उन्हें 'विवर्तवादी' कहा जाता है। सांख्य-योग और रामानुज वेदान्त परिणामवादी हैं। लेकिन, जहाँ सांख्य-योग 'प्रकृति-परिणामवाद' को स्वीकार करता है, वहीं रामानुज वेदान्त 'ब्रह्मपरिणामवाद' को मानता है। शांकर वेदान्त 'विवर्तवादी' है एवं 'ब्रह्मविवर्तवाद' को स्वीकार करता है।²

'परिणामवाद' और 'विवर्तवाद' में मुख्य अन्तर कार्य के स्वरूप के कारण है। जहाँ सांख्य मूल तत्त्व के निरन्तर परिवर्तन एवं विकृति को 'परिणाम' की संज्ञा देकर इसे सत् स्वीकार करता है, वहीं अद्वैत वेदान्त मूल कारण को सदा एक जैसा ही मानता है और कार्य को केवल नाम-रूप के कारण मिथ्या आभास मात्र मानता है, जिसे सत् नहीं कहा जा सकता। सांख्य एवं अद्वैत वेदान्तियों के कार्यकारणवाद में समानता 'कारण' की एकता को लेकर

है। दोनों इस बात से तो सहमत हैं कि सृष्टि का कारण 'एक' है, किन्तु सांख्य सूक्ष्म अव्यक्त 'प्रकृति' को जगत् के पदार्थों का 'वास्तविक कारण' स्वीकार करता है, जबकि अद्वैत वेदान्त इसका कारण 'ब्रह्म' को स्वीकार करता है और कार्य को वास्तविक न मानकर 'प्रतीति मात्र' स्वीकार करते हुये, जगत् को 'ब्रह्म' की 'विकृति' स्वीकार नहीं करता। सांख्य के लिए 'कारण' एवं 'कार्य' दोनों सत् हैं, जबकि अद्वैत वेदान्त केवल 'कारण' को ही सत् मानता है। अतएव कुछ विद्वान् अद्वैत वेदान्त के 'कार्यकारणवाद' को 'सत्कार्यवाद' के स्थान पर 'सत्कारणवाद' कहना उचित समझते हैं। एस. एन. दासगुप्त ने अपने चिरप्रतिष्ठित ग्रन्थ 'भारतीय दर्शन का इतिहास' में दोनों दर्शनों के इस सूक्ष्म अन्तर की ओर हमारा ध्यान अग्रलिखित शब्दों के माध्यम से स्पष्ट किया है - "बहुधा सांख्य और वेदान्त दोनों के कार्य कारण सिद्धान्त को सामान्य भाषा में सत्कार्यवाद कह दिया जाता है, किन्तु सही मायनों में जैसा कि प्रबुद्ध टीकाकारों ने स्पष्ट किया है, वेदान्त के कारण-सिद्धान्त को 'सत्कारणवाद' कहना चाहिए। क्योंकि उसकी मान्यता है कि केवल कारण ही सत् (विद्यमान) है, कार्य तो केवल कारण के ही मायात्मक आभास हैं। सांख्य के मतानुसार कार्य कारण के अन्दर विद्यमान रहता है और बीज रूप में कारण में कार्य की सत्ता होने से वह भी सत् है।"³

वेदान्त- परिभाषाकार के 'परिणाम' एवं 'विवर्त' शब्दों के अर्थ निरूपण से भी 'सत्कार्यवाद' एवं 'सत्कारणवाद' का यह भेद स्पष्ट हो जाता है। वेदान्त- परिभाषा का यह कथन द्रष्टव्य है - "परिमाणोनाम उपादान समसत्ताककार्यापत्तिः। विवर्तो नाम उपादान विषमसत्ताककार्यापत्तिः।।"⁴ - अर्थात् उपादान की जैसी सत्ता हो ठीक वैसी सत्ता से युक्त कार्य की उसे (उपादान को) प्राप्ति होना परिणाम कहलाता है और उसकी (उपादान की) सत्ता की अपेक्षा विषम सत्ता से युक्त कार्य की प्राप्ति होना विवर्त कहलाता है।

यदि कार्य अपने उपादान कारण का समसत्ताक है, तो वह परिणाम कहलायेगा और यदि कार्य अपने उपादान कारण का विषमसत्ताक है, तो वह विवर्त कहलायेगा। सांख्य के अनुसार समस्त कार्यजगत् प्रकृति का कार्यव्यापार है। प्रकृति का परिणाम यह समस्त कार्यजगत् है जो जड़ होने से उसका समसत्ताक है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार विवर्त वह कार्य है, जो अपने उपादान कारण से भिन्न (विषम)

है। अविद्या का कार्य होने से यह जगत् उसका परिणाम है, जबकि स्वयं अविद्या का अधिष्ठान ब्रह्म होने से यह जगत् ब्रह्म का विवर्त है।

उपर्युक्त वर्णन से किंचित भिन्न, एक अन्य दृष्टि से श्री वाचस्पति मिश्र ने सांख्यकारिका पर अपनी टीका 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' में, भारतीय दर्शन में प्रचलित 'कारणता' से सम्बन्धित चार सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। प्रथमतः, बौद्धों के अनुसार 'असतः सज्जायते' असत् से सत् उत्पन्न होता है। द्वितीयतः, अद्वैतवादियों के अनुसार 'एकस्य सतो विवर्तः कार्यजातं, न वस्तुसत्' समग्र कार्य समूह या प्रपंच एक सत् का अतात्त्विक या अवास्तविक रूप से अन्यथा आभास या प्रतीति है। वह वस्तुसत् नहीं है। तृतीयतः, नैयायिकों एवं वैशेषिकों के अनुसार 'सतः असत् जायते' सत् से असत् उत्पन्न होता है एवं चतुर्थतः, सांख्य दर्शन के अनुसार 'सतः सत् जायते' सत् से सत् उत्पन्न होता है।¹

सांख्य दर्शन के अनुसार यदि कार्य को उत्पन्न होने के पूर्व ही कारण में विद्यमान न माना जाये तो कार्य एवं कारण में अभेद नहीं होगा एवं जगत् के कार्यों को देखकर इसके प्रधान कारण प्रकृति का अनुमान नहीं किया जा सकेगा। अतएव सांख्य दर्शन उपर्युक्त अन्य तीन मतों को उपयुक्त नहीं मानता। वाचस्पति मिश्र इस उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुये इन मतों के खण्डन में प्रवृत्त होते हैं। वे शून्यवादी बौद्ध मत का खण्डन अग्रलिखित शब्दों में करते हैं - "यदि पुनरसतः सज्जायते, असत् निरुपाख्यं कारणं सुखादिरूपशब्दाद्यात्मकं कथं स्यात् ? सदसतोस्तादात्त्यानुपपत्तेः।"¹⁶ - अर्थात् यदि यह माना जाये कि असत् से सत् उत्पन्न होता है, तो निरुपाख्य या स्वरूपशून्य असत् कारण सुख आदि रूप वाले शब्द आदि के स्वरूप वाला कैसे हो सकता है, क्योंकि सत् और असत् का तादात्म्य या अभेद उपपन्न नहीं।

इसका अभिप्राय यह है कि भाव रूप जगत् के कार्यों का कारण अभावरूप शून्य कैसे हो सकता है ? भाव एवं अभाव का अभेद सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि यह माना जाये कि लोक में अभाव से भी भाव उत्पन्न होते हुये देखा जाता है, जैसे बीज एवं मिट्टी के पिण्ड आदि के प्रध्वंसाभाव या विनाश के बाद अंकुर एवं घट आदि की उत्पत्ति दृष्टिगोचर होती है। किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उनकी उत्पत्ति में प्रध्वंसाभाव या विनाश कारण नहीं, बल्कि बीज आदि का अवयव रूप

भाव ही कारण है। फिर यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति मानी जाये, तो अभाव के सभी कालों में या सभी स्थानों से सभी कार्यों की उत्पत्ति का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। अतः अभाव से भाव उत्पन्न नहीं हो सकता।

अद्वैतवादी ब्रह्म को 'परमार्थ सत्' स्वीकार करते हैं एवं जगत् को ब्रह्म का 'विवर्त' या 'आभास' मानते हैं। सांख्य दार्शनिकों के अनुसार यह मत भी उचित नहीं है, क्योंकि निर्गुण ब्रह्म का इस विविधता पूर्ण जगत् से अभेद सम्भव नहीं है। जगत् को केवल भ्रमात्मक स्वीकार करना उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रपंच को तब तक भ्रम नहीं कहा जा सकता, जब तक कि असत्य सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण न हो इस पर वाचस्पति मिश्र के यह कथन द्रष्टव्य हैं - "अथैकस्यसतो विवर्तः शब्दादिप्रपंचः, तथापि सतः सज्जायते इति न स्यात्। न चास्याद्वयस्य प्रपंचात्मकत्वम्, अपि त्वप्रपंचस्य प्रपंचात्मकतया प्रतीतिर्भ्रम एव।"¹⁷ - अर्थात् यदि यह माना जाये कि शब्द आदि प्रपंच एक सत् का विवर्त है, तब भी यह नहीं माना जा सकता कि सत् से सत् उत्पन्न होता है। यह अद्वैत सत्प्रपंचात्मक या प्रपंच का स्वरूप रखने वाला नहीं है, अपितु प्रपंच स्वरूप न होते हुये भी उसकी प्रपंच के रूप में प्रतीति केवल भ्रम ही है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन सत् से असत् की उत्पत्ति मानते हैं। उनके अनुसार नित्य परमाणुओं से अनित्य द्वयणुक कार्यों की उत्पत्ति होती है। इसके खण्डन में वाचस्पति मिश्र का तर्क है कि अनित्य की उत्पत्ति नित्य से कैसे हो सकती है? वे कहते हैं - "असत् चेत् कारणव्यापारात् पूर्वं कार्यम् सत्त्वं नास्य सदृवं कर्तुं केनापि शक्यम्। न हि नीलं शिल्पिसहस्रेणापि पीतं कर्तुं शक्यते। सदसत्त्वे घटस्य..... ततः प्रागपि सदेव कार्यमिति।"¹⁸ - अर्थात् यदि कारण-व्यापार से पूर्व कार्य असत् हो, तो फिर इसको सत् कोई नहीं बना सकता। हजारों शिल्पियों के द्वारा भी नीला-पीला नहीं किया जा सकता। यदि यह कहा जाये कि सत्त्व और असत्त्व घट के धर्म हैं, तो भी धर्मी या धर्माश्रय के न होने पर उसका धर्म नहीं रह सकता। अतः धर्मी घट का सत्त्व अर्थात् सत्ता यथावत् मानना होगा और इस प्रकार यह घट असत् नहीं है। घट से असम्बद्ध और घट से तादात्म्य न रखने वाले अर्थात् अघटात्मक अथवा अघट रूप असत्त्व के आधार पर घट असत् कैसे हो सकता है ? इसलिये कारण-व्यापार से बाद के समान उसके पहले भी कार्य सत् ही है।

कारण में पहले से ही विद्यमान 'सत् कार्य' की अभिव्यक्ति ही 'कारण' में शेष है, जो कि उपादान कारण की क्रिया-शक्ति के उन्मुक्त होने पर प्रकाश में आती है, जैसे तिलों को पेरने से, तिलों में पहले से ही विद्यमान तेल की अभिव्यक्ति एवं दुहने से गायों में रहने वाले दूध की अभिव्यक्ति होती है। इसके विपरीत असत् के उत्पन्न होने में तो कोई उदाहरण दिखाई नहीं देता। ऐसा नहीं है कि कार्य पहले से कारण में विद्यमान नहीं था। अभिप्राय यह है कि कार्य अपने कारण में पहले 'असत्' नहीं है।

सांख्य दर्शन सम्मत सत्कार्यवाद :- सांख्य दर्शन को 'सत्कार्यवाद' स्वीकार्य है और इसके 'कार्यकारणवाद' के सिद्धांत को 'प्रकृति-परिणामवाद' कहा जाता है। सत्कार्यवाद के अनुसार कारण-व्यापार के पश्चात्, कार्य जिस प्रकार विद्यमान रहता है उसी प्रकार, कारण-व्यापार के पूर्व भी अपने कारण में विद्यमान रहता है। वस्तुतः कार्य एवं कारण में अभेद है। कार्य, कारण की ही अभिव्यक्ति है। सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य एवं कारण दोनों सत् हैं। यह जगत् इसके मूल कारण, प्रकृति का कार्य है। कार्य एवं कारण दोनों के सत् होने के कारण ही जगत् के पदार्थों से इसके मूल कारण प्रकृति का अनुमान सम्भव है। प्रकृति की सिद्धि केवल 'सत् से सत् के उत्पन्न' होने पर ही हो सकती है। अतएव सत् से सत् उत्पन्न होता है। इस कार्यकारणवाद के सिद्धांत 'सत्कार्यवाद' की सिद्धि के लिए सांख्यकारिकाकार प्रवृत्त होते हैं। वे सत्कार्यवाद को पाँच हेतुओं द्वारा सिद्ध करते हैं। ये पाँच हेतु अग्रलिखित कारिका में निहित हैं - "असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्। शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्।"⁹ - अर्थात् असत् को उत्पन्न न कर सकने से, उपादान के ग्रहण करने से, सब कारणों से सब कार्यों की उत्पत्ति न होने से, जो जिसके उत्पादन में समर्थ है, उस कारण से वही कार्य होने से और कारण की सत्ता होने से कार्य सत् है। सांख्यकारिका की प्राचीन टीकाओं में आचार्य माठर कृत 'माठरवृत्ति', आचार्य गौणपाद कृत 'गौणपादभाष्य', आचार्य शंकर कृत 'जयमंगला' एवं आचार्य वाचस्पति मिश्र कृत 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' के नाम अग्रगण्य हैं। इन्हीं टीकाओं में प्रतिपादित तर्कों के आधार पर ही, इन पाँचों हेतुओं का विवेचन निम्नवत् है -

(1) असदकरणात् - इस हेतु का अभिप्राय यह है कि जो पूर्व से ही अविद्यमान है, उसकी उत्पत्ति असम्भव है, क्योंकि जो पूर्व से विद्यमान नहीं है वह असत् है और जो

असत् है, वह कभी सत् नहीं हो सकता। सत् से ही सत् उत्पन्न हो सकता है असत् से नहीं। जिस प्रकार बन्ध्या-पुत्र, शश-शृंग, गगन-पुष्प आदि ये सभी असत् हैं, इसलिये ये कभी उत्पन्न नहीं हो सकते।

कार्य आवश्यक रूप से कारण से जुड़ा हुआ है। कार्य यदि उत्पत्ति के पूर्व कारण में विद्यमान नहीं है, तो वह बाद में उत्पन्न नहीं हो सकता। यही 'असदकरणात्' पद का अभिप्राय है। सांख्य दर्शन उत्पत्ति के पहले भी कार्य को कारण में सत् मानता है। यही सत्कार्यवाद की मान्यता है। इसके ठीक विपरीत न्याय-वैशेषिक दर्शन की 'असत्कार्यवाद' की मान्यता है, जिसके अनुसार 'कार्य' उत्पत्ति के पूर्व 'कारण' में असत् है। इस हेतु के द्वारा मुख्यतः न्याय-वैशेषिक दर्शन के इस सिद्धांत का ही खण्डन किया गया है।

(2) उपादानग्रहणात् - इस हेतु का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक कार्य का अपने उपादान से नियत सम्बन्ध रहता है। 'उपादान' का अर्थ है कारण और उनके 'ग्रहण' का अर्थ है उनका कार्य से सम्बन्ध होना। उपादान कारण एवं उसके कार्य के सम्बन्ध में जयमंगलाकार ने लिखा है कि - "यदुपादीयते तस्य तादुपादान कारणम्, यथा तैलस्य तिलाः, दध्नः क्षीरम्।"¹⁰ - अर्थात् जिससे जो उत्पन्न होता है उसका वह उपादान कारण होता है, जैसे तेल का तिल से और दही का दूध से नित्य सम्बन्ध है, क्योंकि तिल से ही तेल बन सकता है और दूध से ही दही बन सकता है, किसी अन्य वस्तु से नहीं। इसका कारण यह है कि तेल (कार्य) तिल (कारण) से ही सम्भव है और दही (कार्य) दूध (कारण) से। अगर तिल में तेल और दूध में दही पूर्व से ही विद्यमान न होता, तो कैसे इनको दोनों का उपादान कह सकते हैं। इससे सिद्ध है कि प्रत्येक कार्य का एक नियत कारण होता है और वही उस कार्य को करने में सक्षम होता है। सम्बद्ध कारण से सम्बद्ध कार्य उत्पन्न होता है, असम्बद्ध कारण से असम्बद्ध कार्य नहीं कारण एवं कार्य के मध्य परस्पर सम्बद्धता अनिवार्य है। अगर ऐसा न हो तो कोई भी वस्तु किसी भी कार्य को उत्पन्न कर सकती थी। कारण एवं कार्य के मध्य सम्बद्धता को स्पष्ट करते हुये जयमंगलाकार कहते हैं - "अन्यथा सिकतासलिलयोरपि ग्रहणं स्यात्।"¹¹ - अर्थात् फिर तो बालू से तेल और जल से भी दही बन सकता था लेकिन ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि तेल पूर्व से ही तिल में विद्यमान होता है और दही दूध में। अतः नियत उपादान कारण होने से भी कार्य सत् है यह प्रमाणित होता है।

(3) सर्वसम्भवाभावात् - सभी कारणों से सभी कार्यों की उत्पत्ति सम्भव नहीं। जिस प्रकार किसी जुलाहे को कपड़ा तैयार करना हो तो वह तन्तुओं को ही लेगा, क्योंकि उसको ज्ञात है कि कपड़ा तन्तुओं से ही बन सकता है, अन्य किसी वस्तु से नहीं। जिस कार्य को करने की क्षमता जिस कारण में विद्यमान होगी, वही उस कार्य को कर सकता है। तिल से ही तेल निकल सकता है, बालू से नहीं। यदि कारण एवं कार्य के मध्य सम्बद्धता न हो तो सभी से सभी कुछ उत्पन्न हो जायेगा, किन्तु ऐसा नहीं है। इसी असम्बद्धता पर प्रकाश डालते हुये आचार्य गौणपाद कहते हैं कि -“सर्वस्य सर्वत्र सम्भवो नास्ति। यथा सुवर्णस्य रजतादौ, तृणपांशुसिकतास। तस्मात् सर्वसम्भवाभावात् सत्कार्यम्।”¹² - अर्थात् सबकी सभी जगह उत्पत्ति सम्भव नहीं है। जैसे सुवर्ण की उत्पत्ति चांदी में, धूल या बालू में नहीं हो सकती। अतः सब से सब वस्तु उत्पन्न न होने से भी यह सिद्ध होता है कि कार्य सत् है।

(4) शक्तस्य शक्यकरणात् - समर्थ वस्तु ही अपने योग्य समर्थ कार्य को उत्पन्न कर सकती है। कार्य के अवलोकन द्वारा ही कारण की शक्ति का अनुमान हो पाता है। विशेष कारणों से विशेष कार्यों की उत्पत्ति का जो नियम है, वह इसी शक्ति के कारण सम्भव हो पाता है। एक विशेष कार्य उत्पन्न करने की शक्ति केवल शक्त कारण में ही विद्यमान होती है। अगर प्रत्येक कारण में उस शक्ति का होना माना जाये तो, विशेष कारण से विशेष कार्य के होने का नियम भंग हो जायेगा और किसी भी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न हो सकेगा। अगर शक्ति, शक्त कारण में ही होती है, तो कार्य से उसका सम्बन्ध मानना होगा। जिस कारण शक्ति का एक कार्य विशेष से कोई सम्बन्ध नहीं है, उससे वह कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता, इसलिये कारण में रहने वाली उत्पन्न करने के सामर्थ्य से युक्त शक्ति का कार्य से सम्बन्ध होना चाहिये और कार्य का कारण में पूर्व से अस्तित्व भी होना चाहिये। अगर कार्य पहले से कारण में नहीं है, तो कारण शक्ति का उससे सम्बन्ध नहीं हो सकता और अगर कारण शक्ति से उसका सम्बन्ध नहीं है तो, कोई भी कार्य किसी भी कारण से उत्पन्न किया जा सकेगा। अतः कार्य का किसी समर्थ कारण में पूर्व से होना आवश्यक है।

इस हेतु पर टिप्पणी करते हुये आचार्य माठर लिखते हैं कि- “इह लोके शक्तः शिल्पी करणादिकारणोपादान-कालोपायसम्पन्नः शक्यादेव शक्य कर्म आरभते

नाशक्यमशक्यात्। तद्यथा-शक्तः कुम्भकारः शक्यादेव मृत्पिण्डात् शक्यदण्डचक्रसूत्रोदकविदलतलादिभिः सम्पन्नो घटशरावोर्द्वचनादीन्यारम्भाणो दृष्टः। न च मणिकादि, अशक्यत्वात्तावता पिण्डेने तस्य। यदि पुनः करणनियमो न स्यादशक्यादप्यशक्यमारभ्येत। तस्मात् सत् कार्य स्यान्नासत्।”¹³ - अर्थात् इस लोक में देखा जाता है कि समर्थ शिल्पी ही उपादानादि कालोपाय साधन सम्पन्न समर्थ सामग्री से ही समर्थ कार्य को प्रारम्भ करता है न कि असमर्थ सामग्री से। जैसेकि कुम्भकार समर्थ मृत्पिण्ड से, समर्थ सामग्री दण्ड, चक्र, रस्सी, जल आदि से सम्पन्न होकर घड़ा, प्याला आदि को बनाता हुआ देखा गया है, न कि मणिक आदि, क्योंकि उसके लिए मृत्पिण्ड असमर्थ है। यदि यह योग्य कारण नियम न होता तो असमर्थ कारण सामग्री से भी असम्भावित कार्य उत्पन्न हो जाते। अतएव कार्य सत् है न कि असत्।

(5) कारणभावात् - कार्य तथा कारण अभिन्न हैं, इसलिये जब कारण सत् होगा तो कार्य भी सत् ही होगा। वस्तुतः कार्य कारण की व्यक्त अवस्था है और कारण कार्य की अव्यक्त स्थिति मात्र है। यह लोक व्यवहार में भी अनुभूत किया जाता है कि कारण जैसा होगा कार्य भी वैसा ही होता है, क्योंकि बबूल के पेड़ पर कभी आम नहीं लगते। इस हेतु पर तर्क स्वरूप आचार्य गौणपाद लिखते हैं कि -“कारणं यल्लक्षणमेव कार्यमपि, यथा यवेभ्यो यवाः ब्रीहिभ्यो ब्रीहयः। यदाऽसत्कार्यं स्यात्ततः कोद्रेवेभ्यः शालयः स्युः, न च सन्तीति, तस्मात् सत्कार्यम्।”¹⁴ - अर्थात् कारण जिस लक्षण का होता है, वैसा ही कार्य भी होता है। जैसे, जौ बोने से जौ ही उत्पन्न होते हैं और धान बोने से धान ही उत्पन्न होती है। यदि कार्य असत् होता, तो कोदों से भी धान उत्पन्न हो सकता था, लेकिन ऐसा नहीं होता। अतः यह सिद्ध होता है कि कार्य सत् है।

कार्य के कारण से अभेद को सिद्ध करने के लिये वाचस्पति मिश्र सम्मत प्रमाण इस प्रकार दिये जा सकते हैं कि पट तन्तुओं से भिन्न नहीं, क्योंकि वह तन्तुओं का धर्म है। यहाँ जो जिससे भिन्न होता है, वह उसका धर्म या अवस्था विशेष नहीं होता, जिस प्रकार बैल, अश्व का धर्म या अवस्था विशेष नहीं। पट तन्तुओं का धर्म है, अतः वह तन्तुओं से भिन्न या भिन्न पदार्थ नहीं है। तन्तुओं और पट का आपस में उपदानोपादेयभाव होने से भी अर्थात् तन्तुओं के पट का उपादान होने और पट के तन्तुओं का उपादेय होने से भी इन दोनों में भिन्नता नहीं

है, क्योंकि जिससे भिन्नता होती है, उनमें उपदानोपादेयभाव नहीं होता। जैसे, घट और पट में उपदानोपादेयभाव नहीं है, इसलिये तन्तु और पट में उपदानोपादेयभाव है। अतः इन दोनों में भिन्नता या भेद नहीं है। इसलिये भी तन्तु और पट में भेद नहीं है कि इन दोनों में आपस में संयोग और अप्राप्ति का अभाव है। एक पदार्थ के दूसरे से अलग होने पर दोनों का संयोग देखा जाता है। जैसे पात्र और बेर नामक फल का अथवा अप्राप्ति या विभाग देखा है, जैसे कि हिमालय और विन्ध्याचल का। तन्तु और पट में न संयोग है और न अप्राप्ति या विभाग है। अतः इन दोनों में भेद नहीं है। इसलिये पट तन्तुओं से भिन्न नहीं है कि तन्तुओं के गुरुत्व या भार से भिन्न पट के भार का कार्य दृष्टिगोचर नहीं होता, जैसा कि तराजू के पलड़े का नीचा या ऊँचा होना है। इस संसार में जो जिस से भिन्न होता है, उसके भार से भिन्न भार का कार्य उसमें प्राप्त होता है, जैसे एक परिमाण विशेष के स्वास्तिक नामक अलंकार के भार के द्वारा किया जाने वाला, जो अवनति विशेष या झुकाव होता है उससे दो पल के स्वास्तिक के भार के द्वारा किया जाने वाला झुकाव अधिक होता है। किन्तु इस प्रकार तन्तुओं के कार्य के भार से पट के भार का कार्य भिन्न नहीं दिखाई देता, अतः पट तन्तुओं से भिन्न नहीं है।¹⁵ **अभेद** को सिद्ध करने वाले ये पूर्वोक्त अवीत अनुमान के उदाहरण हैं। इस प्रकार अभेद के सिद्ध होने पर यह मानना होगा कि तन्तु ही उस-उस संस्थान भेद या आकृति-विशेष के रूप में परिणत होकर पट हो जाते हैं, पट तन्तुओं से कोई भिन्न पदार्थ नहीं है। तन्तु और पट के अभिन्न होने पर भी उनमें जो उत्पन्न और विनष्ट होने के सम्बन्ध में इस प्रकार का बुद्धि भेद होता है कि पट उत्पन्न या विनष्ट हो रहा है, तन्तु नहीं, उनमें जो इस प्रकार का व्यपदेश-भेद या नाम-भेद होता है कि ये तन्तु हैं और यह पट है। उनमें जो इस प्रकार का कार्य-भेद या प्रयोजन-भेद होता है कि तन्तुओं से सिलाई आदि कार्य होते हैं और पट से शरीर ढकना एवं ओढ़ना-बिछाना आदि कार्य होते हैं, उनमें जो इस प्रकार का व्यवस्था-भेद होता है कि तन्तुओं से नियमतः अमुक-अमुक कार्य ही सम्पादित हो सकते हैं। ये सब भेद तन्तुओं और पट के भेद को एकात्मिक या अनिवार्य रूप से सिद्ध नहीं कर सकते हैं, क्योंकि एक ही वस्तु में उन-उन विशेषताओं के आविर्भाव और तिरोभाव से लुप्त, उक्त भेदों के होने में कोई विरोध नहीं है।

जिस प्रकार कछुवे के अंग उसके शरीर में प्रविष्ट होते हुये छिप जाते हैं और उसके शरीर से निकलते हुये प्रकट हो जाते हैं। कछुवे से उसके अंग न तो उत्पन्न होते हैं और न विनष्ट होते हैं। इसी प्रकार एक मिट्टी या सोने के घट एवं मुकुट आदि रूप निकले या प्रकट होते हुये, उत्पन्न होते हुये कहे जाते हैं और समाते या छिपते हुये, विनष्ट होते हुये कहे जाते हैं। न तो असत् घट आदि का उत्पाद होता है और न सत् घट आदि का विनाश होता है, जैसा कि भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है – “नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।”¹⁶ – अर्थात् न असत् का भाव या उत्पाद होता है और सत् का अभाव या विभाग होता है। जिस प्रकार कछुवा संकुचित एवं विकसित होने वाले अपने अवयवों या अंगों से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार घट एवं मुकुट आदि भी मिट्टी एवं सुवर्ण से भिन्न नहीं है।

इस प्रकार ‘इन तन्तुओं में पट है, यह व्यवहार, इस वन में वृक्ष विशेष है’, इस व्यवहार के समान सिद्ध है। अर्थ क्रिया या प्रयोजनवती क्रिया का भेद भी, भेद को सिद्ध नहीं कर सकता है, क्योंकि एक ही व्यक्ति या पदार्थ आदि की अनेक प्रयोजनवती क्रियायें देखी जाती हैं। जैसे एक ही अग्नि जलाने वाली, पकाने वाली एवं प्रकाश करने वाली होती है। अर्थ क्रियाओं या प्रयोजनवती क्रियाओं की व्यवस्था भी वस्तु के भेद में कारण नहीं है, क्योंकि उन्हीं के समस्त एवं व्यस्त रूपों में अर्थ क्रियाओं की व्यवस्था देखी जाती है। जिस प्रकार कहार एक-एक करके या अलग-अलग मार्ग दर्शन रूप अर्थ क्रिया को करते हैं, पालकी को नहीं ढोते हैं, किन्तु वे सब मिलकर पालकी ही ढोते हैं, इसी प्रकार तन्तु एक-एक करके या अलग-अलग ढकने के कार्य को नहीं करते हुये भी मिलकर पट रूप से आविर्भूत हो ढकने का कार्य करेंगे।

इस पर नैयायिकों का कहना है कि अच्छा यह सही है, किन्तु पट का आविर्भाव कारण-व्यापार से पूर्व सत् या असत् है? यदि असत् है, तो यह बात सिद्ध हुई कि असत् की उत्पत्ति होती है और यदि सत् है, तो कारण-व्यापार व्यर्थ है, क्योंकि कार्य के सत् होने पर कारण-व्यापार का कोई प्रयोजन दिखाई नहीं देता है। पट का आविर्भाव का भी आविर्भाव करने के लिये यदि कारण-व्यापार को प्रयुक्त करने की कल्पना की जायेगी तो अनवस्था का प्रसंग होगा। इस प्रकार तन्तुओं में पट रूप आविर्भूत किया जाता है या तन्तु आविर्भूत पट रूप वाले किये जाते हैं, यह कथन अर्थ शून्य है इस पर सांख्यवादी उत्तर देते हैं

कि ऐसा नहीं है, क्योंकि, तो फिर यह बताओ कि 'असत्' उत्पन्न होता है, इस मत में असत् की यह उत्पत्ति कैसी है ? सत् है या असत् है। यदि सत् है तो कारण व्यर्थ है, यदि असत् है तो उसकी भी उत्पत्ति होनी चाहिये, इस प्रकार ज्यों ही यह कहा जाता है कि पट, त्यों ही यह कथन हो जाता है कि उत्पन्न होता है। इस प्रकार फिर 'पट', यह कहने पर उत्पन्न होता है, यह नहीं कहना चाहिये, क्योंकि ऐसा कहने से पुनरुक्ति होगी। विनष्ट होता है, यह भी नहीं कहना चाहिये, उत्पत्ति और विनाश का एक साथ एक स्थान पर विरोध है। इसलिये यह पटोत्पत्ति या घटोत्पत्ति, या तो पट का अपने कारण, तन्तुओं में समवाय है या अपने में सत्ता का समवाय है। दोनों ही प्रकारों से उत्पत्ति अर्थात् समवाय के नित्य होने के कारण उत्पन्न नहीं होती, फिर भी उसके लिये कारणों को काम में लिया जाता है। इसी प्रकार कारण-व्यापार से पूर्व भी सत् रहने वाले पट आदि के आविर्भाव के लिये कारण की अपेक्षा होती है, यह बात युक्तियुक्त है। पट के रूप के साथ ही कारण का सम्बन्ध नहीं होता है, क्योंकि पट का रूप, क्रिया नहीं है और कारण, क्रिया से सम्बद्ध होते हैं, अन्यथा वे कारण ही नहीं रहेंगे। अतएव कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व भी सत् है, यह पूर्णतया पुष्ट है।¹⁷

उपसंहार :- इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय दर्शन में 'कार्यकारणवाद' एक अतीव महत्वपूर्ण बिन्दु है, जिसकी सभी सम्प्रदायों ने अपनी

तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से व्याख्या प्रस्तुत की है। प्रस्तुत शोध आलेख में 'कार्यकारणवाद' की भारतीय दर्शन में प्रमुखतया प्रचलित सभी दृष्टियों को समाहित किया गया है। इन प्रस्थानों में बौद्ध दर्शन का 'शून्यवाद', जो असत् से सत् की उत्पत्ति मानता है। अद्वैत वेदान्त का 'विवर्तवाद', जिसके अनुसार समग्र कार्य समूह या प्रपंच एक सत् का अतात्त्विक या अवास्तविक रूप से अन्यथा आभास या प्रतीति है, वह वस्तुसत् नहीं है। न्याय-वैशेषिक का 'असत्कार्यवाद' या 'आरम्भवाद', जो सत् से असत् की उत्पत्ति मानता है और सांख्य का 'सत्कार्यवाद' जो सत् से सत् की उत्पत्ति स्वीकार करता है, आदि शामिल हैं। उपर्युक्त वर्णित सिद्धान्तों में से, सांख्य सम्मत 'सत्कार्यवाद' के परिप्रेक्ष्य में अन्य सभी की समीक्षा प्रस्तुत की गई है। समीक्षा के दौरान सांख्य दर्शन के विभिन्न आचार्यों, विशेषकर वाचस्पति मिश्र द्वारा प्रदत्त अनेक तार्किक युक्तियों, के सम्प्रयोग द्वारा यह निष्कर्ष निकलता है कि कार्य, कारण-व्यापार के पूर्व भी अपने कारण में विद्यमान रहता है। कार्य कारण से भिन्न नहीं, अपितु दोनों ही अभिन्न हैं। 'कार्य' कारण का व्यक्त रूप होता है और 'कारण', कार्य का ही अव्यक्त रूप। कार्य अगर कारण में पूर्व से विद्यमान न हो तो उसकी उत्पत्ति किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। यही 'सत्कार्यवाद' है, जो कि 'असत्कार्यवाद' या 'आरम्भवाद' के ठीक विपरीत है। अतः शोध आलेख के उद्देश्यानुसार 'असत्कार्यवाद' के स्थान पर 'सत्कार्यवाद' की स्थापना सिद्ध है।

सन्दर्भ

1. शर्मा, चन्द्रधर, 'भारतीय दर्शन : आलोचन और अनुशीलन', मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2013, पृ. 141
2. वही
3. दासगुप्त, एस. एन., 'भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-1', राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2011, पृ. 242.
4. मुसलगाँवकर, गजाननशास्त्री (व्या.), धर्मराजाध्वरीन्द्र (लेखक), 'वेदान्त-परिभाषा', चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2015, पृ. 107
5. मणि, रविकान्त (व्या.), वाचस्पति मिश्र (टीका.), ईश्वरकृष्ण (लेखक), 'सांख्यकारिका', हंस प्रकाशन, जयपुर, 2012, पृ. 106
6. वही
7. वही
8. वही, पृ. 107
9. षडंगी, सुधांशु कुमार(व्या.), शंकराचार्य (टीका.), ईश्वरकृष्ण (लेखक), 'सांख्यकारिका', चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2016, पृ. 42
10. वही, पृ. 44.
11. वही
12. शास्त्री, जगन्नाथ(अनु.), गौणपादाचार्य (टीका.), ईश्वरकृष्ण (लेखक), 'सांख्यकारिका', मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2014, पृ. 18
13. उप्रेति, थानेशचन्द्र (व्या.), माठराचार्य (टीका.), ईश्वरकृष्ण (लेखक), 'सांख्यकारिका', चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2011, पृ. 51
14. शास्त्री, पूर्वोक्त, पृ. 18
15. मणि, पूर्वोक्त, पृ. 110-111
16. श्रीमद्भगवद्गीता, 2/16
17. मणि, पूर्वोक्त, पृ. 113-114

Shodh Sarita

**An International Multidisciplinary Quarterly
Bilingual Peer Reviewed Refereed Research Journal**

• Vol. 7

• Issue 28

• October to December 2020



Editor in Chief

Dr. Vinay Kumar Sharma
D. Litt. – Gold Medalist



sanchar
Educational & Research Foundation

29.	भारत सरकार की राजकोषीय आय में सेवाकर का योगदान : एक अध्ययन	सोनम कनौजिया	144
30.	वैवाहिक विज्ञापनों का समाजशास्त्रीय अध्ययन	डॉ० मनोरंजन प्रसाद	148
31.	भारत में किसान आंदोलन तथा आचार्य नरेन्द्र देव	डॉ० श्यामा राय	151
32.	मध्ययुगीन साहित्य पर कबीर एवं रविदास का प्रभाव	डॉ० अनुभा पाण्डे रेखा कुमारी	154
33.	वर्क फ्रॉम होम : प्रासंगिकता एवं संदर्भ	डॉ० सुधारानी सिंह	157
34.	भूमंडलीकरण के पश्चात् भारत में लैंगिक एवं भाषायी पहचान की चुनौतियाँ	अभिषेक शर्मा	161
35.	भारत में संसदीय व्यवस्था और उसमें न्यायपालिका की स्थिति	डॉ० विकास यादव	165
36.	उत्तर प्रदेश में गठबन्धन की राजनीति : सन् 1990 से 2017 का अध्ययन	संतोष कुमार	169
37.	सांख्यदर्शन एवं अद्वैतवेदान्त की सृष्टि-प्रक्रिया : एक तुलनात्मक अध्ययन	मोहन सिंह भदौरिया	173
38.	परिषदीय प्राथमिक एवं उच्च प्राथमिक विद्यालयों में कार्यरत महिला व पुरुष अध्यापकों की दीक्षा एप्प के माध्यम से संचालित शिक्षक-प्रशिक्षण कार्यक्रमों के प्रति अभिरूचि का तुलनात्मक अध्ययन	डॉ० बृजराज सिंह	177
39.	पीली आंधी : तीन पीढ़ियों की संस्कृति	डॉ० नीता त्रिवेदी	185
40.	चंद्रकांता के उपन्यासों में नारी का जीवन संघर्ष	डॉ० आज़ाद सक्सेना	189
41.	राजस्थान राज्य में अनुसूचित जनजातियों की शैक्षणिक स्थिति	डॉ० एकता मीणा	193
42.	भारतीय बीमा उद्योग में निजी एवं सार्वजनिक बीमा कंपनियों की भूमिका	डॉ० सचिन गोयल डॉ० भोलानाथ जायसवाल	197

सांख्यदर्शन एवं अद्वैतवेदान्त की सृष्टि-प्रक्रिया : एक तुलनात्मक अध्ययन

मोहन सिंह भदौरिया*

शोध सारांश

मानव मस्तिष्क में सदैव जिज्ञासा का प्रस्फुटन होता रहता है। दर्शनशास्त्र का उद्भव एवं विकास भी जिज्ञासा का ही परिणाम है। दर्शनशास्त्र में मानव जीवन से सम्बद्ध अनेक जिज्ञासाओं पर विमर्श किया जाता है। इसी क्रम में 'सृष्टि' विषयक जिज्ञासा भी सम्मिलित है। सृष्टिशास्त्र दार्शनिक जगत् का महत्त्वपूर्ण तथ्य है, इसीलिये दार्शनिक चिन्तन में इसका अत्यधिक महत्त्व है। प्रस्तुत शोध आलेख 'सांख्यदर्शन एवं अद्वैतवेदान्त की सृष्टि-प्रक्रिया : एक तुलनात्मक अध्ययन' में सांख्यदर्शन एवं अद्वैतवेदान्त के परिप्रेक्ष्य में 'सृष्टि-प्रक्रिया' पर विमर्श किया गया है। इस शोध आलेख में तुलनात्मक शोध प्रविधि प्रयुक्त है। इस शोध आलेख का उद्देश्य 'सृष्टि-प्रक्रिया' का सांख्यदर्शन एवं अद्वैतवेदान्त की दृष्टि से तुलनात्मक रूप प्रस्तुत करना है। 'सृष्टि-प्रक्रिया' एक सुसंगत, सुव्यवस्थित एवं वैज्ञानिक प्रक्रिया है, यही कारण है कि वर्तमान समय में भी आधुनिक वैज्ञानिक इस 'सृष्टि-प्रक्रिया' के मूल कारण की खोज में सतत प्रयत्नशील हैं। विज्ञान की प्रभुता के इस वर्तमान युग में भी 'सृष्टि-प्रक्रिया' का विमर्श होना, इस शोध आलेख की प्रासंगिकता को प्रदर्शित करता है।

Keywords : सांख्यदर्शन, अद्वैतवेदान्त, सृष्टि-प्रक्रिया, प्रकृति, ब्रह्म, परिणाम एवं विवर्त।

प्रस्तावना : जिज्ञासा मानव मस्तिष्क का सहज स्वभाव है। इसी जिज्ञासु प्रवृत्ति ने मानव के विचार पक्ष को एक ऐसे मोड़ पर लाकर खड़ा कर दिया, जहाँ से उसके विचारों ने एक नया रूप धारण कर लिया। विचारों के इस नये रूप में मानव ने सोचना प्रारम्भ किया कि सृष्टि क्या है? इसका निर्माण कब, क्यों और कैसे हुआ? इसी जिज्ञासा के परिणाम स्वरूप ही दर्शनशास्त्र का उद्भव एवं विकास हुआ और यही कारण है कि दर्शनशास्त्र में 'सृष्टि' विषयक उपरोक्त जिज्ञासा प्रमुखतया सम्मिलित है। 'सृष्टिशास्त्र' का दार्शनिक चिन्तन में अतीव महत्त्वपूर्ण स्थान है। दर्शनशास्त्र में सृष्टि के उद्भव से सम्बन्धित मुख्य सिद्धान्त 'कार्यकारणवाद' है। इसी 'कार्यकारणवाद' के आधार पर ही प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय अपने-अपने सिद्धान्तानुसार 'सृष्टि-प्रक्रिया' की व्याख्या प्रस्तुत करता है। इसी श्रृंखला में महर्षि कपिल प्रणीत सांख्यदर्शन एवं शंकराचार्य प्रणीत अद्वैतवेदान्त भी शामिल हैं। इन दोनों दर्शनों का भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में अतीव महत्त्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि ये दोनों ही दर्शन विद्वत् समाज में समादृत हैं। इन दोनों ही दर्शनों का एक और मुख्य पहलू यह है कि, ये दोनों एक दूसरे के प्रबल प्रतिद्वन्द्वी के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। इन दोनों दर्शनों में वर्णित 'सृष्टि-प्रक्रिया' अत्यन्त ही सुसंगत, सुव्यवस्थित एवं वैज्ञानिक है, परन्तु दोनों में

अत्यधिक भिन्नता भी है। उस भिन्नता को समझने के लिये दोनों की तुलना आवश्यक है।

सांख्यदर्शन एवं अद्वैतवेदान्त की सृष्टि-प्रक्रिया की तुलना : सांख्यदर्शन के अनुसार प्रकृति एवं पुरुष के संयोग के पश्चात्, प्रकृति के कार्य रूप महत् से लेकर पञ्च महाभूत पर्यन्त सृष्टि का क्रम चलता है। इसी प्रकार अद्वैतवेदान्त के अनुसार ब्रह्म के अज्ञान से उपहित होने पश्चात्, 'ईश्वर' की उपाधि प्राप्त उस ब्रह्म के कार्य रूप अपञ्चीकृत आकाशादि सूक्ष्म भूतों से लेकर पञ्चीकृत आकाशादि पञ्च महाभूत पर्यन्त सृष्टि का क्रम चलता है। तत्पश्चात्, दोनों ही दर्शनों के अनुसार पञ्च महाभूतों द्वारा स्थूल या भौतिक दृश्य जगत् की रचना होती है। सृष्टि के इसक्रम तथा इससे सम्बद्ध सभी तत्त्वों एवं तथ्यों के आधार पर, कुछ प्रमुख बिन्दुओं द्वारा दोनों दर्शनों की 'सृष्टि-प्रक्रिया' की तुलना अग्रलिखित प्रकार से की जा सकती है -

सृष्टि-प्रक्रिया के पूर्व विद्यमान आदि तत्त्व : आदितत्त्व के परिप्रेक्ष्य में तुलना इस प्रकार की जा सकती है कि सांख्यदर्शन, सृष्टि-प्रक्रिया के पूर्व में विद्यमान आदि तत्त्व के रूप में दो मूल तत्त्वों 'प्रकृति' एवं 'पुरुष' को स्वीकार करता है, जिनमें प्रकृति जड़ तथा परिणामिनी है एवं पुरुष चेतन तथा अपरिणामी है। चूँकि प्रकृति परिणामिनी है, इसलिये उसके परिणाम स्वरूप

*शोध छात्र - भारतीय दर्शन विभाग, सनातन धर्म एवं भारतीय ज्ञान अध्ययनशाला, साँची बौद्ध-भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय, बारला, रायसेन (म.प्र.)

‘सृष्टि—प्रक्रिया’ के क्रम में तेईसतत्त्व और आविर्भूत होते हैं। इस प्रकार सांख्यदर्शन में कुल पच्चीस तत्त्व स्वीकृत हैं।¹ जबकि अद्वैतवेदान्त सृष्टि—प्रक्रिया के पूर्व में केवल एकही तत्त्व ‘ब्रह्म’ को स्वीकार करता है। उसके अनुसार सृष्टि का आदि और अवसान बिन्दु ब्रह्मही है। इस सम्बन्ध में तैत्तिरीयोपनिषद् की उक्ति द्रष्टव्य है — “यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।”² अर्थात् निश्चय ही ये सभी प्रत्यक्ष दिखने वाले प्राणी, जिससे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके सहारे जीवित रहते हैं तथा इस लोक से प्रयाण करते हुये जिसमें प्रवेश करते हैं, उसे तत्त्वज्ञान से जानने की इच्छा करो, वही ‘ब्रह्म’ है। अद्वैतवेदान्त का भी यही मत है।

सृष्टि का प्रयोजन : सृष्टि के प्रयोजन के परिच्छेद में तुलनात्मक दृष्टि इस प्रकार हो सकती है कि सांख्यदर्शन के अनुसार पुरुष एवं प्रकृति के प्रयोजन की सिद्धि के लिये सृष्टि होती है। पुरुष का प्रयोजन प्रकृति का दर्शन है और प्रकृति का प्रयोजन पुरुष का कैवल्य है। इसी हेतु से अंधे एवं लंगड़े की भांति प्रकृति एवं पुरुष का संयोग होता है तथा इसी संयोग से सृष्टि का आरम्भ होता है।³ जबकि सृष्टि के प्रायोजन के विषय में अद्वैतवेदान्त का मानना है कि सृष्टि का कोई विशेष प्रयोजन नहीं है, अपितु ईश्वर केवल लीला मात्र के लिए ही सृष्टि करता है। महर्षि वादरायण कृत सूत्र “लोकवत्तु लीला कैवल्यम्”⁴ से यह बात पूर्णतः पुष्ट हो जाती है।

सृष्टि का कारण : कार्यकारण की दृष्टि से तुलना इस प्रकार हो सकती है कि सांख्यदर्शन की प्रकृति पुरुष के संयोग को निमित्त बनाकर स्वयं सृष्टि का उपादान कारण बनती है। यह प्रकृति त्रिगुणात्मक है; इस सम्बन्ध में सांख्यसूत्र की उक्ति द्रष्टव्य है — “सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः”⁵ अर्थात् सत्त्व, रजस् एवं तमस् इन्हीं तीनों गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है। इन गुणों से अलग प्रकृति कुछ भी नहीं, बल्कि ये तीनों गुण ही प्रकृति कहलाते हैं। इन गुणों में सत्त्व; लघु, प्रकाशक तथा इष्ट होता है, रजस्; उत्तेजक तथा चञ्चल होता है एवं तमस्; भारी तथा आवरक होता है।⁶ जब प्रकृति एवं पुरुष का संयोग होता है, तो रजो गुण की पूर्व से ही उत्तेजक तथा चञ्चल प्रवृत्ति में, पुरुष की चेतना की सन्निधि द्वारा और अधिक वृद्धि हो जाती है। इसके परिणाम स्वरूप गुणों में विक्षोभ उत्पन्न होने लगता है और इन गुणों की साम्यावस्था भंग होने लगती है। गुणों की साम्यावस्था भंग होने के कारण प्रकृति में विकार उत्पन्न होने लगते हैं और यहीं से सृष्टि—प्रक्रिया का आरम्भ होता है। इसी अवस्था को प्रकृति का विरूप परिणाम कहा जाता है। जबकि अद्वैतवेदान्त के अनुसार विशुद्ध चैतन्य ‘ब्रह्म’ अज्ञान से उपहित होकर ‘ईश्वर’ की उपाधि को प्राप्त करता और यह ‘ईश्वर’ ही सृष्टि का कारण होता है।⁷ यह अपनी चैतन्यता की प्रधानता से सृष्टि का निमित्त कारण है तथा अपनी उपाधि की प्रधानता से सृष्टि का उपादान कारण है।

जैसे —मकड़ी अपने जाले के प्रति अपनी चैतन्यता की प्रधानता से निमित्त तथा अपने शरीर की प्रधानता से उपादान कारण होती है।⁸ इस ईश्वर के भी सांख्यदर्शन की प्रकृति की भांति ही त्रिगुणात्मक होने के कारण, इससे उत्पन्न आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी यह पाँचों सूक्ष्म भूत भी सत्त्व, रजस् एवं तमस् इन तीनों गुणों से युक्त होते हैं। यही कारण है कि सृष्टि के विभिन्न तत्त्व इन्हीं आकाशादि के सत्त्वादि गुणों से उत्पन्न होते हैं।

सृष्टि के तत्त्व : सृष्टि के तत्त्वों की पृथक्—पृथक् तुलना उनकी उत्पत्ति एवं लक्षणों के आधार पर निम्नलिखित प्रकार से की जा सकती है —

महत् — सांख्यदर्शन के अनुसार सृष्टि के विकास के क्रम में सर्वप्रथम अव्यक्त प्रकृति से महत्तत्त्व (बुद्धि) आविर्भूत होता है।⁹ जबकि अद्वैतवेदान्त के अनुसार बुद्धि; आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी; इन सूक्ष्म भूतों के सात्त्विक अंश के सम्मिलित रूप से उत्पन्न होती है।¹² सांख्यदर्शन एवं अद्वैतवेदान्त दोनों के अनुसार ही बुद्धि को अध्यवसायात्मिका अन्तःकरण वृत्ति के रूप में स्वीकार किया गया है।¹³ निश्चय को अध्यवसाय कहा जाता है। यह वृक्ष है या यह गाय है, इस प्रकार का निश्चय प्रत्येक पदार्थ में होता है, जिसके द्वारा यह निश्चय होता है, वही बुद्धि है।

अहंकार — सांख्यदर्शन के अनुसार सृष्टि के क्रम में द्वितीय तत्त्व अहंकार है, जो कि महत्तत्त्व का कार्य है।¹⁴ जबकि अद्वैतवेदान्त अहंकार को स्वतन्त्र रूप में स्वीकार न करके, बुद्धि एवं मन के अन्तर्गत ही इसका अन्तर्भाव मानता है।¹⁵ सांख्यदर्शन के अनुसार अभिमान ही अहंकार है।¹⁶ ‘मैं’ और ‘मेरा’ यह भाव ही अभिमान कहलाता है। त्रिगुणों के प्रभाव से यह अहंकार तीन प्रकार का होता है। सत्त्व गुण की प्रधानता से सात्त्विक; जिसे ‘वैकृत’ कहते हैं, रजो गुण की प्रधानता से राजसिक; जो ‘तैजस’ कहलाता है तथा तमो गुण की प्रधानता से तामसिक; जिसे ‘भूतादि’ के नाम से जाना जाता है। अहंकार से दो प्रकार की सृष्टि होती है; एकादशेन्द्रियाँ वैकृत अहंकार से तथा पञ्च तन्मात्रायें भूतादि अहंकार से आविर्भूत होती हैं। तैजस अहंकार उभय रूप से दोनों में सहायक होता है।¹⁷

मन — सांख्यदर्शन के अनुसार मन वैकृत अहंकार का कार्य है, जबकि अद्वैतवेदान्त मन को आकाशादि पाँच सूक्ष्म भूतों के सात्त्विक अंश के सम्मिलित रूप से उत्पन्न मानता है।¹⁸ सांख्यदर्शन मन को संकल्प करने वाला तथा उभयेंद्रिय के रूप में स्वीकार करता है।¹⁹ जबकि अद्वैतवेदान्त मन को केवल संकल्प—विकल्प करने वाली अन्तःकरण वृत्ति मानता है।²⁰

पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ — सांख्यदर्शन एवं अद्वैतवेदान्त दोनों के अनुसार श्रोत, त्वक्, चक्षु, जिह्वा एवं घ्राण ये ज्ञानेन्द्रियाँ हैं।²¹ सांख्यदर्शन के अनुसार यह वैकृत अहंकार के कार्य हैं, जबकि अद्वैतवेदान्त के अनुसार यह आकाशादि सूक्ष्म भूतों के सात्त्विक

अंश से पृथक्-पृथक् क्रम में उत्पन्न होती हैं।²² जैसे —आकाश के सात्विक अंश से श्रोत, वायु के सात्विक अंश से त्वक्, अग्नि के सात्विक अंश से चक्षु, जल के सात्विक अंश से जिह्वा एवं पृथ्वी के सात्विक अंश से घ्राणउत्पन्न होती है। ज्ञान उत्पन्न करने के कारण इन्हें बुद्धि इन्द्रियाँ भी कहा जाता है। इनमें चक्षु का व्यापार देखना, श्रोत का सुनना, घ्राण का सूँघना, जिह्वा का स्वाद लेना तथा त्वचा का व्यापार स्पर्श करना है।²³

पञ्च कर्मेन्द्रियाँ — सांख्यदर्शन एवं अद्वैतवेदान्त दोनों के अनुसार वाक्, पाणि, पाद, पायु एवं उपस्थ यह पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं।²⁴ सांख्यदर्शन के अनुसार यह वैकृत अहंकार से आविर्भूत होती हैं, जबकि अद्वैतवेदान्त के अनुसार यह आकाशादि पाँचों सूक्ष्म भूतों के राजसिक अंश से पृथक्-पृथक् क्रम में उत्पन्न होती हैं।²⁵ जैसे — आकाश के राजसिक अंश से वाक्, वायु के राजसिक अंश से पाणि, अग्नि के राजसिक अंश से पाद, जल के राजसिक अंश से पायु एवं पृथ्वी के राजसिक अंश से उपस्थ की उत्पत्ति होती है। इनमें वाक् का व्यापार बोलना, पाणि का ग्रहण करना, पाद का चलना, पायु का मलोत्सर्ग एवं उपस्थ का व्यापार आनन्द है।²⁶

पञ्च तन्मात्राये — सांख्यदर्शन के अनुसार शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध; ये पञ्च तन्मात्राये हैं तथा यह भूतादि अहंकार का कार्य हैं।²⁷ जबकि अद्वैतवेदान्त में आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी इन सूक्ष्म भूतों को तन्मात्र कहा जाता है और ये क्रमशः ईश्वर से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी उत्पन्न होते हैं।²⁸ अद्वैतवेदान्त में तो इन शब्दादि को पञ्च महाभूतों के गुण बताते हुये कहा गया है कि पञ्चीकरण-प्रक्रिया के पश्चात् ही आकाश में उसका शब्द गुण अभिव्यक्त होता है। वायु में शब्द एवं स्पर्श, अग्नि में शब्द, स्पर्श एवं रूप, जल में शब्द, स्पर्श, रूप एवं रस तथा पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध अभिव्यक्त होते हैं।²⁹

पञ्च महाभूत —सांख्यदर्शन एवं अद्वैतवेदान्त दोनोंके ही अनुसार आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी ये पञ्च महाभूत कहलाते हैं। सांख्यदर्शन के अनुसार ये महाभूतशब्दादि तन्मात्राओं से क्रमशः आविर्भूत होते हैं।³⁰ जैसे —शब्द से आकाश, स्पर्श से वायु, रूप से अग्नि, रस से जल एवं गन्ध से पृथ्वी। जबकि अद्वैतवेदान्त के अनुसार यही महाभूत पञ्चीकरण-प्रक्रिया द्वारा आकाशादि अपञ्चीकृत सूक्ष्म भूतों से उत्पन्न होते हैं।³¹

पञ्च प्राण — सांख्यदर्शन के अनुसार प्राण, अपान, व्यान, उदान एवं सामान ये पाँच प्राण हैं और ये समस्त करणों की सामान्य वृत्ति हैं।³² अद्वैतवेदान्त के अनुसार भीयही पाँच प्रकार के प्राण हैं और यह आकाशादि पाँचों के राजसिक अंश के सम्मिलित रूप से उत्पन्न होते हैं। इनमें ऊर्ध्वगमन करने वाले तथा नासिकाग्र में स्थान वाले वायु का नाम प्राण है। अधः गमन करने वाले तथा पायु आदि में स्थान वाले वायु का नाम अपान है। चारों ओर गमन करने वाले

तथा सम्पूर्ण शरीर में रहने वाले वायु का नाम व्यान है। ऊर्ध्व गमन एवं उत्क्रमण करने वाले तथा कण्ठ में स्थान वाले वायु का नाम उदान है एवं शरीर के अन्दर गये हुये, खाये-पिये हुये अन्न-जलादि का समीकरण अर्थात् भोजन को शरीरगत रस, रक्त आदि धातुओं के रूप में परिणित करने वाले वायु का नाम समान है।³³

लिङ्ग या सूक्ष्म शरीर : सांख्यदर्शन, तीन अन्तःकरण (बुद्धि, अहंकार, मन), पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत, त्वक्, चक्षु, जिह्वा एवं घ्राण), पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ) तथा पाँच तन्मात्राये (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) इन अद्वारह तत्त्वों को सूक्ष्म शरीर के रूप में स्वीकार करता है।³⁴ जबकि अद्वैतवेदान्त के अनुसार सूक्ष्म शरीर सत्रह अवयव वाला लिंग शरीर है। इन सत्रह अवयवों में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत, त्वक्, चक्षु, जिह्वा एवं घ्राण), बुद्धि, मन, पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ) एवं पाँच प्राण (प्राण, अपान, व्यान, उदान, सामान) शामिल हैं।³⁵

सृष्टि के प्रकार : सांख्यदर्शन के अनुसार सूक्ष्म या लिंग सृष्टि, बौद्धिक या भाव सृष्टि एवं भौतिक सृष्टि के रूप में तीन प्रकार की सृष्टि होती हैं।³⁶ अद्वैतवेदान्त में भी कारण सृष्टि, सूक्ष्म सृष्टि एवं स्थूल सृष्टि के भेद से तीन प्रकार की सृष्टि स्वीकार्य हैं।³⁷

सृष्टि का सत्यत्व : सृष्टि के सत्यत्व के प्रश्न पर सांख्यदर्शन एवं अद्वैतवेदान्त के अभिमत को तुलनात्मक रूप से इस भाँति प्रस्तुत किया जा सकता है कि जहाँ सांख्य एक वस्तुवादी दर्शन के रूप में सृष्टि को सत्य मानता है, वहीं अद्वैतवेदान्त एक प्रत्ययवादी दर्शन के रूप में सृष्टि को परमार्थतः सत्य नहीं मानता, बल्कि उसे ब्रह्म के विवर्त के रूप में सदसदनिर्वचनीय मानते हुये केवल व्यावहारिक रूप से ही सत्य मानता है।

प्रलय : सांख्यदर्शन के अनुसार यह सृष्टि जिस क्रम से आविर्भूत होती है उसी क्रम से अपने कारण में तिरोभूत हो जाती है। इसी को क्रम-संकोच, सरूप परिणाम, प्रतिसर्ग एवं प्रलय आदि नाम से जाना जाता है। इस प्रलयावस्था में मूल प्रकृति त्रिगुणों की साम्यावस्था में अवस्थित हो जाती है और इस प्रकार पुनः प्रकृति एवं पुरुष दो मूल तत्त्व ही शेष रह जाते हैं। अद्वैतवेदान्त के अनुसार जिस प्रकार सृष्टि का कारण ईश्वर है, उसी प्रकार प्रलय का कारण भी ईश्वर ही है। जैसे — मकड़ी का समेटा हुआ जाल शरीरवत् होकर उसी में विलीन हो जाता है, उसी प्रकार यह दृश्य जगत् भी सिमट कर अपने कारण अज्ञान से उपहित ब्रह्म या ईश्वर में लीन हो जाता है। तत्पश्चात् अज्ञान के असत् होने के कारण वह भी नहीं रह जाता है, तब शुद्ध अनुपहित ब्रह्म ही अपने विशुद्ध चैतन्य रूप में शेष रह जाता है।

उपसंहार : सांख्यदर्शन एवं अद्वैतवेदान्त की सृष्टि-प्रक्रिया के तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् यह दृष्टि गोचर होता है कि दोनों ही दर्शनों की सृष्टि से सम्बन्धित तथ्यों में कुछ तो सामान्यता है

तथा कुछ भिन्नता भी है। जैसे – दोनों की सृष्टि-प्रक्रिया का उपादान कारण 'एक' तथा 'त्रिगुणात्मक' होने से तो दोनों में समानता है, किन्तु जड़ एवं चेतन के भेद से भिन्नता भी है। दोनों की सृष्टि के प्रयोजन एवं सृष्टि-प्रक्रिया भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु तत्त्वों की स्वीकृति, उत्पत्ति एवं कार्यों की दृष्टि से समानता भी है एवं भिन्नता भी है। जैसे – सांख्यदर्शन तीन अन्तःकरण, बुद्धि, अहंकार एवं मन को स्वीकार करता है, जबकि अद्वैतवेदान्त केवल दो अन्तःकरण, बुद्धि एवं मन को स्वीकार करता है तथा चित्त एवं अहंकार को इन्हीं बुद्धि एवं मन में अन्तर्भूत मानता है। इस प्रकार बुद्धि एवं मन की स्वीकृति पर समानता तथा अहंकार एवं चित्त की स्वीकृति पर भिन्नता है। सांख्यदर्शन में बुद्धि प्रकृति के कार्य एवं अहंकार के कारण के रूप में स्वीकृत है, जबकि अद्वैतवेदान्त में बुद्धि, आकाशादि सूक्ष्म भूतों के सात्विक अंश के सम्मिलित रूप का कार्य मात्र है। पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च प्राण, पञ्च महाभूत की स्वीकृति के भेद से दोनों में सामानता है, परन्तु उत्पत्ति स्थल के भेद से भिन्नता है। पञ्च तन्मात्राओं की संख्या के प्रसंग में दोनों में समानता है, लेकिन तत्त्वों की दृष्टि से भिन्नता है, क्योंकि सांख्यदर्शन शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध, इनको तन्मात्रा कहता है, वहीं अद्वैतवेदान्त आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी इन सूक्ष्म भूतों को तन्मात्रा कहता है। इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर की स्वीकृति के परिप्रेक्ष्य में समानता है, परन्तु तत्त्वों की संख्या के आधार पर भिन्नता है। इसी प्रकार सृष्टि के प्रकार भेद से भिन्नता तथा संख्या के भेद से समानता है।

इस प्रकार दोनों दर्शनों की सृष्टि-प्रक्रिया का, समानता और भिन्नता की दृष्टि से अवलोकन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि दोनों ही दर्शनों की सृष्टि-प्रक्रिया अपने-अपने स्थान पर सुव्यवस्थित, सुसंगत एवं वैज्ञानिक है, परन्तु आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में अवलोकन करने पर, यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि अद्वैतवेदान्त की सृष्टि-प्रक्रिया का उपादान कारण 'चैतन्य' होने तथा सृष्टि को परमार्थतः सत्य न मानकर, केवल व्यावहारिक रूप में ही सत्य मानने के कारण यह आधुनिक विज्ञान की सृष्टि-प्रक्रिया के समीप प्रतीत नहीं होती, जबकि सांख्यदर्शन की सृष्टि-प्रक्रिया का उपादान कारण 'जड़' होने तथा सृष्टि को वास्तविक रूप में सत्य मानने के कारण, यह आधुनिक विज्ञान की सृष्टि-प्रक्रिया के अत्यन्त समीप प्रतीत होती है, क्योंकि आधुनिक विज्ञान भी जड़ शक्ति से ही सृष्टि की उत्पत्ति को स्वीकार करता है। इतना ही नहीं, अपितु यह विकासवाद (परिणामवाद) के रूप में, सांख्यदर्शन के समान ही सत्कार्यवाद को भी स्वीकार करता है। अतः इस दृष्टि से वर्तमान समय में सांख्यदर्शन की 'सृष्टि-प्रक्रिया', अद्वैतवेदान्त की 'सृष्टि-प्रक्रिया' से अधिक प्रासंगिक प्रतीत होती है।

सन्दर्भ :

1. सांख्यकारिका – 22.
2. वेदान्तसार – 19.
3. सांख्यकारिका – 3.
4. तैत्तिरीयोपनिषद् – 3/1.
5. सांख्यकारिका – 21.
6. ब्रह्मसूत्र – 2/1/33.
7. सांख्यसूत्र – 1/61.
8. सांख्यकारिका – 13.
9. वेदान्तसार – 12.
10. वही – 18.
11. सांख्यकारिका – 22.
12. वेदान्तसार – 20.
13. सांख्यकारिका – 23, विवेकचूडामणि – 95, पञ्चदशी – 1/20, वेदान्तसार – 20.
14. सांख्यकारिका – 22.
15. वेदान्तसार – 20.
16. सांख्यकारिका – 24.
17. वही – 25.
18. वेदान्तसार – 20.
19. सांख्यकारिका – 27.
20. विवेकचूडामणि – 95, पञ्चदशी – 1/20, वेदान्तसार – 20.
21. सांख्यकारिका – 26, विवेकचूडामणि – 94, वेदान्तसार – 20.
22. पञ्चदशी – 1/19, वेदान्तसार – 20.
23. सांख्यकारिका – 28.
24. वही – 26, विवेकचूडामणि – 94.
25. पञ्चदशी – 1/21, वेदान्तसार – 22.
26. सांख्यकारिका – 28.
27. वही – 25.
28. वेदान्तसार – 19.
29. वही – 30.
30. गौडपादभाष्य, सांख्यकारिका – 22.
31. पञ्चदशी – 1/27, वेदान्तसार – 29.
32. सांख्यकारिका – 29.
33. विवेकचूडामणि – 97, पञ्चदशी – 1/22, वेदान्तसार – 22, 24.
34. सांख्यकारिका – 40.
35. पञ्चदशी – 1/23, वेदान्तसार – 20.
36. गौडपादभाष्य, सांख्यकारिका – 54.
37. वेदान्तसार – 35.

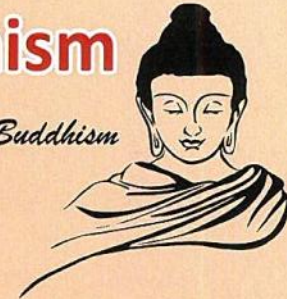




National Conference on Historical Perspectives on Early Buddhism

..... Reviving Early Buddhism

26th - 27th November, 2019



Certificate

This is to certify that

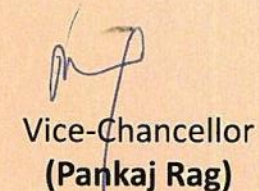
Prof./Dr./Mr./Mrs./Ms. Vishan Singh Bhadauriya..... has actively participated/chaired the session and delivered his/her Talk/Research Paper as a Participant/ Delegate/Resource Person on मध्य एवं बौद्ध दर्शन में दुःख की अवधारणा : एक तुलनात्मक अध्ययन..... in the **National Conference on Historical Perspectives on Early Buddhism** organized by School of Buddhist Philosophy & School of International Buddhist Studies, **Sanchi University of Buddhist-Indic Studies**, Barla, Madhya Pradesh from 26th to 27th November, 2019.


Co-Ordinator

(Dr. Mukesh Kumar Verma)


Registrar

(Dr. Pragya Awasthi)


Vice-Chancellor
(Pankaj Rag)

65 वां राष्ट्रीय अधिवेशन

दिनांक: 17 से 21 अगस्त, 2021



www.abdpindia.net



अखिल भारतीय दर्शन-परिषद् (A member of FISP)



प्रमाण-पत्र / Certificate

◆ केन्द्रीय विषय - सर्वोदयी चिन्तन परम्परा ◆

प्रमाणित किया जाता है कि श्री/सुश्री/श्रीमती/डॉ./प्रो. मोहन सिंह भदोरिया

..... सांख्यी ने महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र) के दर्शन एवं संस्कृति विभाग द्वारा आयोजित पंच दिवसीय राष्ट्रीय अधिवेशन में सहभागिता की तथा ऑनलाइन दार्शनिक विमर्श किया। संमोक्षी /

व्याख्यानमाला / विभागीय पत्र वाचन में प्रस्तुत आपके शोध-पत्र का शीर्षक था सांख्यिकीय अभिमत गुणत्रयः

..... मानव जीवन एवं व्यवहार के मूल ।



ज्योति खट्वा

महामंत्री
अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्

Jyoti

आयोजन सचिव
65 वां अधिवेशन

